पू० श्री अमोलक ऋषिजी महाराज स्मारक ग्रन्थमाला पुष्प संख्या ५७

ध्यान–कल्पतरु



लेखकः—

श्रीमज्जैनाचार्य शास्त्रोद्धारक जैन दिवाकर बाल–ब्रह्मचारी

पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज

संयोजक —

पंडित मुनि श्री कल्याणऋषिजी महाराज



वीर संवत्
२४८३
अमोलाब्द २२

तृतीय
आवृत्ति
आधा मूल्य १।)

विक्रम संवत्
२०१४
सितम्बर
१९५७ ईस्वी.

प्रकाशक -
श्री अमोल जैन ज्ञानालय
गली न. २ धूलिया (प खा.)

प्रथम संस्करण १२५० प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण १५०० प्रतियाँ
तृतीय संस्करण १००० प्रतियाँ

मुद्रक—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
चौमुखापुल, रतलाम.

श्री अमोल जैन ज्ञानालय-धूलिया (प० खा०)

हमारी इस प्रकाशन-संस्था को आर्थिक सहायता देने वाले सज्जनों की शुभ नामावली

हमारे सदस्य

जन्म दाता:—

१	श्रीमान् राजाबहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी	हैदराबाद
२	,, प्रेमराजजी चन्दूलालजी छाजेड़	,,
३	,, मोतीलालजी गोविन्दरामजी श्रीश्रीमाल	धूलिया
४	,, हीरालालजी लालचन्दजी धोका	यादगिरि
५	,, केवलचन्दजी पन्नालालजी बोरा	बेंगलोर
६	,, सरदारमलजी नवलचन्दजी पु गलिया	नागपुर

स्तम्भ:—

७	श्रीमान् जैन श्रावक सघ	बार्शी
८	,, दलीचन्दजी चुन्नीलालजी बोरा	रायचूर
९	,, शम्भूमलजी गंगारामजी मूत्था	बेंगलोर
१०	,, अगरचन्दजी मानमलजी चौरडिया	मद्रास
११	,, कुन्दनमलजी लू कड़ की सुपुत्री श्री सायरबाई	बेंगलोर
१२	,, नानचदजी भगवानदासजी दूगड़	घोड़नदी
१३	,, बस्तीमलजी हस्तीमलजी मूत्था	रायचूर
१४	,, तेजराजजी उदयराजजी रूनवाल	,,
१५	,, मुकनचन्दजी कुशलराजजी भंडारी	,,
१६	,, नेमीचन्दजी शिवराजजी गोलेच्छा	वेलूर
१७	,, पुखराजजी सम्पतराजजी धोका	यादगिरि
१८	,, इन्दरचदजी गेलड़ा	मद्रास
१९	,, विरदीचन्दजी लालचन्दजी मरलेछा	,,
२०	,, जसराजजी बोहरा की धर्मपत्नी श्री केशरबाई	सुरापुर
२१	,, चम्पालालजी लोढा की पत्नी श्रमती घीसीबाई	सिकदराबाद
२२	,, सज्जनराजजी मूथा की धर्मपत्नी श्री उमरावबाई	आलदूर (म.)
२३	,, चम्पालालजी पगारिया	मद्रास
२४	,, अमोल जैन स्था० सहायक समिति	पूना
२५	,, गिरधारीलालजी बालमुकनजी लू कड़	बोरद

संरक्षक:—

२६	श्रीमान्	किसनलालजी बच्छावत मूथा की पत्नी गिलखीबाई	रायचूर
२७	,,	हसराजजी मरलेचा की धर्मपत्नी मेहताबबाई	आलंदूर (म)
२८	,,	जयवतराजजी भँवरलालजी चौरडिया	मद्रास
२९	,,	निहालचन्दजी मगराजजी साकला	वेलूर
३०	,,	लाला रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी पार्वतीबाई	हैदराबाद
३१	,,	पुखराजजी लूकड़ की धर्मपत्नी गजराबाई	बैंगलोर
३२	,,	किशनलालजी फूलचन्दजी लूणिया	,,
३३	,,	मिश्रीलालजी कात्रेला की धर्मपत्नी मिश्रीबाई	,,
३४	,,	उमेदमलजी गोलेच्छा की सुपुत्री मिश्रीबाई	हैदराबाद
३५	,,	गाढमलजी अमराजजी बाठिया	सिकदराबाद
३६	,,	मुल्तानमलजी चन्दनमलजी साकला	,,
३७	,,	जेठालालजी रामजी के सुपुत्र गुलाबचदजी (स्व० माता जवलबाई की स्मृति में)	,,
३८	,,	गुलाबचन्दजी चौथमलजी बोहरा	रायचूर
३९	,,	जसराजजी शातिलालजी बोहरा	,,
४०	,,	दौलतरामजी अमोलकचन्दजी घोका	यादगिरि
४१	,,	मांगीलालजी भण्डारी	मद्रास
४२	,,	हीराचन्दजी खिवराजजी चौरडिया	,,
४३	,,	किशनलालजी रूपचन्दजी लूनिया	,,
४४	,,	मांगीलालजी बसीलालजी कोटड़िया	,,
४५	,,	मोहनलालजी प्रकाशमलजी दूगड	,,
४६	,,	पुखराजजी मीठालालजी बोहरा पेरम्बूर	,,
४७	,,	राजमलजी शान्तिलालजी पोखरणा ,,	,,
४८	,,	ऋषभचन्दजी उदयचन्दजी कोठारी ,,	,,
४९	,,	आर जेतारामजी कोठारी ,,	,,
५०	,,	जवानमलजी सुराणा की धर्मपत्नी मायाबाई आलन्दूर	,,
५१	,,	मिश्रीलालजी राका की धर्मपत्नी मिश्रीबाई पुदूपेठ	,,
५२	,,	माणकचदजी चतुर की धर्मपत्नी रतनबाई	वेलूर
५३	,,	बोरीदासजी पोरवाल की धर्मपत्नी पानीबाई	बैंगलोर
५४	,,	एम० कन्हैयालाल एन्ड ब्रदर्स समदडिया	,,
५५	,,	हीराचन्दजी साखला की धर्मपत्नी भूरीबाई	,,
५६	,,	निहालचन्दजी घेवरचन्दजी भटेवरा	वेलूर
५७	,,	विनयचन्दजी विजयराजजी भटेवरा	,,
५८	,,	गुलाबचन्दजी केवलचन्दजी भटेवरा	,,
५९	,,	गुमानी बहिन	,,
६०	,,	रामचन्द्रजी बाठिया की धर्मपत्नी पानीबाई	,,
६१	,,	बींजराजजी धाड़ीवाल की धर्मपत्नी मिश्रीबाई	त्रिवेल्लूर

६२	श्रीमान	सम्पतराज एन्ड कम्पनी	तिरपातूर
६३	,,	आशकरणजी चौरड़िया की धर्मपत्नी केमरबाई	उलदूरपेठ
६४	,,	जुगराजजी खिंवराजजी केवलचन्दजी बरमेचा	ओपेरमपूर
६५	,,	नवलमलजी शम्भूमलजी चौरड़िया	मद्रास
६६	,,	मिश्रीलालजी पारसमलजी कात्रेला	बैंगलोर
६७	,,	केशरमलजी घींसूलालजी कटारिया	,,
६८	,,	मुल्तानमलजी चन्दनमलजी गरिया	,,
६९	,,	चुन्नीलालजी की ध० प० झूमीबाई	,,
७०	,,	अचलदासजी हसराजजी कह्लाड	सिधनूर
७१	,,	एन० शान्तिलालजी बलदोटा	पूना
७२	,,	धोंडीरामजी की धर्मपत्नी रगूबाई	निफाड
७३	,,	जुगराजजी मूथा की धर्मपत्नी पताशीबाई	काठपाडी
७४	,,	डूंगरमलजी अनराजजी भीकमचन्दजी भवरलालजी सुराणा	मद्रास
७५	,,	मिश्रीलालजी बोरा की धर्मपत्नी नेनीबाई	बैंगलोर
७६	,,	केवलचन्दजी बोरा की धर्मपत्नी पार्वतीबाई	,,
७७	,,	सूआलालजी शकरलालजी जैन	माम्फलम्-मद्रास
७८	,,	वक्तावरमलजी गादिया की धर्मपत्नी गगाबाई	,,
७९	,,	अमरचन्दजी मरलेचा की धर्मपत्नी चौथीबाई	पल्लावरम्-मद्रास
८०	,,	गोविन्दराम मोहूराम ट्रस्ट के सेक्रेटरी श्री दीपचदजी सचेती	धूलिया
८१	,,	स्व० रूपचदजी मसाली की धर्मपत्नी श्री जतनबाई	फत्तेपुर
८२	,,	(स्व० श्री अनराजजी जवाहरमलजी मँडलेचा के स्मरणार्थ) श्रीमान् बसीलालजी मेघराजजी मडलेचा	फत्तेपुर
८३	,,	हीरालालजी मोतीलालजी भलगट	गुलबर्गा
८४	,,	भिकचदजी लालचदजी बूरड (महावीर स्टोर)	पिंपलगाँव (बसत)
८५	,,	मुलचदजी माणकचदजी चोपड़ा (साकोरा वाले)	,, ,,
८६	,,	स्व० लच्छीरामजी भडारी की धर्मपत्नी श्रीमती तुलसाबाई	नान्दुड़ी (नासिक)



प्रस्तावना

[प्रथमावृत्ति की]

मोक्षः कर्मक्षयादेव, स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः ।
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि, तस्मात्तद्धितमात्मनः ॥

इस जगत् के निवासी सभी जीव एकान्त सुख चाहते हैं। ऐसा सुख मोक्ष में है। इसीलिए प्राय सभी धर्मावलम्बी (भिन्न-भिन्न मतानुयायी) अपने अपने धार्मिक-कार्यों का अन्तिम फल मोक्ष-प्राप्ति बतलाते हैं। साथ ही मोक्ष के नाम की अलग-अलग स्थापना करके फिर वहाँ तक पहुँचने के लिए प्रयत्न-शील रहते हैं।

अब सोचना यह है, कि वह दु खरहित एकान्त सुखप्रदायक मोक्ष कैसे प्राप्त होता है? ऊपर के श्लोक में बताया गया है कि मोक्ष कर्मों के क्षय से मिलता है। कर्मों का क्षय कैसे हो? यह बात सम्यग्ज्ञान से मालूम होती है। सम्यक्त्व या सम्यग्ज्ञान ध्यान से पैदा होता है। ध्यान का अर्थ है-विचार। विचार करते-करते ज्ञान पैदा होता ही है। योगवाशिष्ठ नामक ग्रन्थ में तो विचार को ही ज्ञान कहा गया है— "विचार परम ज्ञानम् ॥" अर्थात् विचार ही परम ज्ञान है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि एकान्त सुख का मूल-कारण ध्यान है। ध्यान का स्वरूप समझने की दृष्टि से इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इस में शुभ, अशुभ, शुद्ध, अशुद्ध ध्यान का विवेचन करके अशुद्ध और अशुभ से बचने की तथा शुभ और शुद्ध ध्यान करने की रीति सरलता के साथ बताई गई है, जिससे इसे पढने और मनन करने वाले अपने इष्टार्थ की सिद्धि का उपाय जान सकें।

"जयतीति जिन" जो जीतता है, वह जिन है। जिन का अनुयायी जैन है। जिन राग-द्वेप को सर्वथा नष्ट करते हैं, उनके अनुयायी नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं—इस प्रकार जिस जैन धर्म में राग-द्वेप को नष्ट करने का ही खास कार्यक्रम हो, उस में साम्प्रदायिक-मतभेद और क्लेश के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। पानी से वस्त्र जल नहीं सकता, आग से जलता है। ठीक उसी प्रकार प्रेम से-सगठन से फूट हो नहीं सकती, रागद्वेप की आग से होती है। यह सत्य आज से दो हजार वर्ष पहले इस आर्यावर्त्त (भारत) में प्रत्यक्ष था। हजारों साधु, हजारों साध्वियाँ, लाखों श्रावक, लाखों श्राविकाएँ तथा असङ्ख्य सम्यग्दृष्टि जीव सब एक जिनेश्वर देव के ही अनुयायी थे। इसी सगठन के प्रभाव से जैन धर्म उस समय सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित था। बडे-बड़े सुरेन्द्र नरेन्द्र आदि भी इस पर श्रद्धा रखते थे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी अपने अपार वैभव का ऋद्धि समृद्धि का त्याग करके जैन भिक्षुक बनते थे और धीरे-धीरे आत्मकल्याण की साधना में लग कर मोक्ष प्राप्त करते थे।

साधुओं (जैन भिक्षुकों) को मोक्ष की प्राप्ति का सूत्रानुसार मुख्य हेतु यही मालूम होता है कि वे ध्यान करते थे। जैसा कि उत्तराध्ययनजी सूत्र में साधुओं के लिए दिनकृत्य और रात्रिकृत्य का वर्णन करते हुए २६ वें अध्ययन मे कहा है —

पढमं पोरिसी सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ।
तइयाए भिक्खायरिए, चउत्थी भुज्जोवि सज्झायं ॥

अर्थात्—दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय (मूलसूत्र का पठन), दूसरे प्रहर में ध्यान (सूत्र के अर्थ का विचार) तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या (भिक्षा के द्वारा निर्दोष आहारादि का ग्रहण) और चौथे प्रहर में फिर से स्वाध्याय-यह दिन कृत्य। रात्रिकृत्य भी लगभग ऐसा ही है, सिर्फ तीसरे प्रहर में "तइए निद्दमोक्खं तु" निद्रा से निपटने की बात कही है। इस प्रकार दिनरात के ६ प्रहर ज्ञानध्यान में निकालने का विधान है। इसी तरह श्रावकों के लिए भी इसी सूत्र में ५ वें अध्ययन का वर्णन करते हुए फरमाया है—

अगारि सामाइयंगाणि, सड्ढी काएण फासए।
पोसह दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥

अर्थात्—गृहस्थ श्रावक त्रिकाल सामायिक व्रत * शुद्ध श्रद्धा युक्त होकर स्पर्शे (करे) और अष्टमी चतुर्दशी दोनों पक्षों में पौषधव्रत × करे। ऐसा धर्मध्यान करने में एक रात्रि भी व्यर्थ न खोए।

गतकाल में श्रावकों का भी एक दिन में कम से कम एक प्रहर धर्मध्यान में बीतता था। महीने में छह दिन पूरी तरह से धर्मध्यान में बीतते थे। धर्मध्यान में उनका मन इतना एकाग्र हो जाता था कि वस्त्र, आभूषण तो क्या, प्राण तक कोई हरण कर लेता तो भी उन्हें पता न रहता था। कुण्डकौलिकजी, कामदेवजी आदि श्रावक ऐसे ही ध्यानी थे। जब श्रावक भी ऐसे थे तो मुनियों के लिए तो कहना ही क्या!

ध्यान से निवृत्त होने पर वे अन्य कार्य में लग जाते थे जरूर, पर ध्यान में किया हुआ निश्चय सदा उनके अन्त करण में रमण करता रहता था। इससे राग, द्वेष, विषय, कषाय, आदि दुर्गुणों को अन्त करण में प्रवेश करने का अवकाश ही नहीं मिलता था। परनिन्दा में, दूसरों के दोष ढूँढने में, विकथा में व्यर्थ समय खोने की उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती थी। उनका सारा समय ज्ञान, ध्यान और सत्कार्यों में निकलता था, जिससे उनके मन में शान्ति रहती थी। ऐसे ही श्रमणोपासकों के लिए तथा श्रमणों के लिए मोक्ष का द्वार सदा खुला रहता था।

अब जरा देखिये! आज कल के श्रावकों और साधुओं को भी। बहुत से तो ध्यान में समझते ही नहीं। उन्हें तो इस ग्रन्थ से बात समझ में आ जायगी, किन्तु बहुत-से जो ध्यान और काउसग्ग (कायोत्सर्ग) को एक समझ बैठे हैं, उनका भ्रम दूर करना जरूरी है। यदि ध्यान और काउसग्ग में अन्तर न होता तो बारह प्रकार के तप में दोनों अलग-अलग न गिनाये गये होते। कायोत्सर्ग का अर्थ है-काया (शरीर) का उत्सर्ग (त्याग) करना। उपसर्गों का असर काया तक ही रहता है इसलिए काया को और आत्मा को भिन्न समझ कर शान्ति से कष्टों को सहना। ध्यान का अर्थ विचार है। ध्यान का महत्त्व न समझने से इस समय ध्यान नष्टप्राय हो रहा है। व्रतधारी उच्छृ खल हो रहे हैं, विकथा आदि अनेक प्रपचों में फस रहे हैं, वैरागी सरागी बन रहे हैं।

बहुत-से साधु धर्म के नाम पर अनेक झगड़े उठा रहे हैं। अपने-अपने पक्ष की किसी तरह स्थापना करके बोलते हैं—"यह मेरा अच्छा है और वह तेरा खराब है। मोक्ष का अधिकार सिर्फ उनको है, जो हमारी मान्यता के अनुसार चलते हैं, बाकी सब मिथ्यात्वी हैं। हमें छोड़ कर अन्य मुनिवेषियों को

* समभाव में प्रवृत्ति करने का व्रत, जो तीनों काल किया जाता था।
× ज्ञानादिगुणों के पोषण का व्रत, जो १ महीने में ६ बार करते थे।

दूसरी आवृत्ति में शुद्धि के ४०० विज्ञप्तिपत्र इस आशय के छपवाये गये थे कि "यदि प्रथमावृत्ति में कोई सिद्धान्त विरुद्ध बात हो या और भी किसी प्रकार की कमी रह गई हो तो लिख कर हमें सूचित करने की कृपा करें" और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों के पास भेजे गये थे, किन्तु उनमें से सिर्फ तीन मुनिवरों ने शुद्ध करके प्रतियाँ भेजी थीं। वे तीनो मुनिराज ये हैं —

१—जैन श्वेताम्बर साधुमार्गीय आठ कोटी मोटी पक्ष के कच्छदेशपावनकर्त्ता परमपूज्य श्री कर्मसिंहजी महाराज के शिष्यवय प्रवरपंडित कविवरेन्द्र विशुद्ध चारित्रपालक श्री नागचन्द्रजी महाराज।

२—जैन श्वेताम्बर साधुमार्गीय परमपूज्य श्री जयमलजी महाराज की सम्प्रदाय के परम पंडित मुनिराज श्री प्रभाकरसूरि (प्रसन्नचन्द्र) जी महाराज।

३—जैन श्वेताम्बर साधुमार्गीय पण्डितराज शुद्ध सयमी श्री माधव मुनिजी के शिष्यवर्य विद्याविलासी श्रीमूल मुनिजी।

इन तीनों मुनियों की ओर से भेजी गई सूचनाओं के अनुसार शुद्धि वृद्धि करके इस दूसरी आवृति की १५०० प्रतियाँ छपवाई गई हैं।

यह ग्रन्थ ऐसी सुन्दर स्याद्वाद-अनेकान्तवाद की शैली से लिखा गया है कि जैनों को ही नहीं, जैनेतरों को भी इसके पढने से बहुत लाभ मिलता है। इसलिए नम्र सूचना है कि सभी आत्मार्थी सज्जनों को चाहिए कि वे इसे कम से कम एक बार तो पढ ही डालें। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि जो इस ग्रन्थ को मनन चिन्तन के साथ पढेंगे, वैसा आचरण करेंगे, उन्हें इसी भव में परम सुख अनुभव होगा।

ज्यों ही पुस्तक का मुद्रण शुरु किया गया, त्यों ही मालूम हुआ कि जैन श्वेताम्बर साधुमार्गीय कान्फ्रेन्स का पाँचवां अधिवेशन सिर्फ दो ही महीने बाद होने वाला है। इतने थोड़े समय में ५३ फार्म की यह पुस्तक छाप कर देना और जिल्द वगैरह का काम निपटाना कितना कठिन कार्य है?—यह तो प्रेस के कर्त्ता धर्त्ता ही समझ सकते हैं। इतनी झडप से पुस्तक छपवाने का कारण केवल यही था कि हम चाहते थे, "कान्फ्रेन्स" के अधिवेशन के अवसर पर पधारे हुए धर्म-बन्धुओं के हाथों में यह ग्रन्थ एक साथ दिया जा सके। छपाई की शीघ्रता के कारण ही इस ग्रन्थ में अशुद्धियाँ रहने की सम्भावना दीखती है, सो कृपालु पाठकों को चाहिए कि वे मूल-आशय की ओर ध्यान रख कर गुण ग्रहण करें।

दक्षिण हैद्राबाद के ज्ञानवृद्धि खाते की तरफ से अब तक निम्न लिखित साहित्य गुरुदेव पू० श्री अमोलक ऋषिजी महाराज के सदुपदेश से अमूल्य बटवाया गया है —

१ जैनतत्त्व प्रकाश (४००० प्रतियाँ), २ तत्त्व निर्णय (२००० प्र) ३ भीमसेनहरिसेन चरित्र (१००० प्र), ४ जिनदास सुगुणी चरित्र (१००० प्र), ५ तीर्थंकरसहस्त्री (१५०० प्र), ६ सिंहलकुमार चरित्र (१००० प्र), ७ भुवन सुन्दरी चरित्र (१००० प्र), ८ मदन श्रेष्ठी (१००० प्र), ९ चन्द्रसेन-लीलावती चरित्र (१००० प्र), १० केवलानन्द छन्दावलि (४५०० प्र), ११ जैन सुबोध हीरावलि (१००० प्र), १२ जैन शिशुबोधिनी (१५०० प्र), १३ भक्तामर स्तोत्र (२००० प्र) १४ जैन गणेश-बोध (१५०० प्र), १५ नित्यस्मरण (५०० प्र), १६ (इस), ध्यानकल्पतरु (२७५० प्र), १७ परमात्समार्गदर्शक (१००० प्र), १८ मदिरा सती चरित्र (१००० प्र), १९ आनुपूर्वी (३००० प्र.),—ये कुल ३२२५० प्रतियाँ। इनके अलावा १ जैनामूल्यसुधा (१००० प्र), २ धर्मतत्त्व सग्रह (१५०० प्र) ३ नित्य स्मरण (२००० प्र), ४ धर्मतत्त्व सग्रह (गुजराती आवृति १२०० प्र)—इस प्रकार कुल ४१४५० इकतालीस हजार चार सौ पचास प्रतिया मुमुक्षुओं के हाथों में भेंट दी गई।

यह लम्बी-चौड़ी सूचा देने को आशय यही है कि अन्य मुनिराज तथा श्रावकवृन्द मिल जुल कर ज्ञान के प्रचार और प्रसार की प्रेरणा ले सकें। विज्ञेषु किमधिकम्।

गुणानुरागी —
सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद

वीर स २४३९
विक्रम स. १९७०

—: आवश्यक सूचना :—



ध्यान या विचार अनेक तरह के होते हैं। उन सब का संग्रह करके श्री सर्वज्ञदेव ने चार विभाग किये हैं। इन चार विभागों में सभी प्रकार के विचारों का समावेश हो जाता है। "ध्यान कल्पतरु" लिखते समय इस बात का पूरा ध्यान रहा है—कुछ तो शास्त्रानुसार और कुछ प्रज्ञानुसार। विचार के दोनों अन्तिम किनारे इस में बताये गये हैं। अधम से अधम विचार का फल निगोद है तो उच्च से उच्च विचार का फल मोक्ष। बिना विचार के कोई कार्य नहीं होता—नहीं हो सकता। हाँ, अकस्मात् कुछ हो जाय तो बात दूसरी है।

इस ग्रन्थ में संसार के शुभ विचारों का चित्र खींचा गया है, साथ ही आर्त्त और रौद्र ध्यान के अन्तर्गत संसार में होने वाली बहुत-सी वर्त्तमानकाल की बातों का भी समावेश किया गया है। इसे पढ़ कर पाठक यह न समझ लें कि सारे सांसारिककार्यों की लेखक ने उत्थापना कर दी है, यदि मैं उत्थापना भी कर दूँ तो संसार के कार्य रुकने वाले नहीं हैं। यह सिलसिला तो अनादिकाल से चला आया है। बड़े-बड़े सर्वज्ञदेव भी जब घूमते हुए संसार चक्र को नहीं अटका सके, तो फिर मैं बेचारा किस गिनती में हूँ। परन्तु जो काम हाथ में उठाया है, उसका यथामति यथातथ्य निरूपण करना ग्रन्थकार के लिए जरूरी हो जाता है, इसीलिए इसमें संसार की आजकल की बहुत-सी प्रवृत्तियों का चित्रण हो गया है।

यह तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि आर्त्त-रौद्र ध्यान खोटे हैं और इनका फल कुगति है—इसलिए खोटे ध्यान से छूटने पर ही आत्मा को सुगति मिल सकती है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सारे संसारी जीव एकान्त खोटे ध्यान ही करते हैं। बहुत-से संसारी जीव कभी-कभी धर्म ध्यान भी करते हैं और शुभाशुभ फल की मिश्रता होने से उन्हें देवगति प्राप्त होती है। देवगति में भी धर्म ध्यान करने से उन्हें फिर से उच्च गति मनुष्य गति प्राप्त होती है। मनुष्य गति में शुभ ध्यान करते करते शुद्ध ध्यान होने पर मोक्षगति प्राप्त होती है। इत्यलम्

—अमोलक ऋषि

बालब्रह्मचारी, जैनाचार्य, शास्त्रोद्धारक स्वर्गीय
पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज
(संक्षिप्त जीवन-परिचय)

१—जन्म स्थान —भोपाल (मालवा)

२—माता-पिता—सुश्राविका श्रीमती हुलासा वाई और धर्मप्रेमी श्रीमान केवलचन्द जी कॉसटिया (ओसवाल बड़े साथ)।

३—जन्मतिथि —सवत् १६३३ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी के दिन प्रात काल ६ बजे ।

४—दीक्षा के समय आयुः—ग्यारह वर्ष, पाँच महीने और सत्ताईस दिन।

५—दीक्षातिथिः—सवत् १६४४ फाल्गुन कृष्णा दूज गुरूवार ।

६—दीक्षा स्थान —आष्टा (भोपाल)

७—दीक्षा गुरुः—सरल स्वभावी मुनि श्री चैनाऋषि जी महाराज ।

८—बत्तीस सूत्रों का अनुवाद —सवत् १६७२ कार्तिक शुक्ला पचमी गुरुवार पुण्य नक्षत्र के योग में स्थान-हैदराबाद में प्रारम्भ किया गया और सवत १६७५ में मार्गशीर्ष कृष्णा पचमी को अर्थात कुल तीन वर्ष और पन्द्रह दिनों में समाप्त हुआ ।

९—आचार्यपद—सवत् १६८६ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशो को बुधवार के दिन इन्दौर (मध्य-भारत में सर सेठ हुक्मीचन्द जी की नसियाँ में महोत्सव पूर्वक पूज्य श्री को "आचार्यपद" प्रदान किया गया था ।

१०—वृहत साधु सम्मेलन —सवत १६६० में चैत्र शुक्ला दशमी बुधवार को अजमेर जो वृहत-साधु सम्मेलन हुआ था, उसमें सम्मिलित होकर अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने में आपने सफल सहयोग दिया।

११—विहार क्षेत्रः—दक्षिण-भारत, हैदराबाद, कर्णाटक, बैंगलोर, मैसूर, महाराष्ट्र, खानदेश, मध्य प्रदेश, वरार, बम्बई, गुजरात, कच्छ, काठियावाड, मेवाड़, मारवाड़, गोरवाड़, देहली, पजाब, शिमला-इत्यादि ।

१२—सयमकालीन जीवन—आप श्री वाल ब्रह्मचारी थे। सभी सम्प्रदायों के साधुगण और श्रावकवृन्द की आपके प्रति सहानुभूति और भक्ति थी। आप शान्त, दान्त, तपस्वी, मनस्वी सुकवि और साहित्यकार थे। अपने युग में एक आदर्श-साधु के रूप में आपश्री की ख्याति थी।

१३—साहित्य सेवाः—आपश्री के द्वारा सम्पादित, सकलित, अनूदित और रचित ग्रन्थों की कुल-संख्या १०२ है। इनकी कुल प्रतियाँ १,७६,३२५ प्रकाशित हुई । इन ग्रन्थों की मूल (प्रेस) कॉपी के पृष्ठों की सख्या लगभग पचास हजार थी ।

१४—शिष्यसमुदाय —आपके द्वारा दीक्षित कुल १४ शिष्य हुए।

१५—सयमकाल —पूज्य श्री जी कुल ४८ वर्ष ६ मास और १२ दिन तक सयम पर्याय का प्रसन्नता पूर्वक पालन करते रहे।

१६—पुण्यतिथि —सवत् १६६३ के दूसरे भाद्रपद की कृष्णा चतुर्दशी को अर्थात् १४ सितम्बर १६३६ की उदय रात्रि को २ बजे धूलिया (पश्चिम खानदेश) में समाधिपूर्वक शान्ति के साथ पूज्य श्री ने महाप्रयाण किया था, उस समय आपकी आयु साठ वर्ष नौ दिन की थी।

विशेष—चरित्रनायक पूज्य श्री जी के पिताजी श्री केवलचन्द्रजी कॉसटिया ने भी भागवती-दीक्षा अगीकार की थी और वे "तपस्वी श्री केवलऋषिजी" के नाम से जैन समाज में विख्यात और पूजनीय बने।



॥ श्री जिनेन्द्राय नमः ॥

॥ ध्यान-कल्पतरु ॥



॥ मंगलाचरणम् ॥

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाइ,
सुसुक्क-सुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥१॥
अणुत्तरग्गं परम महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता,
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥२॥

—श्रीसूत्रकृतागम् सूत्रम्, अध्ययन ६

सर्व श्रेष्ठ धर्म प्रकाशक श्रमण भगवान् श्री महावीर (वर्धमान) स्वामी ने सर्वोत्तम, उज्ज्वल से अति उज्ज्वल, दोष मल रहित ध्यान का आराधन किया। कितने उज्ज्वल ध्यान का आराधन किया? इसका उत्तर दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं—जैसे अर्जुन स्वर्ण उज्ज्वल होता है, पानी के फेन उज्ज्वल होते हैं, शख और चन्द्रमा की किरणें उज्ज्वल होती हैं, ऐसा अथवा इन से भी अधिक उज्ज्वल, सर्व ध्यानों में श्रेष्ठ, ऐसे शुक्ल ध्यान का आराधन किया।

उस ध्यान के प्रसाद से महा ऋषीश्वर समस्त कर्मों का नाश-क्षय करके निर्मल हुए। जिससे अनंत ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करके आदि सहित किन्तु अन्त रहित—ऐसी सिद्धगति (मोक्षगति) को जो कि लोक के ऊपर अग्र भाग में है, प्राप्त की। ऐसे श्री महावीर (वर्धमान) स्वामी को मेरा त्रिकरण विशुद्धि पूर्वक त्रिकाल नमस्कार हो।

-: विषय प्रवेश :-

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं, फलं चेति चतुष्टयम् ॥
इति सूत्रसमासेन, सविकल्पं निगृह्यते ॥ १ ॥

—ज्ञानार्णव

ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला, ध्यान अर्थात् चित्त एकाग्र कर स्थिर बैठना, ध्येय अर्थात् ध्यान का विषय-भूत पदार्थ, किसी एक ही प्रकार का मन में विचार करना।

फल अर्थात् एकाग्रता पूर्वक विचार करने से ध्याता को प्राप्त होने वाला परिणाम।

इन चारों ही ध्यान की शाखाओं का स्वरूप यथाबुद्धि इस ग्रंथ में बताने का प्रयत्न करूँगा। उसे पाठकगण दत्तचित्त हो पढे, अशुभ से बचे, शुभ में प्रवृत्ति कर इष्ट–अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ बनें।

अपास्य खंडविज्ञानं, रसिकां पापवासनाम् ॥
असत् ध्यानानि चादेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम् ॥

—ज्ञानार्णव ग्रन्थ

अर्थात्—खंड विज्ञान अर्थात् क्षयोपशम रागादि सहित ज्ञान में आसक्ति रूप पाप-वासना को, तथा अन्यान्य मतावलम्बियों के माने हुए आर्त्त-रौद्र आदि असत्य ध्यानों को छोड़कर, मुक्ति साधक सद् ध्यान का आदर करना चाहिये, जिससे इष्ट अर्थ की सिद्धि हो।

अहो भव्य गण! हम चर्म चक्षु से या हृदय ज्ञान चक्षु से इस विश्व में होने वाली प्राणियों की विचित्र प्रकार की वृत्तियों को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा परोक्ष प्रमाण द्वारा अवलोकन करते हैं कि कोई सुखी है, कोई दु खी है, कोई आनन्द में है तो कोई शोक में, कोई हँसता है, तो कोई रोता है, आदि। इन वृत्तियों का आधार चित्त-वृत्ति पर ही रहा हुआ प्रतीत होता है। विश्व में रहे हुए पदार्थों में भले बुरे की कल्पना कर, उनके सयोग वियोग से लाभ हानि, मान अपमान आदि सकल्प विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। सकल्प विकल्प अनुसार ही आत्मा बन जाता है, इससे निश्चय होता है कि सुख-दुख का मुख्य हेतु विचार (ध्यान) ही है।

विशेष रूप से इसमें यह भी प्रतीत होता है कि सभी प्राणियों को सुख (आनन्द) प्रिय है। इसकी प्राप्ति के लिये ज्ञानी, मुमुक्षु, विषयी, पामर आदि सभी प्रकार के अधिकारीजन स्वकल्पित आनन्द प्राप्त करने के लिए अनेक विध चेष्टा कर रहे हैं।*

कोई ज्ञान में, कोई योग में, कोई भक्ति में, कोई धर्म में कोई धन प्राप्ति में, कोई स्त्री–काम-सयोग में, कोई पुत्र के प्यार में, इत्यादि अनेक वृत्तियों में निमग्न हुए दृष्टिगत हो रहे हैं।

अखड आनद की प्राप्ति के वास्ते ही, आज दिन तक अनेक शास्त्रों की रचना की गई है, अनेक कार्य क्रियाओं के अनुष्ठान की योजनाएँ हुई हैं।

---

* पाठकगण! ज्ञान, भक्ति, योग, धर्म, ये आनन्द प्राप्ति के उपाय हैं, परन्तु एकान्त रूप से नहीं पूर्ण रूप से नहीं, इनका खुलासा आगे ग्रन्थावलोकन से होगा, इसलिए यहाँ किसी प्रकार का विकल्प न करें।

प्रतिदिन नवीन २ सुधार होते ही जा रहे हैं, इसी तरह सर्व देश, सर्व काल और सर्व स्थिति में जो जो अनादि काल से प्रवृत्तियाँ बनती जा रही हैं, सो आनद प्राप्त करने के लिये ही हैं। तो भी आज दिन तक सभी विश्ववासी प्राणी अखड, पूर्ण आनन्द मय नहीं बन सके। ऐसा कोई भी ग्राम या देश दृष्टिगत नहीं हो रहा है, जहाँ कि अखड-आनंद वर्त्तमान हो। जहाँ देखें, वहाँ शोक, मोह, दुःख की थोडी बहुत प्रतिछाया का अनुभव होता ही रहता है। जिसे देखो, वह अखड आनद के लिये तड़फता ही रहता है। इससे सुविदित होता है कि जिसकी प्राप्ति के लिये प्राणी प्रयास कर रहे हैं, उसकी प्राप्ति का जो सच्चा उपाय है, वह हाथ नहीं लगा है।

जिस २ प्रयास में अल्पज्ञ अथवा अज्ञ मनुष्य सलग्न हैं, वह अखड आनद की प्राप्ति का सच्चा उपाय भी नहीं है। कपोल कल्पित उपाय से इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। यदि होती हो तो उपर्युक्त उपाय करने वाले आज दिन तक दुःखी नहीं रहते।

अखड आनद की प्राप्ति का कोई उपाय दुनिया में नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता। यह सत्य मानियेगा कि जो वस्तु होती है, उसी के लिये प्रयास किया जाता है। किन्तु सच्चा उपाय नहीं मिलने पर जब कार्य की सिद्धि नहीं होती है तब अल्पज्ञ, अज्ञानता धारण कर नास्तिक बन जाते हैं। सब कल्पनाओं को, साधनों को आकाश-कुसुम की प्राप्ति के उपाय जैसे निकम्मे जान कर छोड़ बैठते हैं। और पुद्गलों के आनद में मशगूल बन "क्षण-मात्र सुखी बहुकाल दुःखी" अर्थात् क्षण भर के लिये कल्पित सुख भोग कर, अनन्त काल तक के लिये दुःख के भोक्ता बन जाते हैं। यह बात भी प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध हो रही है।

सर्वज्ञ जिनदेव ने प्रयास कर जो अखड आनंद प्राप्त किया, तथा जिसका अपने अन्तःकरण में पूर्ण निश्चय हो गया, उस उपाय द्वारा सपूर्ण विश्व में अखड आनंद की प्राप्ति अन्य जीवों को भी कराने के वे इच्छुक थे। असत् उपाय के उद्यम से पीड़ित ऐसे पामर प्राणियों की दशा का अवलोकन कर, करुणा-सिन्धु जिनदेव का हृदय गद्गद् हो गया। अतएव भगवान् ने आत्मा में प्रकटित अनन्त दान-शक्ति-लब्धि का सद् व्यय कर सभी जीवों को अखड आनद युक्त बनाने के लिये, सभी समझ सकें ऐसी अनेक भाषामय-अर्ध मागधी भाषा द्वारा महा परिषद् में सद् बोध का उपदेश दिया। जिसे श्रवण कर, मनन कर, आराधन कर, अनन्तानत जीवों ने अखण्ड आनन्द प्राप्त किया। उसी प्रभाव को आगे चालू रखने के लिये उन भगवान् सर्वज्ञ के शिष्य-गण ने भविष्य काल में भव्य-जीवों पर परोपकार करने की बुद्धि से शास्त्रों की रचना की, जिनके द्वारा वर्तमान समय में भी परम उपकार हो रहा है।

उन शास्त्रों में अखड आनद की प्राप्ति का सद् उपाय पृथक् पृथक रूप से वर्णित होने के कारण तथा अर्ध-मागधी भाषा में होने से वर्त्तमान काल के अल्पज्ञों के लिए पूर्ण रूपेण लाभ की प्राप्ति का अभाव देखकर इस समय देश की विविध प्रचलित भाषाओं में ग्रथ रचे जा रहे हैं।

उन प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों की प्रवृत्तियों को देखने से निश्चय होता है कि सुख दुख का मुख्य हेतु ध्यान है, मन की प्रवृत्ति रूप विचार ही कारण है।

ध्याता ध्येय रूप बन जाता है जिससे शुभ अशुभ की प्रवृत्तियाँ होती हैं, और उनसे ही सुख दुःख की प्राप्ति होती है।

वह ध्यान क्या है? कितने प्रकार का है? ध्याता ध्येय रूप कैसे बनता है? कैसे सुखी दुखी होता है? कौन से ध्यान से अखड आनन्द की प्राप्ति होती है? इन सभी प्रश्नों का विस्तृत रूप से स्वरूप जानने

का, अनुभव करने का, और प्राप्त करने का उपाय, इस ध्यान-कल्पतरु की छाया में दत्तचित्त से विश्रांति लेकर यानी मन लगाकर पढ़ने से मालूम हो सकेगा और क्रियात्मक रूप देने से आपको उसका अनुभव भी हो सकेगा।

—ः स्कन्ध ः—

ध्यान शब्द की धातु "ध्या" है। "ध्या" का अर्थ अन्तःकरण में विचार करना—सोचना है। ध्यान के भेद शास्त्र में इस प्रकार किये गये हैं—

—ः शाखा ः—

से किं तं झाणे ? झाणे चउविहे पण्णत्ते, तंजहा—अट्टे झाणे, रुद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे।

—उववाई सूत्र

शिष्य सविनय प्रश्न करता है कि गुरु महाराज ! ध्यान के भेद कितने हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! ध्यान के चार भेद भगवान् ने फरमाये हैं। उन्हें मैं अनुक्रम से कहता हूँ—

१ आर्त्त ध्यान, २ रौद्र ध्यान, ३ धर्म ध्यान और ४ शुक्ल ध्यान। अन्तःकरण में विचार दो तरह के उत्पन्न हुआ करते हैं, कभी अशुभ यानी बुरे और कभी शुभ यानी अच्छे।

अशुभ विचारों को अशुभ ध्यान और शुभ विचारों को एव शुद्ध विचारों को शुभ ध्यान तथा शुद्ध ध्यान कहते हैं।

ऊपर कहे गये सूत्र में अशुभ ध्यान के दो भेद किये गये हैं—आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान। उसी प्रकार शुभ ध्यान के भी दो भेद किये गये हैं—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। इन चारों का विस्तृत वर्णन आगे अलग २ शाखाओं में किया जायगा।

—ः अशुभ ध्यान ः—

ऊपर कहे हुए चारों ध्यानों में से सर्व प्रथम अशुभ ध्यान का वर्णन करता हूँ, क्योंकि मोक्षार्थी अशुभ ध्यान का स्वरूप समझेंगे तब उससे बचकर शुभ में प्रवेश करने के लिये प्रयत्नशील हो सकेंगे।

अज्ञात–वस्तु–तत्त्वस्य, रागाद्युपहतात्मनः ॥
स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोः, तदसद्ध्यानमुच्यते ॥

—ज्ञानार्णव ग्रन्थ

जिसने वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना है तथा जिसकी आत्मा राग, द्वेष, मोह इत्यादि दुर्गुणों से पीड़ित हैं, ऐसे जीव की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को अप्रशस्त अशुभ ध्यान कहा जाता है। यह ध्यान जीवों को स्वतः यानी विना उपदेश के ही होता है, क्योंकि यह अनादि वासना जनित है।

इसके दो भेदों में से प्रथम आर्त्त ध्यान का स्वरूप यहाँ बताते हैं—

—ः प्रथम शाखा आर्त्त-ध्यान ः—

संसारवर्त्ती सकर्मी जीवों को शुभ-अशुभ कर्मों के सयोग से इष्ट का संयोग, अनिष्ट का वियोग, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का सयोग, अनादि काल से होता ही आया है। इन सयोग वियोग के कारणों से

मन में सकल्प विकल्प उत्पन्न होते ही रहते हैं। इसे "आर्त्त-ध्यान" ही समझना चाहिये। जिनेश्वर भगवान् ने इसके मुख्य चार भेद कहे हैं—

—: आर्त्त ध्यान के भेद—प्रथम उप शाखा :—

अट्टे झाणे चउविहे पण्णत्ते, तंजहा:-१ अमणुण्णसंपओगसंपउत्ते, तस्स विप्पओग संति समणा गए यावि भवति, २ मणुण्णसंप्पओगसंपउत्ते, तस्स अविप्पओग संति समणा गए यावि भवति, ३ आयंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओग संति समणा गए यावि भवति, ४ परिझूसिया काममोगसंपउत्ते तस्स अविप्पओग संति समणा गए यावि भवति ॥

—उववाइसूत्र

आर्त्त ध्यान चार प्रकार से भगवान ने फर्माया है, वह कहा जाता है:—

१ अमनोज्ञ—खराब शब्दादि का सयोग होने पर यह विचार होवे कि इनका वियोग कब होगा? इसको अनिष्ट सयोग नाम आर्त्त ध्यान कहा जाता है।

२ मनोज्ञ—अच्छे शब्द आदि का सयोग होने पर विचार होवे कि इनका वियोग कदापि न हो, इसे इष्ट-सयोग आर्त्त ध्यान कहा जाता है।

३ ज्वर, कुष्ठ आदि अनेक प्रकार के रोगों की प्राप्ति होने पर विचार हो कि इनका शीघ्र नाश हो, इसे रोगोदय आर्त्त ध्यान कहा जाता है।

४ इष्ट—काम भोग की प्राप्ति होने पर विचार हो कि इनका वियोग कदापि न हो, इसे भोगेच्छा आर्त्त ध्यान कहा जाता है।

—: प्रथम पत्र अनिष्ट संयोग :—

१ अनिष्ट सयोग नाम आर्त्त ध्यान-सांसारिक जीव ने अपने शरीर को, स्वजन स्नेही आदि कुटुम्ब को, स्वर्ण आदि घन को, गोधूम (गेहूँ आदि धान्य को, गो आदि पशु को, और घर मकान आदि को अपने सुख दाता मान लिये हैं, इस सुख-सामग्री को नष्ट करने वाले सिंह, सर्प, बिच्छू, खटमल जू आदि जानवर, शत्रु चोर, नृप आदि मनुष्य, नदी समुद्र आदि जल स्थान, अग्नि, वच्छनाग अफीम आदि विष, तीर तलवार आदि शस्त्र, गिरि कदरा आदि मृतिका स्थान एव भूत आदि व्यतर देव इत्यादि भयकर वस्तु के नाम श्रवण कर, स्वरूप अवलोकन कर देख कर इनके स्मरण होने से, तथा प्राप्त होने से मन को सकल्प-विकल्प घबराहट होती है, तब इनके वियोग की इच्छा करे कि ये मेरे प्राण हरण के लिए क्यों मेरे पीछे लगे हैं? मुझे क्यों सता रहे हैं? हे भगवन्! इनका शीघ्र नाश हो तो बहुत ही अच्छा, इस प्रकार के चिन्तवन को तत्वज्ञ पुरुषों ने "आर्त्त ध्यान का प्रथम भेद" कहा है।

—: द्वितीय-पत्र इष्ट संयोग :—

इष्ट-सयोग नाम आर्त्त ध्यान श्लोक द्वारा कहा जाता है—

राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु, स्त्रीगंधमाल्यवररत्नविभूषणेषु ।
अत्याभिलाषमतिमात्रमुपैति मोहात्, ध्यानं तदार्त्तमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥

—सागार धर्मामृत

इष्टकारी, प्रियकारी, राज्यैश्वर्य, चक्रवर्त्ती बलदेव मॉडलिक राज्य, सामान्य राज्य की ऋद्धि, भोग-भूमि (युगलिया) के अखड सुख सौभाग्य, मन्त्रीश्वर प्रधान, श्रेष्ठ सेनापतियों के विलास, नव युवतियाँ, मनुष्य देव सम्बन्धी स्त्रियों के सग काम भोग, पर्यंक पलग आदि शय्या, अश्व, गज, रथ आदि वाहन, चन्दन, पुष्प, आदि सुरभिगन्ध, मनमोहक पदार्थ सेवन, रत्न जटित रजत-सुवर्ण आदि अनेक प्रकार के आभूषण गहने, रेशमी जरी जारजेट आदि वस्त्रों से शरीर सुशोभित करना, मनोहर रूप बनाना, इत्यादि तरह तरह के कामभोगों को भोगने की जो मोहनीय कर्म के उदय से अभिलाषा होती है, तथा उपयु क्त में से जिस किसी पदार्थ की प्राप्ति होने पर उसका उपभोग करते समय जो अन्त करण में सुख का आभास होता है, तथा जो ऐसे विचार आते हैं कि मैं कैसे कैसे इष्ट-सुख को भोग रहा हूँ , या उनकी बारम्बार अनुमोदना करना इत्यादि स्वाभाविक उद्गार निकालना, अन्त करण में आनन्द का अनुभव करना तथा वैसे विचार प्रकट करना आदि इस प्रकार के विचार आर्त्त ध्यान का दूसरा रूप है—ऐसा तत्त्वज्ञों द्वारा कहा जाता है।

पाठांतर—बहुत से कहते हैं कि आर्त्त ध्यान का दूसरा प्रकार "इष्ट वियोग" है। जैसे—काल ज्ञान ग्रन्थ आदि द्वारा, या स्वर आदि लक्षणों द्वारा, या ज्योतिष आदि विद्या के प्रभाव द्वारा, शरीर का वियोग स्वल्प यानी थोड़े काल में होने वाला जानकार विचार उत्पन्न हो कि "हाय रे ! हाय !! अब मैं इस सुन्दर शरीर को, प्रिय कुटुम्ब स्नेहियों को, और कष्ट से उपार्जित लक्ष्मी को त्याग कर चला जाऊँगा। इसी प्रकार अपने सहायक स्व-जन मित्रों के वियोग से मूर्छित हो गिर पड़ना, विलाप-प्रलाप करना, आत्म प्रहार करना (सिर-छाती आदि पीटना,) मृत्यु का चिन्तवन करना, दूसरे प्रकार का आर्त्त ध्यान है।

इसी प्रकार घर-सपत्ति का किसी भी द्वारा अपहरण किया जाना, अग्नि से जल जाना, पानी में बह जाना या डूब जाना, पृथ्वी में गड़े हुए धन का विरूप हो जाना बदल जाना, यानी धन का कोयला या पानी हो जाना, राजा या पचों द्वारा हरण किया जाना, व्यापार आदि में हानि का होना, यश-कीर्त्ति के लिये धनादि से अभिमानी बन कर लग्न आदि कार्य में अधिक व्यय करना, अशक्ति या दरिद्रता आदि से दुःख प्राप्त होने पर पश्चात्ताप करना, "हाय रे ! हाय !! अब क्या करू गा" आदि संकल्प विकल्प भी आर्त्त ध्यान रूप वृक्ष की द्वितीय शाखा है।

इसी प्रकार इन्द्रिय पोषक पदार्थों की प्राप्ति का विचार करना, अनेक वाद्य-यत्र, वारागना, पुष्प-वाटिका, इत्र, अबीर आदि, षट् रस भोजन, वस्त्र, भूषण, अशन, शयन, आदि नश्वर पदार्थों के सयोग मिलाने सबधी पापारभ कार्यों का चितवन करना भी आर्त्त ध्यान है।

—: तृतीय-पत्र रोगोदय :—

सभी जीव आरोग्य आदि सुख के इच्छुक हैं। परन्तु अशुभ वेदनीय कर्म के उदय से जो जो रोग उत्पन्न होते हैं, असाता वेदनीय का उदय होता है, उसको भोगे विना छुटकारा नहीं हो सकता है।

श्रीउत्तराध्ययनजी सूत्र में फरमाया है कि—

" कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि "

अर्थात—कृत कर्मों के फल को भोगे विना छुटकारा नहीं मिल सकता है।

कहा भी है कि—

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि ॥
अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

४३२००००००० वर्षों का एक कल्प माना जाता है। ऐसे करोड़ो कल्प में भी कृत कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं हो सकती है। मनुष्य के शरीर पर साढ़े तीन करोड़ रोम गिने जाते हैं और एक २ रोम के स्थान पर पौने दो रोग कहे जाते हैं, इस प्रकार विचारियेगा कि यह शरीर कितने रोगों का घर है। जहाँ तक साता वेदनीय कर्म का जोर है, वहाँ तक सब रोग दबे हुए हैं, ढके हुए हैं, और पापोदय होते ही कुष्ठ (कोढ़), भगंदर, जलोदर अतिसार, श्वास, खासी, ज्वर आदि अनेक उदर विकार, रुधिर विकार, इत्यादि भयंकर से भयंकर रोग उत्पन्न होकर पीड़ा (वेदना) देते हैं, तब चित्त में आकुलता व्याकुलता होकर अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं, यह तीसरे प्रकार का आर्त्त ध्यान है।

उन रोगों के निवारण करने के लिए अनेक प्रकार के औषधि-उपचार करने की भावना होती है। अनन्त काय एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का विविध रीति से आरम्भ, समारंभ, छेदन, भेदन पचन, पाचन आदि क्रियाएँ करने के विचार अन्तःकरण में उत्पन्न होते हैं। शीघ्रता से उनका नाश करने की चटपटी लगती है। उनकी हानि वृद्धि से हर्ष शोक होता है। "हे प्रभो! स्वप्न में भी ऐसा दुःख न हो" ऐसी अभिलाषा होती है। इस प्रकार के सब भावनामय विचार तीसरे आर्त्त ध्यान के अन्तर्गत आते हैं।

—: चतुर्थ पत्र भोगेच्छा :—

पांचों इन्द्रियों संबंधी काम भोग* भोगने की इच्छा करना भोगेच्छा आर्त्त ध्यान है। श्रवण इन्द्रिय (कान) से राग-रागिनी, किन्नरियों के गायन और वाद्य-यंत्रों के मंजुल और मनोहर राग सुनने की भावना करना और उसमें आनंद मानना, चक्षु इन्द्रिय (आंख) से नृत्य नाच, षोडश शृंगार से विभूषित स्त्री पुरुष, बाग बगीचा, आतिशबाजी के ख्याल, महल, प्रासाद, मंडप आदि की सजावट, रोशनी आदि देखने की भावना करना और उसमें आनंद मानना, घ्राण-इन्द्रिय-(नाक) से इत्र पुष्प आदि सुगंधित पदार्थों को सूंघने की भावना करना और उसमें आनंद मानना, रस-इन्द्रिय (जीभ) से षट् रस भोजन करने की तथा अभक्ष्य भक्षण करने की भावना करना और उसमें आनंद मानना, इसी प्रकार शयनासन, वस्त्र, आभूषण स्त्री आदि के विलासमय भोग भोगने की इच्छा करना और उनमें आनंद मानना चतुर्थ भोगेच्छा नामक आर्त्त ध्यान है। इसी प्रकार यह भावना करना कि इनका संयोग सदा ऐसा ही बना रहे, तथा मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ कि मुझे इष्ट प्रिय सुख मय सर्व सामग्री प्राप्त हुई है, एवं इनमें खुशी मनाना भी भोगेच्छा आर्त्त ध्यान के अन्तर्गत ही है ॥ १ ॥

भोगान्तराय कर्मों के उदय से इष्ट सुख देने वाली सुसामग्री की प्राप्ति नहीं होने पर एवं किसी दूसरे को राज्य ऐश्वर्य, या ऐन्द्रिक सुख एवं ऋद्धि का भोग करते देखकर जी ललचाना भी आर्त्त ध्यान के ही अन्तर्गत है। शास्त्र ग्रन्थ का श्रवण कर भोग उपभोग की अंतःकरण में अभिलाषा करे कि हे प्रभो! एक अथवा आधा राज्य मुझे मिल जाय, या कोई देव मेरे स्वाधीन हो जाय, वश में आ जाय, तो मैं भी ऐसी मौज मजा करूँ, आनन्द का उपभोग करूँ कि मेरा जन्म सफल हो जाय।

जहाँ तक ऐसा सुख मुझे नहीं मिले, वहाँ तक मैं अधन्य हूं, अपुण्य हूँ, आदि २ विचार भी आर्त्त-ध्यान ही है ॥ २ ॥

---

* पांच इन्द्रियों में से कान और आँख ये दो इन्द्रियाँ कामी हैं। अर्थात् शब्द सुनना और रूप देखना रूप रसानुभव करती हैं। और घ्राण, रस, और स्पर्श ये तीन इन्द्रियाँ भोगी हैं। यानी गंध, स्वाद और स्त्री आदि का उपभोग करती हैं।

तप, सयम, प्रत्याख्यान, आदि धर्म क्रियाओं का नियाणा* करना, फल माँगना, राज्य और ऐन्द्रिक सुख की वाँछा करना भी आर्त्त ध्यान ही है ॥ ३ ॥

अपनी क्रिया के प्रभाव से आशीर्वाद देना, अन्य स्व-जन मित्र आदि को धन शाली या सुखी करने की अभिलाषा करना भी आर्त्त ध्यान है ॥ ४ ॥

अपने स्व-जन, मित्र या पडौसी आदि को सुखी देख, अपने मन में झूरणा करना, अपने आपको अन्य की अपेक्षा दरिद्र मानना—यह भी आर्त्त ध्यान ही है ॥ ५ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त मन की प्रवृत्तियाँ, अन्त करण के विचार चौथे प्रकार के आर्त्त ध्यान हैं।

—: द्वितीय प्रतिशाखा—आर्त्तध्यान के लक्षण :—

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तंजहा—१ कंदणया, २ सोयणया, ३ तिप्पणया, ४ विलवणया।

—उववाइ सूत्र

आर्त्त ध्यान के चार लक्षण। १ आक्रंदन-रुदन करना, २ शोक-चिंता करना, ३ आँखों से आंसू डालना, ४ विलाप करना।

आर्त्त ध्यान करने वाले को पहिचानने के लिये भगवान् ने सूत्र में बाह्य चिह्न रूप ४ लक्षण फरमाये हैं.—१ अनिष्ट का सयोग, २ इष्ट का वियोग, ३ रोग आदि दु ख की प्राप्ति ४ भोग आदि सुख की अप्राप्ति। इन चार प्रकार के कारणों में से किसी भी एक कारण के उपस्थित होने पर सकर्मी जीवों को कर्मो की प्रबलता से स्वभाव रूप से ही चार काम या चार अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं.—

—: प्रथम पत्र—कंदणया :—

१ कदणया—आक्रंदन करना, रुदन करना जैसे कि —हाय रे ! मेरे सुसयोगों का नाश हो गया और कुसयोग को प्राप्ति क्यों हुई ? हा देव ! हा प्रभो !! इत्यादि विचार उत्पन्न कर ' अरडाट" शब्द से रुदन करना।

—: द्वितीय पत्र—सोयणया :—

२ सोयणया—सोच-चिन्ता करना गाल पर हाथ रख कर नीची दृष्टि कर "सुन मुन्न" होकर बैठना, पागल समान स्थिति कर पृथ्वी खोदना, तृण तोड़ना, तथा मूर्छित हो पड़े रहना।

—: तृतीय पत्र—तिप्पणया :—

३ तिप्पणया—आंखों+ से अश्रुपात करना, थोडी २ देर में वस्तु विशेष को स्मरण कर रोना, निश्वास डालना तिप्पणया आर्त्त ध्यान है।

---

* दशाश्रुत स्कन्ध में नियाणा दो प्रकार के कहे गये हैं—१ भव प्रत्यय जो सम्पूर्ण भव तक चले, जैसे नारायण वासुदेव के पद का नियाणा। इनको व्रत प्रत्याख्यान सयम आदि नही होता। २ वस्तु प्रत्यय—किसी वस्तु की प्राप्ति का नियाणा जैसे द्रौपदी जी को, जहाँ तक वस्तु नहीं मिले, वहाँ तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

+ श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्त, प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवश अतो न रोदितव्य हि, क्रिया कार्या स्वशक्तिभि ॥ मरने वाले के पीछे उसके स्वजन स्नेही के रोने पर जो अश्रु और श्लेष्म डालते हैं, उसको वह मरने वाला खाता है। ऐसा मिताक्षर ग्रथ में कहा है।

—: चतुर्थ पत्र—विलवणया :—

४ विलवणया विलाप करना, अंग पछाड़ना, हृदय पर प्रहार करना बाल तोड़ना। "हाय रे! जुल्म हुआ, गजब हुआ, महान अनर्थ हुआ, इत्यादि भयकर शब्दों का उच्चारण करना। क्लेश, टंटे झगड़े करना। दीन तथा दयाजनक शब्दोच्चारण करना। आदि आदि सब आर्त्त ध्यान के लक्षण जानना चाहिये। कहा भी है—

> शंका-शोक-भय-प्रमाद-कलह-चिन्ता-प्रमोद्भ्रान्तयः।
> उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृत्, निद्राङ्ग जाड्य श्रमः ॥
> मूर्च्छादिभिः शरीरिणामविरतं, लिङ्गानि बाह्यान्यलं।
> आर्त्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैः, र्व्याणर्णितानि स्फुटम् ॥
>
> — ज्ञानावर्ण ग्रन्थ

हर बात में शका करना शोक, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेश, चित्त भ्रम, भ्रान्ति, विषय सेवन की उत्कंठा निरन्तर निद्रा लेना, अग में जड़ता, शिथलता, चित्त में खेद, वस्तु में मूर्च्छा, इत्यादि चिह्न आर्त्त ध्यानी में पाये जाते हैं। ऐसा शास्त्रों के पारगामी विद्वानों ने फरमाया है।

—: आर्त्त ध्यान के पुष्प और फल :—

आर्त्त ध्यानी को अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की अत्यत उत्कंठा आशा तृष्णा रहती है। रात दिन उधर ही लक्ष्य लगा रहता है, जिससे दूसरे कामों में भी विविध रीति से खराबी आती है, हानि पहुँचती है, धर्म-क्रिया, संयम तप आदि करके भी कुंडरीक* की तरह वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त कर सकता हैं।

अखंड पूर्व पुण्य की उपस्थिति के बिना इष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती है और न वस्तु स्थिर ही रह सकती है। जो मनुष्य अप्राप्त वस्तु के लिये, अथवा प्राप्त होकर नष्ट हुई वस्तु के लिये झुर झुर कर

---

* एक बार की बात है कि जंबू द्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र के पुष्प कलावती विजय के पुंडरीक नामा राजधानी के पद्मनाभ राजा के कुंडरीक राजकुमार ने दीक्षा ग्रहण की थी। इसके दूसरे भाई पुंडरीक कुमार को राज्य ऋद्धि प्राप्त हुई थी। भाई को राज सुख भोगते देखकर कुंडरीक का मन चंचल हो गया। गुरु का साथ छोड़कर महल के पीछे की अशोक वाटिका में गुप्त रीति से आकर बैठ गया।

माली द्वारा भाई के आने की खबर सुनकर राजा पुंडरीक शीघ्र ही भाई के दर्शन के लिये आया। मुनि का चित्त उदास देखा। पूछने पर मुनि ने राज्य वैभव की प्रशंसा की, इस पर मुनि के चित्त को चंचल जान कर राजा ने अपने वस्त्र आभूषण उतार कर मुनि को दे दिये और मुनि के धर्म उपकरणों को वस्त्र-पात्र आदि को राजा ने ग्रहण कर लिये। तथा गुरु दर्शनार्थ चल दिया। मार्ग में तीन दिन लगे, और तीन ही दिन का तेला कर लिया था, गुरुजी से भेंट कर पारणा किया, पारणे में रूखा-सूखा निर्दोष भोजन किया, उस नीरस भोजन के करने से राजा के शरीर में महती वेदना पीड़ा उठ खड़ी हुई, एवं आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थ सिद्धि विमान में देवता रूप में उत्पन्न हुआ।

इधर कुंडरीक राज्य वेश धारण कर राज्य सुख को भोगने के लिये अत्यत मूर्च्छाग्रस्त हुआ। बल बढ़ाने के लिये अविवेक पूर्ण रीति से मांस मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का अत्यधिक भक्षण किया, इनसे शरीर में असह्य वेदना हुई। तीन दिन में आयुष्य पूर्ण कर भोगों को बिना भोगे ही मर कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ।

मरते हैं, वे कोई भी कार्य करने में सफल नहीं हो सकते हैं। बल्कि श्रीनमिराज ऋषि के शब्दों में "कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं" अर्थात् अप्राप्त, नहीं मिले हुए कामभोगों की प्रार्थना तृष्णा करता हुआ कामभोगों को विना भोगे ही मरकर दुर्गति नरक-तिर्यंच आदि खराब गति में चला जाता है।

कदाचित् किंचित् पुण्योदय से मनुष्य गति को प्राप्त करने पर भी दु:खी, दरिद्री, हीन, दीन होता है। यदि देवता हो जाय तो अभोगिया *देव होता है जो कि स्वामी-देव के अधीन रहकर अनेक विध कष्ट भोगता है। इसे स्वामी की खुशी में अपनी खुशी माननी पड़ती है। भोगान्तराय कर्म के उदय से प्राप्त पदार्थों को भी नहीं भोग सकता है। अन्य के भोग-सुखों को देखकर झूरना पड़ता है। आर्त्त ध्यान आर्त्त ध्यानी के साथ इतने निकट का सम्बन्ध बाँध लेता है कि अन्य भवों में भी साथ साथ रहता है, तथा संबध नहीं तोड़ता है।

(२) आर्त्त-ध्यानी प्राप्त हुए भोग-सुखों में अत्यन्त आसक्त रहता है। देवगति में ऐसे सुखों को अनन्त वार भोग लिये हैं, फिर भी समझता है कि ऐसी वस्तु मुझे कहीं भी नहीं मिली ऐसा अनुभव कर उस वस्तु को क्षण भर के लिये भी नहीं छोड़ना चाहता है। इतनी महती आसक्ति के योग से इस भव में भी शूल, सूजाक, गरमी, चित्त भ्रम आदि विविध रोगों से पीड़ित होता है, औषधि एवं पथ्य में लगा रहता है, प्राप्त भोग्य पदार्थों को भोग नहीं सकता है। घर में उपस्थित सामग्री को देख देखकर झूरता है। "कब इस रोग से मुक्त होऊँ और कब इन पदार्थों को भोगू" ऐसी भावना में ही पड़ा रहता है।

(३) आर्त्त ध्यानी को जिस वस्तु की प्राप्ति हुई है, उस वस्तु से अधिक किसी दूसरे के पास देख कर, सुनकर, उस वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर वस्तुओं को प्राप्त कर उन्हें भोगने की अभिलाषा अधिकाधिक बढती जाती है, और इसी में उसका जन्म पूरा हो जाता है। वृद्ध-अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो भी इच्छा तृष्णा तृप्त नहीं होती है। भर्तृहरि ने कहा है कि "तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा" अर्थात् हम जीर्ण वृद्ध हो गये हैं, परन्तु तृष्णा—वाँछा जीर्ण नहीं हुई। इस सृष्टि में संख्यातीत पदार्थ रहे हुए हैं, परन्तु उन सब की प्राप्ति एक ही समय में और एक ही साथ नहीं हो सकती है। तृष्णा की शांति के बिना दुःख नहीं मिट सकता है। इस कारण-माला से निश्चय होता है कि आर्त्त-ध्यान सदा एकान्त रूप से दु:ख का ही कारण है। यह आर्त्त ध्यान जैसा इस भव में-इस जन्म में-दु:ख-दाता है, उससे भी अधिक दु:खदाता इसको परभव में समझना चाहिये। क्योंकि जो आत्मा प्राप्त वस्तु पर अत्यधिक आसक्ति रखता है, इस कारण से उस आत्मा के वज्र समान कठिन और कठोर कर्मों का बन्ध पड़ता है। ये कर्म आत्मा को दुर्गति में ले जाकर भयंकर दु:खदाता बनेंगे। उस समय भीषण रुदन करने पर भी बन्धन से मुक्ति नहीं मिलेगी। ऐसा सोच समझ कर सम्यक् दृष्टि, श्रावक, साधु आदि इस आर्त्त ध्यान को त्यागने का प्रयत्न करें और सुखी हों।

यह आर्त्त ध्यान सकर्मी जीवों के साथ अनादि काल से लगा हुआ है, यह स्वभावतः ही उत्पन्न होता रहता है। प्रथम क्षण में यह रमणीय प्रतीत होता है परन्तु अंतिम क्षण में अपथ्य आहार जैसा घोर दु:ख प्रद है। इसके चार पाये तो पाँचवें गुणस्थान तक ही होते हैं, निदान-नियाणा के अभाव हो जाने पर तीन पाये छट्ठे गुणस्थान तक होते हैं।

इस ध्यान वाले के कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या, ये तीन अशुभ लेश्याएँ होती

* जो देव नौकर रूप से स्वामी की सेवा करते हैं, उनके लिये ये नौकर देव विमान बनाते हैं। विमान उठाते हैं। अश्व आदि पशु का रूप बना कर सवारी का काम देते हैं। ये अभोगिया देव हैं।

हैं। इस ध्यान में मग्न रहकर मरने वाले की विशेषत तिर्यञ्च गति ही होती है। यह ध्यान "हेय" है—यानी छोड़ने योग्य हैं।

परम पूज्यश्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बालब्रह्मचारी मुनिश्री अमोलकऋषिजी म० रचित
श्री ध्यान कल्पतरु ग्रन्थ की प्रथम शाखा रूप
आर्त्त ध्यान नामक परिच्छेद समाप्त।



-: द्वितीय शाखा रौद्रध्यान :-

रुद्रक्रूराशयप्राणी-प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥

—ज्ञानार्णव

जो क्रूर आशय परिणाम वाला नीच विचारों वाला प्राणी होता है, उसे रुद्र कहा जाता है। और उस रुद्र प्राणी के कार्य अथवा भाव-परिणाम को रौद्र ध्यान कहा जाता है।

जैसे मदिरा पान करने से मनुष्य की बुद्धि विकल हो जाती है और वह विशेष रूप से क्रूर कर्मों में ही आनन्द मानता है, वैसे ही प्रत्येक संसारी जीव अनादिकाल से कर्म रूप मदिरा के नशे में पागल बना हुआ कुकर्मों को करने में ही आनद मानता है। उन कुकर्मों के करते समय जीव के अन्त करण में जो विचार आते हैं, जो आनन्द की अथवा अन्य विषय की मानसिक तरगें उठती हैं उन्हें ही तत्वज्ञ पुरुषों ने "रौद्र-ध्यान" भयानक ध्यान फरमाया है।

—: प्रथम प्रति शाखा—रौद्रध्यान के भेद :—

रुद्दे झाणे-चउव्विहे पण्णत्ते तंजहाः—१ हिंसाणुबंधी २ मोसाणुबंधी ३ तेणाणुबंधी ४ सारक्खणाणुबंधी।

अर्थात् रौद्र (भयंकर) ध्यान के ४ भेद भगवान ने फरमाये हैं वे यहाँ कहे जाते है —१ हिंसानुबधी रौद्र ध्यान यानी हिंसक कार्यों की अनुमोदना करना, उनकी प्रशंसा करना। २ मृषानुबंधी रौद्र ध्यान यानी मिथ्या झूठे कामों की अनुमोदना करना, प्रशसा करना। ३ तस्करानुबधी रौद्र ध्यान यानी चोरी के कामों की अनुमोदना करना, प्रशसा करना। ४ सरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान यानी विषय-सुखों की रक्षा करने वाले कामों की अनुमोदना करना उनकी प्रशसा करना। इन चारों का ही वर्णन आगे सविस्तार किया जाता है:—

-: प्रथम पत्र-हिंसानुबंधी :-

१ हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान का स्वरूप श्लोक द्वारा इस प्रकार है—

संछेदनै र्दमनैः ताड़नैस्तापनैश्च, वन्धप्रहारदमनैश्च विकृन्तनैश्च ।
यस्येह रागमुपयाति न चानुकम्पा, ध्यानं तु रौद्रमिति तत्प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥

—सागार धर्मामृत

छेदन, भेदन, ताडन, तापन, वन्धन, प्रहार, दमन, आदि प्रवृत्ति करना, कुरूप करना, इत्यादि कामों में अनुराग रखना, अथवा इन कामों को देखकर दया नहीं लाना यह सब हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

(१) दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है। अनाथ जीव कर्म की अधीनता से, पराधीनता से, निराधार और असमर्थ हो जाते हैं। हीन, दीन और दुःखी हो जाते हैं। कर्म वशात् एकेन्द्रिय आदि अवस्था प्राप्त हुई है। वे रात और दिन सुख के इच्छुक हैं। यथाशक्ति सुख प्राप्त करने के लिये घोर प्रयत्न करते हैं। ऐसे दयनीय असमर्थ जीवों को मतलब से अथवा विना मतलब से दुःख देना, सताना, दुःख से पीड़ित को देखकर हर्ष मनाना, यह सब रौद्र ध्यान है।

एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय जीव तक किसी भी जीव को या सचित्त पदार्थ को स्वयं अपने हाथ से, अथवा दूसरे के हाथ से प्राण रहित करते देख कर, टुकडे २ करते देखकर, लोहे की शृंखला-बेड़ियों में बांधते देख कर, रस्सी, सूत, सण आदि से बांधते देख कर, कोठरी, तलघर, कारागृह आदि में कब्जे करते देखकर, कान, नाक, पूंछ, सींग, हाथ, पांव, चमड़ी, नख आदि किसी भी अंगोपांग का छेदन-भेदन करते देखकर, कत्लखाने में बिचारे जीवों का वध होता देखकर एवं उनका करुणा पूर्ण आक्रंदन सुन कर टुकडे होने पर उनको तड़फते देखकर आदि विविध रीति से जीवों को दुःख देते देखकर या उनका वध करते देखकर आनंद मानना, "बहुत अच्छा हुआ, इसे मारना ही चाहिये था बंधन में डालना ही चाहिये था इसे फांसी शूली देना ही चाहिये था बडा जुल्मी था बचता तो गजब कर डालता, पाप कटा, मर गया तो पृथ्वी का भार हलका हुआ" आदि आदि शब्दोच्चारण करना, आनंद मानना यह सब हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान है।

(२) आहा ! वा, वा ! ये महल, मंदिर, बंगला, हाट, दुकान हवेली कोट, किल्ला, खाई, बुर्ज, तोरण-स्तंभ, मृतिका पाषाण आदि के खिलौने, मूर्त्ति, भंडोपकरण, वर्तन आदि बहुत अच्छे बने हैं, अच्छे रंग और शिल्प कला आदि से कितने सुशोभित हो रहे हैं। धन्य है उस कलाकार को, वह पूरा शिल्प शास्त्री था। कितनी अच्छी और मनोहर वस्तु बनाई है। इसी प्रकार कूप, बावड़ी, नल, तालाव, हौज, कुंड, झरना, झारी, लोटा, गिलास, कलशा आदि बहुत ही अच्छे और मनोरम बने हैं। यह पानी कितना सुन्दर, स्वादिष्ट, शीतल सुगंधित और मधुर है।

कैसा उम्दा फव्वारा छूट रहा है, कितना सुन्दर छिड़काव हो रहा है। चूल्हा, भट्टी, ऐंजिन, मील दीपक, पिलसोद, हंडिया, गिलास, झूमर, चिमनी आदि बहुत ही अच्छे एवं सुशोभायमान हैं। कितनी उम्दा झगमग रोशनी हो रही है। चित्र-विचित्र विविध रंगमय क्या ही सुन्दर आतिशबाजी छूट रही है। धूप की सुगन्ध कितनी बढ़िया है और कैसी मघमघा रही है। क्या ही शीतल सुगन्धित हवा चल रही है। कितने उम्दा पंखा व पर्दा चल रहे हैं। झूला कैसा अच्छा घूमता है, वाजित्रों का नाद कितना मधुर और मनोरम है।

विचित्राकार ऊँचे ऊँचे वृक्षों का समूह क्या ही शोभायमान हो रहा है।

ये वृक्ष काटे जाकर इन द्वारा प्रासाद, स्तम्भ, पाट आदि बनाने योग्य हैं, ये फल बड़े मधुर हैं। खाने योग्य हैं, गुणकारी हैं, इनका शाक बड़ा स्वादिष्ट बनता है।

क्या ही हरी हरी हरियाली छा रही है, इसको देखने में बड़ा आनन्द आता है। हार-तुर्रे कितने मनोहर बनाये हैं।

कदमूल आदिक औषधियाँ कितनी अच्छी पौष्टिक और स्वादिष्ट हैं।

ये कोड़े, खटमल, डाँस, मच्छर आदि प्रलय के जीव हैं, ये जरूर मारे जाने चाहिये। जलचर मछली आदि, भूचर गाय आदि, वनचर शूअर आदि, खेचर पक्षी आदि पका कर खाने योग्य हैं।

इन हाथी घोड़ों की सजावट कैसी अच्छी की गई है। सेना शत्रु का नाश करने जैसी है। बहुत अच्छे चित्र विचित्र पक्षियों को पींजरे में रक्खे हैं। अजायब घर म्यूजियम की विचित्र शोभा है।

चूहों से रोगों की उत्पत्ति होती है, ये मारने योग्य हैं। सर्प-बिच्छू आदि विषमय जीवों को अवश्य मारना चाहिये—इनसे पुण्य होगा। सिंह का शिकार क्षत्रियों को अवश्य करना चाहिये। कैसा शूर-सुभट है कि एक पल में हजारों का संहार कर देता है।

इस प्रकार उपरोक्त सभी विचारों को एंव ऐसे ही अन्य विचारों को हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान कहना चाहिये।

अश्वमेध यज्ञ में अग्नि में घोड़ा होमा जाना चाहिये, गोमेध यज्ञ में बैल, अजमेध यज्ञ में बकरा, नरमेध यज्ञ में मनुष्य आग में होमे जाने चाहिये, इससे धर्म होता है, स्वर्ग मिलता है ये सब विचार भी रौद्र ध्यान के ही हैं।

कई एक पापमय शास्त्रों के अभ्यासी कहते हैं कि अमुक अमुक जानवरों के अंगोपांग, मांस, रक्त, हड्डी, चमड़ा आदि को अमुक रीति से सेवन करने से अमुक अमुक रोगों की शांति होती है। कई एक मनुष्य मनोरंजन के लिये कुत्ते आदि शिकारी जानवरों द्वारा निरपराध दीन पशु पक्षियों को पकड़वा कर आनंद अनुभव करते हैं। कई एक बंदर, रींछ आदि पशुओं से नृत्य, गायन आदि रूप खेल तमाशा करवा-कर एवं देखकर आनंद अनुभव करते हैं।

इसी प्रकार मुर्गा, भैंसा, मेंढ़ा या मनुष्य आदि की परस्पर की लड़ाई देखकर आनंद अनुभव करते हैं। यह भी हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान है।

कई एक मनुष्य जीवों का संहार करने की भावना से तोप, बन्दूक धनुष बाण, खड्ग, कटार, छुरी, चाकू, आदि का संग्रह करते हैं। या शस्त्रों को देखकर जीवों को मारने की इच्छा करते हैं।

कई एक चक्की, चर्खा हल, बखर, कुदाली, फावड़ा, गेंती, उखल, मूसल, सरोता, हसिया, हथोड़ा, कैंची आदि का अनावश्यक रूप से संग्रह करते हैं। या इन्हें देखकर संग्रह करने की भावना करते हैं। हाथ में आने पर इनको चलाने की इच्छा करते हैं या भावना रखते हैं, अकारण ही इन्हें घुमा फिरा कर देखते हैं, यह भी सब हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

किसी का बुरा चिंतन करना, अपने से अधिक रूपवान धनवान, गुणवान, पुण्यवान, प्रतापवान, बहु परिवारी और सुखी को देखकर ईर्षा करना, उनके दु:खी बनने का विचार करना, अमुक की विशेषता

से मेरा आदर नहीं होता है, यह मेरे सुख में और लाभ में हानि पहुँचाने वाला है, अमुक आदमी मुझे हर समय दवाता रहता है, सताता रहता है इसकी मृत्यु कब आवे और कब पाप कटे, इत्यादि इत्यादि विचार भी हिंसानुवन्धी रौद्र ध्यान है।

पृथ्वी आदि छः काया के जीवों की हिंसा हो, ऐसे ग्रंथ रचना अथवा ऐसे ही हिंसाजनक यज्ञ, होम, पूजा, आदि का उपदेश करना, हिंसाजनक औषधियों वाले शास्त्रों की रचना करना, दुष्ट मन्त्र की साधना करना, वीभत्स कथा-उपन्यासों की रचना करना या पढना, हिंसक, चोर, व्यभिचारी दुष्ट, दुर्व्यसनी आदि नीच जनों की संगति में रहना, अथवा उपरोक्त अशुभ प्रवृत्तिमय कार्यों का चिंतन करना भी हिसानुवन्धी रौद्र ध्यान ही है। निर्दय क्रोधी, अभिमानी, कपटी, लोभी, नास्तिक आदि जघन्य पुरुषों के हृदय में सदैव हिसानुवन्धी रौद्र ध्यान का ही विशेष रूप से अस्तित्व पाया जाता है। इसी प्रकार हिंसा से उत्पन्न होने वाली वस्तु को भोगने के समय आनन्द का अनुभव करना भी हिंसानुवन्धी रौद्र ध्यान है।

हिंसा-जनित* वस्तुएँ-जैसे—१ गिरनी में पीसा हुआ आटा, २ चीनी शक्कर, ३ हड्डिया हाथी दांत का चूड़ा, ४ कचकड़े की वनी वस्तुएँ, ५ पखों की वनी टोपियाँ ६ चमडे के पुट्ठे आदि, ७ अंग्रेजी दवाइयाँ, ८ साबुन-मोमबत्ती, ९ रेशमी कपड़े, १० खराब केशर, ११ चर्बी का घी आदि वस्तुओं को उपभोग करने की भावना भी हिंसानुवन्धी रौद्र ध्यान है।

इसी प्रकार वेर, मूली आदि की शाक भाजी, जुआर, वाजरी के भुट्टे, सुला सड़ा अनाज एव औषधि आदि को एव विना देखे किसी भी सजीव वस्तु को खाते पीते आनंद अनुभव करना भी हिंसानुवधी रौद्र ध्यान है। क्यों कि इनमें त्रस जीवों के अस्तित्व की सभावना होती है।

महाभारत एव अन्य सग्रामों के इतिहास को या कथा आदि ग्रंथ को पढ़ने सुनने के समय उनकी मन में अनुमोदना करना भी हिंसानुवंधी रौद्र ध्यान है।

इस प्रकार हिंसानुवधी रौद्र ध्यान का वहुत विवेचन किया जा सकता है, किन्तु सव का साराश रूप अर्थ इतना ही है कि किसी को भी दु ख देने का विचार करना या दूसरे के वध से, हानि से वनी हुई वस्तु का अनुमोदन करना भी हिंसानुवधी रौद्र ध्यान है।

---

*उपरोक्त वस्तुएँ निम्न प्रकार से हिंसा जनित हैं —

१ गिरनी के आटे को बराबर जमा कर ऊपर शक्कर भुर भुराने से अनेक सूक्ष्म त्रस जीव दिखाई पड़ते हैं। २ चीनी शक्कर हड्डियों के चूर्ण और गाय के रक्त से शुद्ध की जाती है। ३ हाथी दांत के लिये प्रति वर्ष अफ्रिका आदि देशों में हजारों हाथी मारे जाते हैं। कचकड़े की उत्पत्ति में भी पचेन्द्रिय जाति के प्राणी विशेष मारे जाते हैं। ५ टोपी आदि वस्त्रों में लगाये जाने वाले पखों के लिये पशु पक्षियो का शिकार किया जाता है, उनकी हत्या की जाती हैं। ६ चमड़े को सुकुमार और सुन्दर वनाने के लिये एव नगारा आदि ढोलों के लिये जीवित जानवरों के ही चमड़े ज्यों के त्यों उतार लिये जाते हैं, या बाल पशुओं की हत्या की जाती है। ७ अंग्रेजी दवाइयों में प्राणियो के मास, रक्त आदि का समिश्रण होता है, शराब की मिलावट होती है। कॉडलीवर आइल तो मछली विशेष का ही अर्क होता है, ऐसा ही अन्य में भी जानना। ८ साबुन मोमबत्ती आदि में चर्बी का समिश्रण होता है। ९ केशर की खेती में रक्त का खाद दिया जाता है। १० रेशम कीड़ों को उबाल कर, उन्हें मार कर, तैयार किया जाता है, मील के कपड़ों में चर्बी का कलप लगाया जाता है। ११ वनस्पति जनित घी में कभी कभी चर्बी का भी समिश्रण कर दिया जाता है। इस प्रकार जो उपरोक्त वस्तुओं का उपभोग और उपयोग करता है, उसे आर्य कैसे कहें?

—: द्वितीय पत्र—मृषानुबन्धी :—

मृषानुबन्धी रौद्र ध्यान का स्वरूप श्लोक द्वारा कहा जाता है—

असत्यचातुर्यबलेन लोकाद्, वित्तं ग्रहीष्यामि बहुप्रकारम्।
तथाश्वमातङ्गपुराकराणि, कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि ॥ १ ॥
असत्यवाग्वञ्चनया नितान्तं प्रवर्त्तयत्यत्र जनं वराकम्।
सद्धर्ममार्गादतिवर्त्तनेन, मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा ॥ २ ॥

—ज्ञानार्णव ग्रन्थ

मैं असत्य और चतुराई के बल से लोगों से अनेक प्रकार से धन संग्रह कर लूंगा, मन कल्पित अनेक शास्त्रों को रचकर अपना मत चलाऊँगा, चाहे वे शास्त्र सत्य हो कि झूठ, दयाशील हों या दया के निषेध करने वाले हों तो भी परवाह नहीं करूँगा। लोगों को वाणी की चतुराई से मोहित कर उनके पास से सुन्दर कन्या, रत्न, धन धान्य, गृह-घर आदि ग्रहण कर लूँगा। और मेरे जीवन को सुख से चलाऊँगा, इत्यादि विविध रीति से अन्तःकरण में असत्य विचारों का उत्पन्न होना ही मृषानुबन्धी रौद्र ध्यान है। मृषावाद जगत में नाना प्रकार के दोष फैलाने की शक्ति रखता है। इसलिये छोटे बड़े सभी झूठ को खराब समझते हैं। झूठ से सभी चिढ़ते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि जनता उसे नहीं छोड़ती है। मृषानुबन्धी रौद्र ध्यान की सत्ता कितनी बलवती है कि इसके बल से खराब काम में भी आनन्द का अनुभव होता है।

कई एक अपनी चतुराई बतलाते हैं कि हम कितने भारी विद्वान् हैं, कितना सुन्दर प्रपंच रचा है कि इसके बल से अंगहीन, रूपहीन, इन्द्रियहीन और गुणहीन कन्या को भी कितने अच्छे और ऊंचे घराने में पहुँचा दी-शादी करा दी और इतने रुपये नगद दिला दिये।

बुड्ढे का, रोगी का, नपुंसक का कितनी अच्छी युक्ति से लग्न करा दिया। चाहे भविष्य में जीवन-पर्यन्त वे रोते रहें, हमें क्या मतलब ? हमने तो हमारा मतलब सिद्ध कर लिया। इसी प्रकार गाय, घोड़ा आदि पशुओं की, तोता मैना आदि पक्षियों की, खेत, बाग, बावड़ी आदि की झूठी प्रशंसा कर, प्रपंच फैला कर, रूप में-आकार प्रकार में परिवर्तन कर, बुरे को अच्छा बतला कर अधिक कीमत उठा लेना, और खुशी मनाना, मृषानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

पुराने वस्त्रों को रंग आदि के प्रयोग से रूपान्तरित कर बेच कर खुश होना, खोटे आभूषणों को सच्चे कह कर बेचना, अच्छा माल बता कर खोटा देना और खुश होना, मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

विश्वास देखकर कोई गुप्त धन, आभूषण आदि अमानत रूप से रख गया हो तो उसको दबा देना, उसके मालिक को नहीं देना, झूठी गवाहियें देना, झूठे खत लिखना, झूठे खतों के आधार से दूसरे के धन मकान आदि का अपहरण करना और प्रसन्न होना यह सब मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

व्यापारिक अथवा अन्य कामों में धोखे बाजी कर एवं प्रपंच फैला कर दूसरे को ठगने का विचार करना और उसमें प्रसन्न होना भी मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

अपना मन माना मिथ्या पंथ चलाना, वीतराग प्ररूपित शास्त्र को छोड़ कर अनेक कल्पित ग्रंथ-चरित्र आदि की रचना करना, एवं इन द्वारा अनभिज्ञ भोले मनुष्यों को भ्रम में डालना, दया में पाप बतला

कर, दया धर्म से तिलाजलि दिलाकर हिंसा मार्ग पर चलाना, और इन कार्यों में प्रसन्नता अनुभव करना मृषानुवधी रौद्र ध्यान है।

स्व मचालित विपरीत धर्म के सबंध में कहना कि मैं ने इतने ग्राम और इतने मनुष्यों को अपने मत में दीक्षित कर लिये हैं और इसी वात में खुशी मनाना मृषानुवधो रौद्र ध्यान है।

ज्ञानवान्, आचारवान, जिनेश्वर के शुद्ध मार्ग का प्रचार करने वाले, क्षमावान् ब्रह्मचारी आदि धर्म दीपकों की महिमा सुनकर* ईर्षा करना, उनका अपमान करने के लिये उन पर मिथ्या कलक लगाना, उनकी निंदा करना, एव अपनी मिथ्या वात को दूसरे के द्वारा सत्य मानने पर हर्ष प्रकट करना, ऋतु काल में रति दान धर्म ठहरा कर कुलीन स्त्रियो को भ्रष्ट करना, धर्म के लिये की जाने वाली हिंसा में पाप नहीं वतलाना, ब्रह्मचारी नाम धरा कर व्यभिचार करना, महात्मा आदि उच्च शब्दों से सबोधन किये जाने पर आनद अनुभव करना यह सब मृषानुवधो रौद्र ध्यान है।

वधिर–यानी वहिरे की, अन्धे की, लगड़े की, अनङ्ग की, कोढ आदि रोग से ग्रसित रोगो की, निर्बुद्धि की–आदि दया पात्र मनुष्यों की हसी करना, इन्हें चिढाना, उन्हें चिढते देख कर आनन्द अनुभव करना, जुआ, ताश, शतरज आदि खेल तमाशों में स्वभावत. ही झूठ वोलना, व्यर्थ के विवाद में, प्रवादियों को कपट पूर्वक छलने में, जाल फैलाने में, हस्तकौशल से या इन्द्रजाल से विविध कौतुक वताने में, मत्र–यत्र आदि के आडम्वर द्वारा अपनी प्रतिष्ठा–महिमा सुनने में खुश होना मृषानुवधी रौद्र ध्यान है।

शास्त्रार्थ करते समय (व्याख्यान देते समय) स्वार्थ दृष्टि से विभिन्न अर्थ करना, विपरीत अर्थ करना, अर्थ का अनर्थ कर देना, झूठी वातों से श्रोताओं को खुश करके आनद अनुभव करना—मृषानुवधी रौद्रध्यान है।

जो पुस्तकें दया, सत्य शील आदि गुणों से रहित हैं और जिनमें केवल सग्राम, लड़ाई, झगड़ा, काम-लीला, शृगार रस आदि का वर्णन हो, ऐसी पुस्तकें अथवा कथा-वार्त्ताएँ सुन कर या सुना कर आनद मानना—मृषानुवन्धी रौद्रध्यान है।

मृषानुवन्धी का अर्थ तो वहुत विस्तृत होता है, परन्तु साराश इतना ही है कि जिसमें झूठ हो, भयकरता हो, जघन्यता हो, अकारण ही पाप रहा हुआ हो, ऐसे पापपूर्ण विचारों का नाम मृषानुवन्धो रौद्रध्यान है। इसी प्रकार ऐसे ही पापपूर्ण विचारों में आनन्द मानना भी मृषानुवन्धी रौद्रध्यान जानना चाहिये।

–: तृतीय पत्र—तस्करानुबंधी :–

३ तस्करानुवधी रौद्र ध्यान का मूल स्वरूप श्लोक द्वारा इस प्रकार है:—

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते,
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्सन्ततम्।

मनहरण छद —सज्जन को देखकर दुर्जन करत कोप, ब्रह्मचारी देख-कामी कोप करे मन में।
निशा के जगैया ताको देख कोप करे चोर, धर्म शील देख पापी जल उठे तन में॥
शूरवीर देखकर कायर करत कोप, कवियों को देख मूढ हासी करे जन में।
धन के धनी को देख निर्धन कोप करे, विना ही निमित्त खाक डारे तिहू पन म॥

चौर्येणाऽपि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम-
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥

—ज्ञानावर्ण ग्रन्थ

चोरी करने की सदा चिंता करना चोरी करके अति हर्ष मनाना, अन्य से चोरी कराना, चोरी से लाभ की प्राप्ति पर खुश होना, चोरी के काम में कला-कौशल बताने वाले की प्रशसा करना इत्यादि विचार तस्करानुबन्धी रौद्रध्यान है, जो अति निंदनीय है।

जीव तृष्णा रूपी विकराल जाल में फँसा हुआ है। सारे ससार के अन्न धन, लक्ष्मी, सुख-ऐश्वर्य पर स्वामित्व चाहता है परन्तु इतना पुण्य पूर्व जन्मों में सचित नहीं किया है जिससे कि सर्वाधिपति बन सके।

प्रमादी तो बिना परिश्रम के द्रव्य प्राप्त करना चाहते हैं और इसी में तृप्ति मानते हैं। पाप के उदय से उनको चोरी के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता है। इस कारण वे चौर्यानुबन्धी रौद्रध्यान मे ही सलग्न रहते हैं।

ऐसी पापी आत्माएँ विचार करती हैं कि बादलों से आच्छादित आकाश का वातावरण हो, अन्धकार पूर्ण रात्रि हो, ऐसे समय में काले वस्त्र धारण कर गुप्त रीति से जाकर खात देकर धन ले आऊँगा। किसी की क्या शक्ति है जो कि मेरा सामना करे। मैं शस्त्रकला में ऐसा प्रवीण हूँ कि एक ही झटके में अनेक के बटके कर दू, टुकड़े कर दू और ऐसा भागू कि किसकी माता ने दूध पिलाया है, जो कि मुझे पकड़ सके। मैं अनेक विद्या का ज्ञाता हूँ। सबको निद्रा-ग्रस्त कर सकता हूँ। बड़ी २ जजीरों को और तालों को एक ही ककरी से तोड़ सकता हूँ। सेना को स्तम्भित कर सकता हूँ। अजन-सिद्धि से जमीन में गड़े हुए गुप्त धन को देख सकता हू। अन्धकार में भी प्रकाश के समान देख सकता हूँ इत्यादि रूप से विविध कलाओं को मैं धारण करने वाला हूँ। किसी की क्या शक्ति है जो मेरी बराबरी कर सके। हजारों वीर मेरी आज्ञा में हैं। व भी मरे समान ही कलाओं मं प्रवीण,हैं और शूरवीर हैं। मैंने बड़े २ राजाओं को कम्पायमान कर दिये हैं। अब मैं थोड़े ही समय में धनवानों का सहार कर सर्व ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी बन जाऊँगा और निश्चिन्त होकर आनन्द का अनुभव करूँगा। अमुक स्त्री बहुत रूपवती है, उसका भी हरण करूँगा। अमुक भूषण, वस्त्र, पात्र, पशु, मनुष्य-नौकर आदि सभी उत्तम पदार्थों को मेरे अधीन करूँगा और इनको भोग कर अपनी आत्मा को तृप्त करूँगा इत्यादि विविध विचारों को अन्त करण में स्थान देना ही तस्करानुबन्धी रौद्रध्यान है।

कितने ही ऐसे नाम धारी सेठ हैं जो कि जन साधारण को अपनी सेठाई बतलाने के लिए उत्तम उत्तम वस्त्र, आभूषण पहिनते हैं तिलक, छापा, माला, कठी से शरीर विभूषित कर, माला हाथ में फेरते हुए, बड़े धर्मात्मा बन कर ऊ च ऊ ची गद्दी पर तकियों के सहारे दुकान पर बैठते हैं। ग्राहक रूप शिकार के आते ही, माला फेरते हुए, भगवान का नाम उच्चारण करते हुए, मीठे २ वचनों के साथ उस भोले ग्राहक को पान-बीड़ी आदि द्वारा ललचा कर, भ्रमा कर, ऐसी हुशियारी से ठगाई करते हैं कि किसको शक्ति है, जो कि इनकी ठगाई को समझ जाय।

बोल में, मोल में, तोल मे, माप में, छाप में, जबाब में ठगाई चला कर, जहाँ तक हो सके, वहाँ तक उसे लूटने में कोई कसर नहीं रखते हैं। ग्राहक का विश्वास में लेने के लिये गाय की, बच्चे की, भगवान की सौगंध खा जाते हैं। दमड़ी दमड़ी के लिये सौगध खा जाते हैं। इष्ट लाभ होने पर बड़े प्रसन्न होते हैं। अच्छा माल बतलाकर खोटा देते हैं। अच्छे में बुरा मिला कर दे देते हैं। हिसाब में, ब्याज में दूसरों का

घर डुबा देते हैं। ऐसी २ अनेक चोर क्रियाएँ कर सरे बाजार में साहूकार कहलाते हैं। अपनी धूर्त्तता को बुद्धिमानी समझ कर बड़ा आनन्द अनुभव करते हैं। यह सब चौर्यानुबंधी रौद्र ध्यान है।

इसी प्रकार कितने ही साधुओं* का शरीर दुर्बल देखकर कोई पूछे कि "महाराज! आप तपस्वी हैं?" उस समय तपस्वी नहीं होने पर भी यह कहे कि "हाँ! साधु तो सदा तपस्वी ही होते हैं।" ऐसा कहने वाला तप का चोर है। इसी प्रकार शुद्ध आचार नहीं होते हुए भी एवं मलिन वस्त्र धारण करके आचारवान कहलावे, श्वेत बाल होने से स्थविर कहलावे, रूपवान होने पर राज ऋद्धि का त्याग करने वाला कहलावे, क्रूर परिणामी होता हुआ भी दांभिक रीति से वैरागी कहलावे, इत्यादि प्रकार की धर्म ठगाई करके आनन्द मानना यह भी तस्करानुबंधी रौद्र ध्यान है।

किसी के मकान, बगीचा, धर्मशाला, वस्त्र, आभूषण, वर्तन, भोजन, पानी, अन्न, फल पुष्प आदि और तृण कंकर आदि निर्मूल्य पदार्थ भी उसके मालिक की आज्ञा बिना देख करके, स्पर्श करके, अथवा भोग करके आनन्द मानना, यह भी चौर्यानुबंधी रौद्र ध्यान है।

दूसरों के जिन जिन पदार्थों को सुने देखे अथवा जाने, उनको ग्रहण करने की, अपने अधिकार में करने की अथवा भोगने की अभिलाषा करना, यह भी चौर्यानुबंधी तीसरा रौद्र ध्यान है।

चोर चोरी करके वस्तु लाया हो, उसको सस्ते भाव से लेकर आनन्द अनुभव करना, चोर को सहायता देना, खाने पीने की वस्तुओं से और वस्त्रों से उसको साता देकर उससे चोरी करवाना और वह माल स्वयं लेकर आनन्द अनुभव करना, राज्य का टेक्स नहीं चुका कर प्रसन्न होना, जिस वस्तु को बेचने के लिए राजा द्वारा अपने राज्य में इन्कारी की हुई हो, उसको गुप्त रूप से लाकर बेचना और प्रसन्न होना इत्यादि रूप से इन सभी को तस्करानुबन्धी रौद्रध्यान के ही भेदानुभेद समझना चाहिए। सबका मतलब इतना ही है कि मालिक की आज्ञा बिना अथवा उसकी इच्छा के बिना बलपूर्वक किसी भी वस्तु पर अपना स्वामित्व कायम करके आनन्द मानना, तस्करानुबन्धी रौद्रध्यान है।

—: चतुर्थ पत्र—संरक्षण :—

बह्वारम्भपरिग्रहेषुनियतं रक्षार्थमभ्युद्यते,
यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः।
यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते,
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम्॥

—ज्ञानार्णव

जो प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त होकर विविध आरंभ परिग्रह की रक्षा के लिये नियम पूर्वक प्रयत्न करे, और उसमें ही अपनी महानता समझता हुआ, उन्नत चित्त वाला होकर ऐसा माने कि मैं इन सबका स्वामी हूँ इत्यादि विचारों की प्रवृत्ति को तत्त्वज्ञ महापुरुषों ने संसार की इच्छा करने वाले जीवों का चौथा विषय संरक्षण नामक रौद्र ध्यान कहा है।

---

* तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरा आयारभावतेणे अ, कुव्वइ देवकिब्बिसं॥
तप का, व्रत का, रूप का, आचार का और भाव का चोर मर करके किल्बिषी (देवताओं में चांडाल जैसे) देव होते हैं।

—: विषय संरक्षण रौद्र ध्यान :—

इस ससार में सभी जीव पापी ही पापी हैं, ऐसा भी नहीं समझना, तथा सभी पुण्यात्मा ही है, ऐसा भी नहीं समझना। सभी ससारी जीवों के पुण्य और पाप दोनों ही अनादि काल से लगे हुए हैं। पाप की वृद्धि होने से दुःख की विशेषता और पुण्य की वृद्धि होने से सुख की विशेषता होती है। जो अधिक होता है, वही स्पष्ट मालूम होता है। फिर भी उसका प्रतिपक्षी गुप्त रूप से अवस्थित होता ही है।

जिनके पुण्य की अधिकता होती है, उनके लिये सुखदायक मन के अनुकूल सामग्रियों का सयोग मिलता है और वह उनका वियोग कदापि नहीं चाहता है। (यह वर्णन आर्त्त ध्यान के दूसरे भेद में हो गया है)।

प्रत्येक वस्तु का स्वभाव ही अध्रुव, अशाश्वत और क्षण भगुर है। "समय समय में अनत हानि" ऐसा जो भगवान ने फरमाया है, वह सत्य है। वस्तु का स्वभाव प्रत्येक क्षण में पलटता पलटता किसी भी क्षण वह वस्तु भी सर्व रूप से नष्ट हो जाती है, ऐसी स्थिति में उसे नष्ट नहीं होने देने का प्रयत्न करना और उसे बचाने का प्रयत्न करना, यही विषय सरक्षण रौद्र ध्यान है।

राज्य-लक्ष्मी के प्राप्त होने पर ऐसा विचार आना कि, "कहीं मेरे राज्य का कोई दूसरा शासक अपहरण नहीं करले", इसलिए सर्व प्रथम यह व्यवस्था की जाय कि चतुरङ्गिनी सेना (हाथी, घोड़े, रथ, पैदल) तैयार करूँ, श्रेष्ठ श्रेष्ठ पराक्रमशील सैनिकों का सग्रह करूँ, अविश्वसनीय स्थानों पर छावनी कायम करूँ इत्यादि विचारधाराएँ एवं उद्धतों के सहार का उपाय सोचना, शत्रु के राज्य में जासूसों द्वारा समाचार सग्रह करवाने की सोचना, जागीरदारों को इनाम पुरस्कार आदि द्वारा सतुष्ट रखने की सोचना, जिससे कि वे समय पर युद्ध में काम आ सकें, मजबूत शहरपनाह, गहरी खाई एव शतघ्नी आदि शस्त्रों से सयुक्त उच्च बुर्ज तथा पक्का गढ बनवाने की सोचना, धनुष, बाण, तलवार आदि विविध शस्त्र-अस्त्रों को सग्रह करने की सोचना, धनुर्वेद आदि की शिक्षा ग्रहण करके सग्राम विद्या में प्रवीण बनने की भावना करना, समय पर विजय प्राप्त करने के लिए कसरत और औषधि आदि के सेवन द्वारा शरीर को परिपुष्ट करने की भावना सोचना इत्यादि उपरोक्त उपायों से राज्य-रक्षण की चिंता करना, यह भी विषय सरक्षण रौद्रध्यान है।

द्रव्य को तिजोरियों में रखू, जिससे अग्नि चोर आदि का उपद्रव नहीं पहुँच सके, मैला कुचेला और पागल जैसा रहूँ, जिससे कि कोई कौटुम्बिक पुरुष अथवा चोर आदि धन का हरण करने के लिए मेरा पीछा नहीं कर सके, किसी के साथ मैत्री भाव नहीं रखू, जिससे कि समय पर किसी की भी प्रार्थना भङ्ग नहीं करनी पडे, मितव्ययता के साथ थोडे ही खर्च में अपनी जीविका चलाऊँ, नीचे दर्जे की वस्तु काम में लाऊँ, आदि विविध उपायों से द्रव्य का रक्षण करूँ, महिलाओं को पर्दे में रखूँ, आदमियों का पहरा रखूँ, खान-पान, वस्त्र, आभूषण की मर्यादा रखूँ, अल्प बोलूँ एव महिलाओं को हर प्रकार से सन्तुष्ट रखूँ, जिससे वे अन्य की इच्छा नहीं करें इसी प्रकार स्वजन, मित्रों को खान-पान, वस्त्र, आभूषण, स्थान, सन्मान से सन्तुष्ट करूँ, जिससे कि वे समय पर पूरा काम दे सकें, मकान को मरम्मत करा करके, सफाई से रखूँ कि जिससे गिरे नहीं इत्यादि विविध रीति से सम्पत्ति और सन्तति के रक्षण के विचार करना, यह भी विषय सरक्षण रौद्रध्यान है।

यह मेरा शरीर रत्नों के पिटारे से भी अधिक प्रियकारी है, इसलिए इसको शीत, उष्ण, वर्षा ऋतु में यथायोग्य वस्त्र, आहार, पानी और मकान से सुख पहुँचाऊँ, डास मच्छर आदि क्षुद्र प्राणियों के काटने से इसे बचाऊँ, शत्रुओं से रक्षण करने के लिए शस्त्रों की और सुभटों की व्यवस्था करूँ. क्षुधा को इष्ट भोजन

से, तृषा को ठण्डे पानी से, वात, पित्त आदि रोगों को औषधोपचार से, व्यन्तर आदि के उपसर्गों को मन्त्र आदि द्वारा हटा कर इस शरीर को सब प्रकार से सुरक्षित रखता हुआ इसे अखण्ड सुखी रक्खूँ, ऐसा विचार करना, अपना गौर वर्ण, और सतेज पुष्ट शरीर देख कर प्रसन्न होना, शरीर को अभक्ष्य आदि पदार्थों द्वारा परिपुष्ट करने की भावना रखना, शरीर के, स्वजन सम्बन्धियों के और सम्पत्ति के नाश करने वाले जो व्यक्ति हैं, उन पर दुष्ट परिणाम लाना, उन्हें देख कर क्रोधातुर हो जाना, उनके नाश के लिए विविध उपायों वाली योजनाएँ सोचना, अपना शरीर, धन आदि यदि दूसरों के अधिकार में हों, उनको स्वतन्त्र करने के लिए विविध कुयुक्तियों का विचार करना, इन सभी को विषय संरक्षण नामक रौद्रध्यान समझना चाहिए।

इस प्रकार इस ध्यान के अनेक भेद हैं, परन्तु सब का तात्पर्य यही है कि इस ध्यान में विशेष रूप से अपने रक्षण का और अन्य के लिए परिताप पैदा करने का ही विचार रहता है, इसीलिए इसे रौद्र (भयङ्कर) ध्यान कहा जाता है।

—: द्वितीय प्रति शाखा रौद्र ध्यानी के लक्षण :—

रोद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता तंजहाः—१ उसण्ण दोसे, २ बहुल दोसे, ३ अणाण दोसे, ४ आमरणांत दोसे।

रौद्र ध्यान के ४ लक्षण हैं—१ हिंसा आदि पापों का विचार करना, २ इसी संबंधी बहुत अधिक विचार करना, ३ अज्ञानियों के शास्त्रों का अभ्यास करना, और ४ मृत्यु हो जाने तक भी पाप का प्रायश्चित नहीं करना।

जिस ध्यान का नाम ही "रौद्र यानी भयंकर" ऐसा हो, तो फिर उसका विचार, कर्त्तव्य और स्वरूप भयंकर हो, यह स्वाभाविक ही है। सर्व प्रथम विचार मस्तिष्क में प्रवृत्ति शील होते हैं और तत्पश्चात कार्य में प्रवृत्त होने के लिये प्रेरणा करते हैं। रौद्र ध्यान (भयंकर विचारों) के होने से रौद्र कार्य के विषय में जैसी प्रवृत्ति होती है, उसके मुख्य चार भेद भगवान् ने फरमाये हैं —

—: प्रथम पत्र—उषण दोष :—

हिंसा झूठ, चोरी और विषय संरक्षण इन चारों ही की पोषणता के लिये जो जो काम किये जाएँ, वे उषण दोष हैं। जैसे कि हिंसा की पोषणता (वृद्धि) के लिये अनेक फावड़े, कुदालियाँ, आदि पृथ्वी को खोदने वाले तथा फोडने वाले शस्त्रों का संयोग मिलाना, अधूरे हो तो उनके हत्थे लगवाना, धार सुधरा कर परिपूर्ण करना, पृथ्वी के छेदन-भेदन के आरंभ में उन्हे लगाना इसी प्रकार जल के आरंभ की वृद्धि के लिये चड़स, रहट, मशक, घड़ा, कलशा आदि द्वारा और कुआ, बावड़ी, तालाव, नल फुव्वारा, हौज, आदि स्थान बनवा कर पानी का आरंभ करना अथवा करवाना। अग्नि के लिये चूल्हे, भट्टी, दीपक, चिलमें, आतिशबाजी आदि करना या करवाना एवं अन्य को ऐसे कामो में लगवाना, हवा के आरंभ के लिये पंखी, पंखें, वाजिंत्र आदि लगाना या लगवाना, वनस्पति के आरंभ के लिये सब्जी, बाग बगीचे, वाड़ी इत्यादि लगाना या लगवाना, पत्र, पुष्प, फल, तृण आदि का छेदन, भेदन, पचन, पाचन, भक्षण आदि करना या करवाना, ये सब उषण दोष के अन्तर्गत हैं।

त्रस के आरम्भ के लिए धुआ आदि के प्रयोग से मच्छर, डाम, खटमल आदि को मारना, जाल-पाश से जलचर भूचर, खेचर आदि को अधिकार में करना, तलवार, भाला आदि शस्त्रों द्वारा छेदन भेदन

ताड़न तर्जन करना, मनुष्य पशु को घाव पड़ जाय ऐसे कठिन बन्धन से बांधना, कठोर प्रहार करना, आहार पानी की अन्तराय डालना, अङ्गोपांग का छेदन भेदन करना, शक्ति से अधिक काम लेना, परिश्रम कराना, सदैव निर्दय होकर अयत्ना से एकान्त स्वार्थ को ही साधना करना अथवा बिना कारण ही अन्य को सन्ताप उत्पन्न करना आदि-आदि उपरोक्त कार्यों को करने वाला रौद्रध्यानी ही है, ऐसा समझना चाहिए।

इसी प्रकार झूठ का पोषण करने के लिए अनेक पाप-शास्त्र काम शास्त्र, कादम्बरी आदि का पाठ करना, झूठे झगड़ों को जीतने के लिए अनेक चालाक आदमियों की संगति करना, तथा ऐसे ही कायदों का, कानूनों का अभ्यास करना, झूठे ख्याल और कविताएँ बनाना, चकार मकार आदि से शुरू होने वाली गालो का उच्चारण करना, बीभत्स और अयोग्य शब्द बोलना, निडर निर्लज्ज होकर प्रवृत्ति करना, इसी प्रकार चोरी की पुष्टि के लिए चोरों के शस्त्र-कोश, कुदाल, गुप्ति आदि का संग्रह करना चोरी की कला का अभ्यास करना, "गोह" चिपक जाने वाले जानवर विशेष को पालना, चोरों को संगति में रहना, धाड़ा-डाका पटकना, चालाकी से अन्य का माल हरण कर लेना, इसी प्रकार विषय-सरंक्षण के पोषण के लिए, श्रुत-इन्द्रिय के पोषण के लिए मृदंग आदि बनाने के लिए जीवित पशुओं का चमड़ा निकालना अथवा निकलवाना, सारंगो आदि बनाने के लिए गाय आदि की नस तोड़ना तुड़वाना, चक्षु इन्द्रिय के पोषण के लिए शृंगार सामग्री सजाना, मोतियों को चीरना चीरवाना, सण कपास आदि पीलना, कतवाना, मशीन आदि द्वारा वस्त्र आदि बनवाना, अनेक शृंगार सजाना, स्त्री आदि के शृंगार को देख कर तथा स्त्री सम्बन्धी नाटक ख्याल आदि देख कर बगीचा आदि लगाना, घ्राण इन्द्रिय के पोषण के लिए यन्त्र आदि के प्रयोग से इत्र आदि निकलवाना, पुष्प आदि सुगन्धित द्रव्य का सेवन करना, पुष्प-वाटिका आदि बना करके उसका उपभोग करना, रस इन्द्रिय के पोषण के लिए मदिरा, मांस का भोगना, कन्दमूल आदि अभक्ष्य का भक्षण करना, पौष्टिक उन्मादक वस्तु का सेवन करना, रसायन भस्म आदि का सेवन करना, स्तम्भन के लिए गुटिका आदि का सेवन कर महाकामी बनना, स्पर्श इन्द्रिय के पोषण के लिए अनेक पुष्प आदि वाली शय्या पर सोना, उत्तम वस्त्र, आभूषणों से शृंगार सजना, हार, तुर्रा इत्र, पुष्प आदि से शरीर को सुशोभित करना, चू चू करने वाली जूतियाँ पहिन कर अकड़ कर तन कर चलना, वेश्यादि के नृत्य में भाग लेना, गान-तान में मस्त होकर तान में तान मिलाना और उसमें मस्त हो जाना। काम के चौरासी आसनों के चित्रों को बार बार देखना इत्यादि रूप से पांचों इन्द्रियों के पोषण के लिए विविध उपायों की योजनाएँ सोचना, ये सब उपण दोष सम्बन्धी रौद्रध्यान ही है।

—: द्वितीय पत्र—बहुल दोष :—

उपरोक्त इन्हीं कामों को विशेष विशेष करना, ज्यों २ करते जाना त्यों २ अधिकाधिक इच्छा बढ़ाते जाना और इच्छा को तृप्त करने के लिए उन्हीं कार्यों को अधिकाधिक रूप से करते जाना, परन्तु फिर भी तृप्त नहीं होना, यही बहुल दोष है।

—: तृतीय पत्र—अज्ञान दोष :—

रौद्र ध्यान का यह स्वभाव ही है कि वह उत्पन्न होते ही तत्काल सद् ज्ञान का नाश करके जीव को अज्ञानी यानी मूढ़ बना देता है। सुकार्य से प्रीति को हटा कर कुकार्य में संलग्न कर देता है। इससे सत् शास्त्र श्रवण में सत्संगति में, अप्रीति और अरुचि होती है और २६* प्रकार के पाप-सूत्रों के अभ्यास में इससे

* २६ पाप सूत्र—१ भूमि कंपन, २ उत्पात, ३ स्वप्न, ४ अंग स्फुरण, ५ उल्कापात, ६ पक्षी स्वर, ७ व्यञ्जन, तिलमस सम्बंधी, ८ लक्षण एवं सामुद्रिक, इन आठों ही के अर्थ, पाठ और कथा भेद से (८ × ३) = २४ रूप हुए। २५ काम कथा, २६ विद्या रोहिणी आदि, २७ मंत्र, २८ तंत्र, और २९ अन्य मतियों के आचार विधान।

प्रीति होती है। विषय में प्रवृत्ति कराने वाले, ऐसे कविता-ग्रथ, कल्पित ग्रथ, कोक-शास्त्र आदि पढ़ना और सुनना, ऐसे कुशास्त्र पढना जिनमें हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि पापों के सेवन में निर्दोषता बतलाई हो, वशीकरण, उच्चाटन, आकर्षण, स्तंभन आदि निकृष्ट विद्याओं का अभ्यास करना, गालियाँ गाना, ठट्ठा मस्करी करना, पुरुषों को स्त्रियों के वस्त्र आभूषण पहिनाकर नृत्य, गान, कुचेष्टा आदि कराना, दयामय उत्तम धर्म को त्याग कर हिंसा धर्म में रुचि रखना, कामी, कपटी, लोभी, कनक कान्ता के धारी, स्त्री के भोगी धूप पुष्प अबीर आदि की सुगध में ही मस्त रहने वाले, सचित्त का आहार करने वाले, मास मदिरा के भोगने वाले, विविध रग के वस्त्रों और आभूषणों से शरीर को शृंगारित करने वाले, रुष्ट होने पर नाश का काम करने वाले और तुष्ट होने पर इच्छा पूर्ति करने वाले इस प्रकार राग और द्वेष से भरे हुए, इत्यादि रूप से अनेक दुर्गुण धारी को अपना देव तथा अपना गुरु जानना, मानना, पूजना, भक्ति करना और जो त्यागी है, वैरागी हैं शात दात हैं, वीतरागी हैं, उनको गुरु और देव नहीं मानना, इनका अपमान करना, इन्द्रियों की पोषणता में ही और कषाय के सेवन में ही धर्म समझना, आत्मा का कल्याण मानना, सत्य पूर्ण कार्यों पर अरुचि करना तथा कुकामो पर रुचि जगाना, इत्यादि प्रकार के विचारों को ' अज्ञानदोष (अणाणदोस)" नामक रौद्र ध्यान समझना चाहिये। ऐसे ही लक्षण इस दोष के होते हैं।

—: चतुर्थ पत्र—आमरणांत दोष :—

वज्र जैसे कठिन हृदय वाला रौद्र ध्यानी होता है। दूसरे के सुख दुख की उसे सर्वथा पर्वाह नहीं होती है। वह तो केवल अपना ही सुख चाहता है। दूसरे को अपने से अधिक सुखी देखकर वह दु'खी हो जाता है, और उसके यश का, सुख का नाश करने के लिये विविध उपाय करता है। निर्दयता पूर्वक क्रूर-परिणामों के साथ त्रस स्थावर का वध करता है। उनको त्रास देते समय तड़फते हुए देखकर प्रसन्न होता है। उन्हे ज्यादा २ सताप उपजाता है। निडर, निष्ठुर और पाप रूप अकार्य करते हुए भी सर्वथा सकोच नहीं करता है। झूठ बोलते हुए नहीं डरता है। चोरी से नहीं हटता है। मैथुन क्रिया में अति आसक्त रहता है। परिग्रह के प्रति मूर्च्छा रखने वाला होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ की भावनाओं में प्रबलता रखने वाला होता है। वह राग द्वेष का घर होता है। महा क्लेशी, चुगलखोर, गुणियों के गुणों को ढाकने वाला, गुणियों के प्रति मिथ्या कलक लगाने वाला, अपनी वस्तु का अत्यत प्रेमी और दूसरों की वस्तु का अत्यत द्वेषी, कपटी, ऊपर से मीठा और हृदय में जहर वाला कुगुरु, कुदेव, कुधर्म पर श्रद्धा रखने वाला, इन पर प्रतीति तथा आस्ता रखने वाला, इत्यादि रूप से अठारह ही पापों में अनुरक्त, धर्म का नाम मात्र भी नहीं चाहने वाला मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ होने पर भी अपने किये हुए कर्मों का सर्वथा पश्चा-ताप नहीं करने वाला ऐसा कठोर, घर कुटुम्ब में ही अत्यत लुब्ध, ऐसे घृणित और निकृष्ट पाप पूर्ण विचार ही आमरणांत दोष नामक रौद्र ध्यान है। ऐसे आमरणांत दोष मय विचारों के साथ प्राण छोड़ कर अन्य गति में जाने वाला प्राणी 'आमरणांत दोष मय रौद्र ध्यानी" कहलाता है।

—: रौद्रध्यान के पुष्प और फल :—

रौद्रध्यानी के परिणाम सदा क्रूर ही रहते हैं। मद मत्सर से उसका हृदय पूर्ण रहता है। रात और दिन पापपूर्ण विचार ही मन में घूमते रहते हैं। और इस कारण से उसके वज्र कर्मों का बन्धन सदैव होता ही रहता है। ऐसे रौद्रध्यानियों द्वारा धर्म के काम बिलकुल ही नहीं बन पाते हैं। यदि देखादेखी कुछ किया भी तो क्रूर प्रकृति होने के कारण से उसका अच्छा फल नष्ट हो जाता है। उसके हाथ कुछ नहीं प्राप्त होता है। 'उसके विचारों से कुछ भी प्राप्ति नहीं होती है। जैसा होनहार होने वाला होता है, वह तो होकर ही

रहता है। उसके मलिन परिणामों से उसके कर्मों का बन्धन अवश्य पड़ता ही है एव नीच कर्मों का फल प्राप्त करने के लिए रौद्रध्यानी को नरकगति की ही प्राप्ति होती है। उसे वहाँ पर यहाँ किये हुए कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। वहाँ के परम अधार्मिक देव उसकी उसी तरह से हिंसा करते हैं, उसे उसी तरह से मारते हैं, जिस तरह की उसने हिंसा की हो। काटने वाले को काटते हैं, छेदने वाले का छेदन-भेदन करते हैं, सिंह, सर्प, बिच्छू, कीड़े, मच्छर आदि जीवों के घातक को वे देव अपनी शक्ति द्वारा उन जीवों जैसा ही रूप धारण करके चीरते हैं, फाड़ते हैं और खाने जैसी क्रिया करते हैं, मासभक्षी को खिलाने जैसी क्रिया करते हैं।

यहाँ पर मदिरा पीने वालों को वहाँ पर गरम-गरम पिघलता हुआ सीसा और ताबा पिलाते हैं। विषय लुब्ध को अग्निमय लोह पुतली के साथ सम्भोग कराते हैं। राग-रागिनियों के रसिक के कान का, रूप लुब्ध के आँख का, गन्ध विलासी के नाक का और जिह्वा के लोलुप की जिह्वा का वे देव वहाँ पर छेदन भेदन करते हैं। गरम और खारे पानी से भरी हुई वैतरणी नदी में उन्हें स्नान कराते हैं। तलवार की धार से भी अति तीक्ष्ण ऐसे पत्र वाले शाल्मली वृक्ष के नीचे उन्हें बिठा कर हवा चलाते हैं, कुम्भीपाक में पकाते हैं, कसाइयों की तरह शरीर क तिल तिल जितने टुकड़े करते हैं। इस प्रकार कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कई एक सागरोपम* तक रो रो कर दुःख सहन करने पड़ते हैं। इनसे छूटना बड़ा ही कठिन कार्य है। ऐसे इस रौद्र ध्यान को दोनों लोक में रौद्र यानी भयकर दुःखों का दाता जानना चाहिये।

रौद्रध्यानी के परिणाम अक्सर कृष्ण लेश्यामय ही होते हैं। वह हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाचों पापों में ही फसा रहता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग इन पाचों आश्रवों का वह सेवन करने वाला होता है। प्राचीन कर्मों के फल को अनुभव करते समय उसके परिणाम अशुद्ध ही होते हैं, अतः पुन वैसे ही कर्मों का बन्ध कर लेता है। इस प्रकार कर्म बन्धन के चक्कर में वह परिभ्रमण करता ही रहता है। रौद्रध्यानी का ससार से मुक्त होना अति ही कठिन है। वह अनन्त ससार करता है। अतः यह रौद्रध्यान "हेय" यानी त्यागने के योग्य है।

—: दोनों का समुच्चय :—

आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान दोनों ही अठारह पापों से भरे हुए हैं। ये महामलिन सत्पुरुषों द्वारा निन्दनीय और अनाचरणीय है। ये दोनों ही ध्यान अनायास ही पूर्व कर्मों के उदय से स्वभाव रूप से ही उत्पन्न होने वाले हैं। जहाँ तक कर्मों की प्रबलता रहती है, वहाँ तक निरन्तर हृदय में पैदा होते ही रहते हैं। ये इतने शक्तिशाली हैं कि उच्च स्थान प्राप्त बड़े-बड़े ज्ञानियों को, ध्यानियों को, तपस्वियों को, सयमियों को और मुनियों तक को उदय में आकर क्षण भर में पातालगामी बना देते हैं। ये मोक्ष मार्ग में अर्गला के समान बाधा स्वरूप और अटकाने वाले हैं। सद्वृत्ति का नाश करने वाले हैं। ये कलक के समान काले हैं,

* चार कोस का लबा, चार कोस का चौड़ा और चार कोस का गहरा, ऐसे चौरस कुए में देव कुरुक्षेत्र के युगलियों के बालों को आंख में डालने पर भी खटके नहीं ऐसे सूक्ष्म से सूक्ष्म कतर कतर करके ठसा ठस रूप से भरे जाय, ऐसे बालो से मुँह तक परिपूर्ण रीति से भरे हुए कुए में से सौ सौ वर्ष में केवल एक एक बाल अ श निकालते रहें, इस प्रकार जितने वर्षों में वह सारा का सारा कुआ खाली हो जाय, उतने वर्षों का एक पल्योपम होता है, ऐसे दस करोड़ा करोड़ी कुए खाली होवें, इतने वर्षों का एक सागरोपम होता है।

काम जैसे विष वाले हैं और पाप वृक्ष के बीज हैं। अन्य द्रव्य आदि का तो छोड़ना सहज है, परन्तु इनसे बचना बहुत ही कठिन है। प्रबल प्रतापी उच्च आत्माएँ ही इनका नाश करके अनन्त, अक्षय, अव्याबाध मोक्ष के सुखों को प्राप्त किया करती हैं।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के बाल ब्रह्मचारी मुनिश्री
अमोलक ऋषिजी म० रचित "ध्यान कल्पतरु" ग्रन्थ की द्वितीय शाखा रूप
रौद्रध्यान नामक परिच्छेद समाप्त।



-: उपशाखा-शुभ ध्यान :-

मोक्षः कर्म-क्षयादेव, स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः।
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि, तस्मात् तद् हितमात्मनः॥

कर्मों के क्षय से ही मोक्ष प्राप्त होता है, और कर्मों का क्षय सम्यग् ज्ञान से होता है, ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार सम्यग् ज्ञान शुभध्यान से होता है। इसलिए मुमुक्षुओं के लिए ध्यान ही आत्म-कल्याण का हेतु है।

—: प्रथम शाखा—ध्यान मूल :—

इस ससार में दो बातें अनादिकाल से चली आ रही हैं, एक अच्छी और दूसरी उसके प्रतिपक्ष रूप बुरी।

एक दूसरे से एक दूसरे की पहिचान होती है। जैसे रात्रि से दिन की और दिन से रात्रि की शीत से उष्ण की और उष्ण से शीत की, आचरणशील से व्यभिचारी की और व्यभिचारी से आचरणशील की, इस प्रकार परस्पर में पहिचान हुआ करती है।

सभी पदार्थों के गुण—अवगुणों की परीक्षा करके श्री दशवैकालिक सूत्र की आज्ञानुसार 'ज सेय त समायरे" अर्थात् जो श्रेयस्कर यानी कल्याणकारी हो उसी का आचरण करना चाहिए। उसे ही स्वीकार करना चाहिए।

अशुभ ध्यान में तो प्रवृत्ति बिना प्रयास के ही स्वाभाविक रूप से हुआ ही करती है। क्यों कि उसका अनादि काल से सबध है। किन्तु शुभ ध्यान में प्रवृत्ति होना अति कठिन है। कारण यह है कि कोई भी शुभ कार्य सहज में नहीं बना करता है। जैसे किसी विष के प्रयोग से मूर्च्छित हुआ पुरुष किंचित् विष का प्रभाव दूर होने पर चैतन्यता लाभ करता है, अथवा जैसे गाढ़ निद्रा में सोया हुआ पुरुष एक देश

निद्रा के अभाव होने पर कुछ स्मरण शक्ति युक्त होता है, अथवा जैसे पित्त आदि विकारों के कारण से मूर्च्छित पुरुष के विकार कुछ अंशों में दूर होने पर किंचित् चैतन्यता उत्पन्न होती है, वैसे ही निगोद आदि एक इन्द्रिय पर्याय में अनन्तानन्त काल तक परिभ्रमण करते करते अकाम (अनिच्छा पूर्वक परवशात्) कष्ट सहन करते करते कर्मों का किंचित अंश कमजोर होने पर द्वीन्द्रिय आदि त्रस पर्याय की प्राप्ति होती है। पुन कर्मों की अधिकता होने पर वह त्रस पर्याय प्राप्त जीव निगोद आदि पर्याय में चला जाता है। इस प्रकार अनन्तानन्त समय तक गमनागमन करते करते अति कठिनता से अनन्तानन्त पुण्यों की वृद्धि होने पर जीव पचेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त करता है। पचेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त करके भी पुन क्रूर कर्मों का आचरण करता हुआ पीछा निगोद आदि अवस्था में चला जाता है, और यदि पचेन्द्रिय ही बना रहा तो भी नरक आदि में असंख्य काल तक रहना पड़ता है। इस प्रकार अनन्तानन्त दुःख भोगते भोगते ज्यों ज्यों अशुभ कर्मों का अंश घटता जाय और शुभ कर्मों का अंश बढ़ता जाय त्यों त्यों यह जीव घुणाक्षर न्याय* के समान मनुष्य रूप में उत्पन्न होता है। ऐसा होने पर भी आर्य-क्षेत्र उत्तम कुल और इन्द्रियों की परिपूर्णता इत्यादि सामग्री का मिलना अति ही कठिन है। यदि पुण्योदय से प्राप्त भी हो जाय, तो भी शुभ ध्यान के अनुरूप योग्यता प्राप्त होना अति ही कठिन है। क्यों कि जिस आत्मा में अनादि भव्य सिद्धता का गुण होता है, वही आत्मा कषाय मल को विशुद्ध कर सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त कर सकता है। ऐसी ही आत्मा अनादि से प्रवर्तमान स्वभाव रूप आर्त्त रौद्र ध्यान का स्वरूप जान करके इनसे अपने आपको अलग करके शुभ ध्यान की योग्यता प्राप्त कर लेता है। अतएव शुभ ध्यान के लिये सर्व प्रथम सम्यक्त्व की आवश्यकता है। क्योंकि सम्यक्त्वी ही शुभ ध्यान में प्रविष्ट होने के लिये समर्थ होते हैं। इसीलिये सम्यक्त्व की दुर्लभता का कथन सर्व प्रथम किया गया है। अनादि कालीन मिथ्यात्वी को शुभ-पुण्य के सयोग से सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति हुआ करती है। परन्तु वह सज्ञी, पर्याप्त, मंदकषायी, भव्य, गुणदोष का विवेकी, साकार उपयोगी और जागृत अवस्था वाला होना चाहिये यानी इन गुणों से युक्त को ही सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हुआ करती है। इनसे विपरीत असज्ञी, अपर्याप्त, तीव्र कषायी, अभव्य निराकार उपयोगी, मोह निद्रा से मूर्च्छित, और सम्मूर्छिम जीवों को सम्यक् दर्शन नहीं उत्पन्न हुआ करता है।

पांच लब्धियों में से करण लब्धि नामक जो पांचवीं लब्धि है, और जिसके तीन भेद हैं, उनमें से अंतिम जो अनिवृत्ति करण नामक लब्धि है उसके अंत समय में सर्व प्रथम उपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है।

—: पांच लब्धियाँ :—

१ क्षयोपशम लब्धि, २ विशुद्ध लब्धि, ३ देशना लब्धि, ४ प्रयोग लब्धि और ५ करण लब्धि है। इन पांचों लब्धियों की यथा क्रम प्राप्ति होने पर ही सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हुआ करती है। चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य के भी हो सकती हैं, परन्तु करण लब्धि तो उन्हीं को हुआ करती है जो कि सम्यक्त्व और चारित्र को अवश्य ही प्राप्त करने वाले होते हैं।

—: लब्धियों का स्वरूप :—

ज्ञानावरणीय आदि आठों ही कर्मों की सभी अप्रशस्त प्रकृतियों की शक्ति का अनुभाग बंध समय

* जैसे कोई घुन नामक जीव काष्ट में उत्पन्न होकर उसको खाने के लिये प्रयत्न करता है और काष्ट को खोदते खोदते अनायास ही उसमें किसी भी अक्षर विशेष की आकृति बन जाती है, वैसे ही जीव को भी कर्मों के हल्के पड़ने पर मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हो जाया करती है।

नुसार अनत गुना कम होता हुआ अनुक्रम से उदय में आवे, तब ऐसा सयोग बनता है कि जिससे क्षयोपशम लब्धि की प्राप्ति होती है।

इस क्षयोपशम लब्धि के प्रभाव से आत्मा में सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का बध कराने वाले धर्मानुराग रूप शुभ विचारों की प्राप्ति होती है, और इसे ही विशुद्ध लब्धि कहते हैं❊।

छ द्रव्य और नव पदार्थों का स्वरूप आचार्य आदि के उपदेश से पहिचानना यही देशनालब्धि है। +

इन तीन लब्धियों से सयुक्त जीव यथासमय विशुद्धता की वृद्धि करता है और आयुकर्म को छोड़ कर शेप सात कर्मों की स्थिति जब अन्तर्मुहूर्त्त कम कोटाकोटी सागरापम जितनी रह जाती है उस समय में जो पूर्व स्थिति थी, उसमें से और भी कर्मों की स्थिति का घात करे इस प्रकार घातिया कर्मों का अनुभाग-बन्ध काष्ठ और लता के समान साधारण अवस्था में आ जाय यानी पर्वत समान दुर्भेद्य, नहीं रहे एव अघातिया कर्मों का अनुभाग नीम या काँजी समान साधारण अवस्था में आ जाय यानी हलाहल विप समान नहीं रहे एव अनुभाग का भी बहुत कुछ छेद कर डाले ऐसी स्थिति में कार्य करने की जो योग्यता प्राप्त होती है, वही "प्रयोग लब्धि" है। किन्तु जिस पर्याप्त और सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय के परिणाम सक्लेश रूप हों, तथा उत्कृष्ट स्थिति बन्ध और उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध हो तो ऐसे जीव के प्रथम उपशम सम्यक्त्व भी नहीं होता है।

—: द्वितीय उपशाखा—शुभध्यान विधि :—

किसी भी कार्य को विधि अनुसार करने से उस इष्ट कार्य की सिद्धि शीघ्र हुआ करती है। अतः मोक्ष कार्य की सिद्धि करने वाला जो ध्यान है, उसके सम्पादन की विधि का यहाँ पर उल्लेख किया जाता है।

> क्षेत्र द्रव्य काल भाव यह, शुभाशुभ विधि जान।
> अशुभ तजी शुभ आचरी, ध्याओ यह धर्म ध्यान॥

क्षेत्र द्रव्य, काल और भाव इन चारों के शुभ और अशुभ रूप से आठ भेद होते हैं इनमें से अशुभ भेदों का त्याग करके शुभ भेदों का ही ध्यान करना चाहिए।

ध्यान में मन को स्थिर करने के लिए क्षेत्र की, द्रव्य की काल की और भाव की शुद्धि की अति आवश्यकता है। सर्व प्रथम क्षेत्र सम्बन्धी शुद्धि-अशुद्धि का कथन करते हैं —

—: प्रथम पत्र—क्षेत्र :—

(१) अशुद्ध क्षेत्र की स्थिति विभिन्न प्रकार की कही गई है, उनमें से मुख्य रूपरेखा इस प्रकार है:—

(१) दुष्ट राजा के स्वामित्व का क्षेत्र और जहाँ पर अधार्मिक, पाखण्डी, म्लेच्छ कुलिंगी रहते हों, ऐसा क्षेत्र इन स्थानों पर उपसर्ग होने की सम्भावना रहती है।

❊ अशुभ कर्मों का रसोदय घटने से सक्लेश वाले विचारों की कमी होती है, और तब विशुद्ध विचारों की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है।

+ नरक आदि स्थानों पर उपदेशक नहीं हैं, वहाँ पूर्व जन्म में पठित तत्वों के सस्कार से और परम अधार्मिक देवों के उपदेश से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होना कहा जाता है।

(२) जहाँ पर पुष्प, फल, पत्र, धूप, दीप या मदिरा-मांस आदि हो, ऐसे स्थानों पर मन के चचल होने की सम्भावना रहती है।

(३) जहाँ पर व्यभिचारी स्त्री-पुरुष क्रीड़ा करते हों, कामोद्दीपक और शृंगारमय चित्र लगे हुए हों काम-क्रीड़ा के शास्त्रों का पठन-पाठन होता हो, वाद्य-यन्त्र बजते हों ऐसे स्थानों पर विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

(४) जहाँ मल्ल-युद्ध और कुश्तियाँ तथा लड़ाई-झगड़ा होता हो, झगड़े के शास्त्र पढ़े जाते हों, पचायती मामले चलते हों, ऐसे स्थानों पर सक्लेश पैदा होने की सम्भावना रहती है।

(५) जहाँ स्वामी द्वारा किसी का भी प्रवेश किया जाना निषेध किया गया हो, ऐसे स्थानों पर रहने से चोरी, क्लेश और मध्य में ही निकाले जाने की सम्भावना रहती है।

(६) जहाँ जुआ खेला जाता हो, कैदी रहते हों, मद्य-मांस बिकता हो, शिकारी रहते हों, शिल्पकार (कलाकार, चमार, सुनार, लुहार, रगरेज) आदि रहते हों, ऐसे स्थानो पर चित्त-विग्रह होने की सम्भावना रहती है।

(७) जहाँ नपुसक, पशु, तिर्यंच प्राणी, कुलक्षणा नारी, भांड, नटखट पुरुष आदि अयोग्य प्राणी रहते हों, ऐसे स्थानों पर अप्रतीति यानी अविश्वसनीयता की सम्भावना रहती है।

उपरोक्त ढग के क्षेत्र अशुद्ध और अयोग्य होते हैं, इन स्थानों को छोड़ कर ध्यान करना चाहिए।

(२) शुभ क्षेत्रों की गणना निम्नोक्त स्थानों के रूप में अथवा ऐसे ही अन्य क्षेत्रों के रूप में की जा सकती है —

(१) निर्जन स्थान—जहाँ विशेष मनुष्य आदि की बस्ती एवं आवागमन न हो।

(२) समुद्र अथवा नदी के किनारे पर वृक्षों के झुरमुट वाले स्थान।

(३) लताओं के मण्डप वाले स्थान।

(४) गुफा सयुक्त स्थान।

(५) पर्वत का कन्दरामय स्थान।

(६) श्मशान की छत्रियों वाला स्थान।

(७) सूखे वृक्षों की कोटर यानी खोखल रूप स्थान।

(८) शून्य ग्राम अथवा शून्य गृह।

(९) अशुद्ध क्षेत्रों में वर्णित दोषों से रहित स्थान।

(१०) शून्य एवं जीर्ण-शीर्ण देवालय इत्यादि स्थान निर्जीव निर्दोष और एकान्त हो तो वे ध्यान करने के योग्य हैं। ऐसे स्थानो पर ध्यान करने से चित्त में समाधि यानी शांति रहती है।

—: द्वितीय पत्र—द्रव्य :—

(१) जहाँ अस्थि, मांस, रक्त, चर्म मेद, मज्जा, चर्बी और मृत जानवरों के कलेवर, खान-पान के पदार्थ, पक्वान्न, ताम्बूल, औषधियाँ, इत्र, तेल, शय्या, पलग, आसन, स्त्री-पुरुष के शृंगार के वस्त्र, आभूषण, कामासन, स्त्री आदि के चित्र इत्यादि रूप से विविध प्रकार के द्रव्य हो वहाँ ध्यानियो का चित्त स्थिर रहना अति कठिन है, ऐसे अशुभ द्रव्यो के बीच में मन का निग्रह होना अति कठिन है।

(४) किन्तु शुद्ध, निर्जीव, पृथ्वी-शिला-पट पर, काष्ठ के आसन रूप पाट एव चौकी पर, पराल के आसन पर, ऊन सूत आदि द्वारा निर्मित शुद्ध वस्त्र पर ध्यानस्थ होने से परिणामो की धारा स्थिर रहने की सम्भावना है, ध्यान के इच्छुक को आहार भी थोडा तथा हलका ही करना चाहिए। आहार विशेष घृत तथा मसाले आदि मे रहित होना चाहिए। शीत आदि काल के अनुसार तथा प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए। समयानुसार तथा परिमित मात्रा-अनुसार होना चाहिए। ऐसा निर्दोष आहार करने से ही चित्त सुस्थिर एव ध्यान के अनुकूल रह सकता है।

ध्यान की इच्छा रखने वालो के लिए आज के युग मे तीन आसन विशेष उपयुक्त हैं। १ पद्मासन, २ पर्यंकासन और ३ दण्डासन। पालथी लगा कर दोनों जाघो पर दोनो पैर मिश्रित रूप से जमा कर विकसित कमल के समान दोनों हाथो की हथेली पर हथेला रख कर नाभि के पास स्थिर रखते हुए सुस्थिर ढग से बैठना पद्मासन है। साधारण पालथी लगा कर बैठना पर्यंकासन है। दण्डे के समान सीधे और स्वस्थ रूप से खड़े रहना दण्डासन है।

आसन तो कई एक अन्य भी हैं, जैसे कि वीरासन, लगुडासन, अम्बखुजासन, गोदूहासन आदि परन्तु वर्तमान युग में शारीरिक सघटन और शक्ति का ह्रास हो जाने से अन्य आसनो के द्वारा ध्यान-योग की साधना विशेष समय तक हो सकना कठिन है।

स्मरण-साधना अथवा गणना-साधना बीच की तीन अगुलियों के नौ अशों के आधार से बारह बार गिनने से एक सौ आठ बार के रूप में परिपूर्ण हो जाती है। हाथ में माला लेकर गिनना तो मध्यम श्रेणी की साधना है।

ध्यानी के लिये ध्यान में स्थिर होते समय नाक के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर और स्थायी रूप से जमाते हुए, चित्रस्थ मूर्ति के समान स्थिर और निश्चल होकर दोनों होठो को जरा ढीला रखते हुए एव चित्त सर्वथा सभी व्याधियो तथा विकल्पो से परिमुक्त होकर बैठने से ध्यान की सिद्धि सुलभता के साथ होने की सभावना रहती है।

-: तृतीय पत्र—काल :-

(५) अशुभ काल —

पहला, दूसरा, और तीसरा आरा अपेक्षा कृत रूप से तथा छठा आरा, इनमें धार्मिक पुरुषो के अभाव से ध्यान क्रिया की साधना अति स्वल्प ही होने की सभावना रहता है। इसी प्रकार अति उष्णकाल, अति शीतकाल अति जीवोत्पत्तिकाल, दुष्काल, विग्रहकाल, रोग ग्रस्तकाल इत्यादि समयो में भी ध्यान साधना बराबर नहीं हो सकती है क्यो कि ये अथवा ऐसे ही अन्य काल विग्रह करने वाले गिने जाते हैं।

(६) शुभ काल.—

ध्यान के लिये सर्वोत्तम काल तो चौथा आरा ही गिना जाता है। क्यो कि उसमें वज्र ऋषभ नाराच आदि सहननों की और उत्तम सस्थानों की एव अन्य अनुकूल सयोगो की विशेषताएँ रहा करती हैं। यही कारण है कि मारणांतिक कष्ट उपस्थित होने पर भी उसे सहन करते हुए ध्यान में स्थिर रहा जा सकता था।

इस पंचम काल में शारीरिक सस्थान और सहननो की न्यूनता होने से उस प्रकार का ध्यान नहीं हो सकता हैं। तथापि सर्वथा नास्ति रूप नहीं समझ लेना चाहिये। गुणी वस्तु का स्वभाव सदैव गुण रूप

हो रहेगा, चौथे आरे में शक्कर बहुत ही अधिक मधुर हुआ करती थी फिर भी काल प्रभाव से इस पंचम काल में मिठास में अन्तर आने पर भी शक्कर मधुर ही अनुभव में आती है इसी तरह से इस युग में भी यथा विधि किया हुआ ध्यान गुणकर्त्ता ही होगा। समयानुसार ध्यानकर्त्ता को शीत उष्णकाल का अपनी प्रकृति के अनुसार भी विचार रखना ही चाहिये।

श्रीउत्तराध्ययन सूत्र में "बीय भाए झियाइइ" ऐसा फरमाया है। जिसका तात्पर्य यह है कि दिन के और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ध्यान किया जाय। कितने ही ग्रन्थों में रात्रि के चौथे प्रहर में ध्यान करने का उल्लेख पाया जाता है। यह द्रव्य क्षेत्र, काल और विधि की विविधता और शुभाशुभ स्थिति केवल अपूर्ण ज्ञानी और अस्थिर चित्तवृत्ति वालों के दृष्टिकोण से कही गई है, किन्तु जो पूर्ण ज्ञानी हैं, अडोलवृत्ति वाले हैं और निर्विकार हैं, उनके लिए तो ध्यान दृष्टि से सभी क्षेत्र, द्रव्य और काल अनुकूल ही हुआ करते हैं।

—: चतुर्थ पत्र—भाव :—

(७) अशुद्ध भाव —

अशुभ अथवा अशुद्ध भावों का वर्णन जैसा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में बतलाया गया है, वैसा ही समझना चाहिए। विषय, कषाय, आश्रव, अशुभयोग, असमाधि, चपलता, विफलता, अधैर्य, नास्तिकता, कठोरता, रागद्वेष रूप परिणाम आदि सभी अशुभयोग ही गिने गये हैं। इनसे भावों में मलिनता ही पैदा हुआ करती है।

(८) शुभ भाव चार प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं —

मैत्रीप्रमोदकारुण्य–मध्यस्थानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनं ॥

—योग शास्त्र

अर्थात् मैत्री भाव, प्रमोद भाव, करुणा भाव और मध्यस्थ भाव, इन चारों ही भावना के बल से धर्मध्यान की रसायन पैदा होती है।*

१ मैत्री भावना—"मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणइ।"

अर्थात् सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री भावना है और किसी के भी साथ में मेरा वैर अथवा शत्रुता नहीं है। इस संसार में सभी जीवों का जो परस्पर में माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, बहिन, पुत्रवधू आदि का सम्बन्ध है, वह प्रत्येक जीव के साथ अनन्त वार हो चुका है।

श्रीभगवती सूत्र और श्रीजम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कहा गया है कि 'असई अदुवा अणंतखुत्तो" अर्थात् इस आत्मा ने संसार में अनन्त वार जन्म मरण करके सम्पूर्ण संसार का स्पर्श किया है। इस सिद्धान्त के आधार से विश्ववासी सभी जीव अपने मित्र हैं। जैसा वर्तमानकालीन कुटुम्ब पर प्रेम होता है, वैसा ही

* मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां, सुख दुःख पुण्यापुण्यविषयाणाम् भावना तश्चित्त प्रसादनम् ॥ ३३ ॥

—पातंजल योग दर्शन —

अर्थ—सुखी प्राणियों में मित्रता, दुखियों पर दया, धर्मात्माओं के प्रति हर्ष, और पापियों पर मध्यस्थवृत्ति, ऐसे व्यवहार से चित्त प्रसन्न रहता है।

सभी जीवों के साथ रखना चाहिए। सूक्ष्म (जो आँखो से दिखलाई नहीं पडे), बादर (जो आँखों से दिखलाई पडे), त्रस (जो चल फिर सकें) और स्थावर (जो चल फिर नहीं सकें), इन सभी प्रकार के जीवों को अपनी आत्मा के समान ही समझना और सभी को सुखी चाहना, यही मैत्री भावना है।*

(२) प्रमोद भावना —

इस संसार में अनेक सत्पुरुष हैं, और वे विविध सद्गुणों से युक्त हैं, कितने ही महापुरुष ज्ञान के सागर हैं। अनेक सूत्रों के ज्ञाता, स्याद्वाद की शैली द्वारा जैनागमों के रहस्य को श्रोताओं के हृदय में जमाने वाले, सिद्धान्तों के सम्बन्ध को समझाने वाले, तर्क वितर्क द्वारा गम्भीर विषय को भी सरल करके बताने वाले, नय निक्षेप प्रमाण आदि न्याय के पारगामी, कुतार्किकों का शांत रीति से समाधान करने वाले, प्रभावशाली सद्बोध स धर्म को उन्नति करने वाले, विलक्षण कवित्व शक्ति एव वक्तृत्वशक्ति के धारण करने वाले, आदि आदि अनेक ज्ञान गुणों के धारक हैं। आत्म ध्यानी, गुण ग्राही, अल्पभाषी, स्थिर-आसन शील, गुणानुरागी, सदैव धर्म रूप वाटिका में अपनी आत्मा को रमण कराने वाले होते हैं। कितने ही महान तपस्वी होते हैं। मास क्षमण आदि विशाल तप के करने वाले, उपवास आयंबिल आदि के कर्त्ता, षट्रस रूप विगय के त्यागी, एक दो द्रव्य पर ही निर्वाह करने वाले, शीत ताप, केश लुञ्चन आदि विविध काय-क्लेश रूप तप के करने वाले हैं। कितने ही ज्ञान और तप की शक्ति से रहित होने पर भी स्वधर्मी बन्धुओं की सेवा भक्ति किया करते हैं। आहार, वस्त्र, शैय्या, आसन, आदि का प्रतिलाभ देते हुए साता उपजाया करते हैं।

कितने ही सद्गृहस्थ तन मन धन से चारों ही तीर्थों की भक्ति करने वाले होते हैं। धर्म की उन्नति करने वाले और प्राप्त पदार्थों को सन्मार्ग में लगाने वाले होते हैं।

ऐसे ही उत्तमोत्तम अनेक गुणज्ञों के दर्शन करके, उनकी प्रशंसा सुन कर प्रसन्न होना, तथा ऐसे विचार लाना कि "धन्य भाग है कि हमारे धर्म में ऐसे २ नररत्न उत्पन्न हुए हैं, जो कि धर्म की प्रभावना करते हैं, ऐसे महापुरुषों की सदैव जय हो।" ऐसा विचार कर उनका सत्कार सन्मान करना, उन्हें साता उपजाना, अन्य द्वारा उनकी भक्ति की जाने पर हर्षित होना इत्यादि रूप से प्रकटित होने वाली भावना प्रमोद भावना है।

(३) करुणा भावना —

सांसारिक सभी प्राणी कर्माधीन होकर अनेक कष्ट पाते रहते हैं। कितने ही अन्तराय कर्म की प्रबलता से हीन दीन होकर दुःखी हो रहे हैं। खाना, पीना, वस्त्र, गृह आदि के अभाव से पीड़ित हैं, कितने ही वेदनीय कर्म की वृद्धि से कुष्ट आदि विविध रोगों से ग्रसित होकर महान् दुःख भोग रहे हैं। अनेक प्राणी काष्ट खोड़ा बेड़ी आदि रूप से बन्दी होकर विपत्ति में भ्रमित हैं। कई शत्रुओं द्वारा बन्दीगृह में पड़े हुए हैं। बहुत से ऐसे हैं, जो कि शीत, ताप, क्षुधा, तृषा आदि विविध रीति से कष्ट पा रहे हैं। कितने ही अंधे, लूले, लंगडे, बधिर, मूक, गूंगे आदि रूप से विकलांग होकर महान् कष्ट भोग रहे हैं। कितने ही पशु, पक्षी,

---

* यथा आत्मनः प्रिया प्राणाः, तथाऽन्येषामपि प्राणिनाम्।
इति मत्वा न कर्त्तव्यः, घोरः प्राणिवधो बुधैः ॥

अर्थात्—जैसे अपने प्राण अपने को प्रिय हैं, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी उनके प्राण प्रिय हैं, ऐसा समझ कर बुद्धिमानों को घोर पाप रूप प्राणि वध यानी जीव हत्या नहीं करना चाहिए।

जलचर, वनचर, आदि प्राणी पराधीनता की जाल में पड़े हुए हैं। ऐसे दुःखी प्राणीवध, बन्धन, ताडन, तर्जन आदि का दुःख पा रहे हैं। इत्यादि रूप से अनन्त प्राणी विविध विपत्तियों को भोग रहे हैं। वे सुख के लिए लालायित हैं। 'अरे! कोई दयावान् हमें सुखी करे, जीवन दान देवे दुःख सकट से उद्धार करे", इत्यादि रूप से करुणामय प्रार्थना किया करते हैं। ऐसे दुःखी जीवों को देख कर सहानुभूति प्रकट करना, करुणा लाना, उन्हें दुःख से छुड़ाने के लिए यथाशक्ति यथायोग्य प्रयत्न करना एव उन्हें सुखी देखने की भावना उत्पन्न करना ही करुणा भावना है।

(४) माध्यस्थ भावना.—

इस विश्व में कितने ही प्राणी अघोर कर्मी, पापी, सद्गुणों को और सत् कर्मों को छोड़कर दुर्गुणों को और दुष्ट कर्मों को किया करते हैं। सदा क्रोध में सतप्त रहते हैं, मान से अकड़े हुए रहते हैं, माया से भरे हुए होते हैं, लोभ में तत्पर रहते हैं, निर्दयता पूर्वक अनाथ प्राणियों की हिंसा करते रहते हैं, मदिरा मांस, कन्दमूल आदि अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण किया करते हैं, असत्य, चोरी, मैथुन आदि में अपनी चतुराई बतलाया करते हैं, विषयी वेश्यागामी और परस्त्रीगमन में आनन्द मानते हैं, जुआ आदि दुर्व्यसनों में अनुरक्त और अठारह पापों में सलग्न, देव गुरु धर्म के निमित्त हिंसा करने वाले, हिंसा में धर्म मानने वाले, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले, अच्छे की निंदा करने वाले और अपनी प्रशसा में मग्न इत्यादि ऐसे पापी जीवों को देख कर राग द्वेष से रहित होकर मध्यस्थ विचारों के साथ ऐसा विचार करे कि "अहो! देखो, इन बेचारे जीवों की कैसी विषम कर्म गति है। चार गति रूप ससार में अत्यन्त कष्ट सहन करते-करते, अनन्त कष्ट से मुक्ति कराने वाली, अनन्तानन्त पुण्यों के उदय से, मनुष्य जन्म आदि उत्तमोत्तम सामग्रियाँ प्राप्त हुई है, उन्हें ये व्यर्थ में खो रहे हैं, इन्हें कुमार्ग में लगा रहे हैं। सुख की इच्छा से दुःख का उपार्जन कर रहे हैं, ककर के खरीदने में चिंतामणि रत्न दे रहे हैं और विष लेकर बदले में अमृत दे रहे हैं, सुधरने के स्थान पर बिगाड़ का कार्य कर रहे हैं।"

"हे प्रभो! इन बेचारे अनाथ और पामर जीवो की इन कुकर्त्तव्यों के फल को भोगने के समय में क्या दशा होगी? कैसी विडम्बना प्राप्त करेंगे? उस समय कैसा प्रायश्चित करेंगे? परन्तु इन मूढ जीवों का क्या दोष है? अज्ञानता वश और अशुभ कर्मो के उदय से इनको सद्बुद्धि की प्राप्ति नहीं हो रही है, जैसा-जैसा जिनका भवितव्य होता है वैसा वैसा ही उनके लिये सयोग प्राप्त होता रहता है।"

इस प्रकार के विचारों से उन पर रागद्वेष नहीं लाते हुए मध्यस्थ भाव से उन पर उदासीनता लाना और उनकी उपेक्षा करना, यही माध्यस्थ भावना है। इन चारों ही भावनाओं की इस प्रकार आराधना करते हुए और ऐसा ही व्यवहार करते हुए यह आत्मा राग, द्वेष, विषय, कषाय, क्लेश, मोह आदि शत्रुओं का नाश करने में शक्तिशाली हो सकती है। ऐसी भावना रखने वाली आत्मा के हृदय में उक्त रागद्वेष आत्मक शत्रुओं के लिये टिकने का स्थान प्राप्त नहीं हो सकता है।

—: तृतीय उप शाखा—शुभ ध्यान साधन :—

पूर्वाचार्यों ने चित्त (मन) की प्रसन्नता और ध्यान की सिद्धि करने के लिए आठ अङ्ग फरमाये हैं। वे इस प्रकार हैं —

कैश्चिद्यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि।

१ यम, २ नियम ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि । इन आठ प्रकार के साधनो से योगाभ्यास यानी ध्यान की सिद्धि होती है ।

—: प्रथम पत्र—यम :—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।"

यम के पाँच भेद हैं.—

(१) अहिंसा—त्रस स्थावर सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझना और उनके साथ मैत्री भाव रखना, जिससे सभी प्राणी सज्जन वृत्ति को धारण करें ।

(२) सत्य—इन्द्रियों और मन द्वारा जैसे भाव मालूम हुए हों, जो किसी के लिए दु खदाता नहीं हो, जो गुणों के ही प्रसारक हों ऐसे वचन अवसर के अनुसार ही बोलना, यही सत्य धर्म है और इसी रीति से वचनों की सिद्धि हुआ करती हैं ।

(३) अस्तेय—स्वामी की आज्ञानुसार जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही सजीव अथवा निर्जीव वस्तु लेना, जिसके बिना काम रुका हुआ हो, और जो स्वामी द्वारा अन्त करण के हर्ष के साथ दी जाती हो । यही अस्तेय धर्म है ।

(४) ब्रह्मचर्य—इन्द्रियों को और मन को जो विकारमय बनावे, ऐसे शब्द आदि विषयों से निवृत्ति धारण करना ही ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य से शरीरबल और बुद्धिबल बढ़ता है ।

(५) अपरिग्रह—मनोज्ञ और अनमोज्ञ वस्तुओं पर रागद्वेष की भावनाएँ नहीं लाना और पदार्थों की मर्यादा बाँधना अपरिग्रह धर्म है । इससे त्रिकालज्ञ बनता है । इन पाँचो ही यम रूप धर्म का परिपूर्ण पालन करना चाहिए ।

—: द्वितीय पत्र—नियम :—

"शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः "

नियम के भी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर ध्यान ये पाँच भेद होते हैं —

(१) शौच❀ बाह्य दृष्टि स सात दुर्व्यसनों का त्याग करे । वे सात दुर्व्यसन इस प्रकार हैं:—

१ ठगाई, २ ईर्षा, ३ मदान्धता, ४ पर वस्तु रमणता, ५ आवश्यकता से अधिक सचय, ६ मिथ्या व्यवहार, जिससे दूसरों को क्षोभ पैदा हो और ७ अनाचार । शरीर को अपवित्र पदार्थों से अलग रक्खे जिससे आस पास वालों को घृणा नहीं होवे । आभ्यन्तर शुचि का तात्पर्य है-काम, क्रोध आदि से अलग रहना, जिससे मन सदैव निर्मल रहे ।

❀ सत्यशौच तप शौच, शौच इन्द्रियनिग्रह । सर्व प्राणभूत दया शौच, जल शौच तु पचम ॥

सत्य बोलने से, तप करने से, इन्द्रियों का निग्रह करने से, जीवों की रक्षा करने से और जल से, इन पाँचों पद्धति से पवित्रता की प्राप्ति हुआ करती है ।

अशुचि करुणाहीन, अशुचिर्नित्यमैथुन । अशुचि परद्रव्येप्सा, अशुचि परनिन्दा भवेत् ॥

दया रहित, नित्य मैथुन सेवन करने वाला, चोरी करने वाला और निन्दक ये चारो सदा अशुद्ध ही रहते हैं ।

—चाणक्य नीति

(२) सन्तोष—अन्न आदि का आहार उतना ही करे, जिससे कि क्षुधा तृषा की निवृत्ति हो जाय। वस्त्र उतने ही ग्रहण करे, जिनसे कि लज्जा आदि व्यवहार सिद्ध हो जाय और शीत आदि उपसर्गों से रक्षा हो सके, मकान, शय्या आदि का अति परिमित रूप से ही व्यवहार करे और वह भी अनित्यवासी होकर इच्छाओं और आकांक्षाओं से परे रहे, जिससे कि निर्दोष जीवन के साथ शांत और सुखी हो सके।

(३) तप—शीत, ताप, क्षुधा, तृषा, ताड़न तर्जन वाक्य प्रहार इत्यादि कष्टों को समभाव से सहन करे, धर्म, वृद्ध-सेवा, सद्‌गुण आदि का आचरण करे, जिससे ऋद्धि-सिद्धि को प्राप्ति होवे।

(४) स्वाध्याय—शास्त्रों का पठन, मनन और ॐकार, णमोक्कार आदि का स्मरण करे, जिससे इष्ट देवता प्रसन्न होवें और इष्ट कार्य की सिद्धि होवे।

(५) प्रणिधान—ईश्वर में सभी भावों को समर्पित कर दे, अर्थात होनहार किसी भी प्रयत्न से टाला नहीं टल सकता, ऐसा जानकर शुभाशुभ बर्ताव से मन में मत्क्लेश नहीं लावे, ऐसा करने से समाधि भाव की प्राप्ति होती है इस प्रकार इन पाँच नियमों को धारण करना चाहिए।

—: तृतीय पत्र—आसन :—

समं कायशिरोग्रीवं, धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं, स्वंदिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशांतात्मा विगतभी र्ब्रह्मचारी व्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीतमत्परः ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियत मानसः। शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि "अहो अर्जुन! काय अर्थात् पीठ, मस्तक, और गर्दन, को सम करके अर्थात् सीधी खड़ी रेखा में निश्चल करके स्थिर होता हुआ, दिशाओं को यानी इधर-उधर नहीं देखे, और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमा कर, निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य व्रत पाल कर तथा मन का सयम करके मुझ में ही चित्त लगा कर, मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय। इस प्रकार सदा अपना योगाभ्यास जारी रखने से मन काबू में होकर योगी को मुझ में रहने वाली और अन्त में निर्वाण पद अर्थात् मेरे स्वरूप में लीन कर देने वाली शान्ति प्राप्त होती है।

इस प्रकार आसन वही श्रेष्ठ है, जिससे मन की और शरीर की स्थिरता बनी रहे। उपरोक्त यम और नियम से वाह्य और आभ्यन्तर दोनों तरीकों से आत्मा को शुद्ध करके, दृढ़ आसन पर स्थित होकर फिर ध्यान की सिद्धि के लिए प्राणायाम आदि क्रियाएँ की जानी चाहिए, उन्हीं का अत्र उल्लेख किया जाता है।

—: चतुर्थ पत्र—प्राणायाम :—

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।"

श्वास उच्छ्‌वास का रोकना ही प्राणायाम कहलाता है।

प्राणायाम करने वाले के लिए शुद्ध स्थान, स्वच्छ आसन, चिन्ता रहित मन और रोग रहित शरीर की आवश्यकता हुआ करती है। भोजन करने के पश्चात् अथवा मलमूत्र के परित्याग करने के शकामय समय में प्राणायाम की क्रिया करना उचित नहीं है। इन बातों का पूर्ण विचार कर उपरोक्त आसन पर स्थित होकर प्राणायाम की क्रिया प्रारम्भ करना चाहिए।

सर्व प्रथम अपने इष्टदेव का स्मरण "ॐ" अथवा "अर्हं" के जाप के रूप में करना चाहिए। तत्पश्चात् ऐसा सकल्प करे कि मैं शरीर शुद्धि के लिए प्राणायाम प्रारम्भ करता हूँ। तत्पश्चात् प्राणायाम की क्रिया प्रारम्भ करे। वह इस प्रकार है:—

—: वाह्य प्राणायाम :—

सर्व प्रथम इडा नाड़ी अथवा इगला नाड़ी यानी दाहिनी नासिका के छिद्र से धीरे-धीरे प्राण वायु उदर में अथवा हृदय में भरना, इसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं, उस वायु को दो मिनिट तक रोके रखना, इसे पूरक प्राणायाम कहते हैं। इसके वाद पिंगला नाड़ी यानी वायीं नासिका के छेद से उस रोकी हुई वायु को धीरे-धीरे निकालना 'रेचक प्राणायाम" कहलाता है। ऐसी साधना हो जाने पर समझ लेना चाहिए कि 'मैं प्राणायाम क्रिया को साध सकूँगा।" इस प्राणायाम के साधक को प्रति दिन इसी तरह से प्रात'काल, मध्याह्नकाल और सायकाल, तीनों कालों में अस्सी-अस्सी वार साधना करनी चाहिए। यों वरावर दो महीने तक साधना करने से 'सुषुम्ना" का उत्थान हुआ गिना जाता है। इस उत्थान क्रिया से आत्म ध्यान करने की योग्यता प्राप्त होती है। मन की स्थिरता होती है और शरीर के भीतर की प्राण वायु वहुत शुद्ध हो जाती है।

इस प्रकार दो महीने की साधना के वाद केवल कुम्भक प्राणायाम की क्रिया प्रारम्भ की जाती है। केवल कुम्भक की क्रिया में भी प्राणायाम के समान ही सब विधि करना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि हृदय में अथवा उदर में वायु को यथाशक्ति दो मिनिट से कुछ अधिक मिनिट तक रोक रखना चाहिए, इसे केवल कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। इस रीति से प्रतिदिन तीनों समय में प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायकाल में वीस-वीस वार और वाद में तीस-तीस वार दो महीने तक यह क्रिया की जानी चाहिए। ऐसी साधना होने पर केवल कुम्भक प्राणायाम की सामान्य सिद्धि हुई, ऐसा कहा जा सकता है।

इस केवल कुम्भक क्रिया की साधना से पित्त से और कफ से उत्पन्न होने वाले छाती के रोग, क्षय-रोग और श्वासरोग आदि रोगों की शाति होती है। शरीर हलका होता है। मन में स्वस्थता वढ़ती है, जिससे मन में उठने वाले अनेक विकल्प शान्त हो जाते हैं।

—: पाँच वायु की शुद्धि का उपाय :—

हृदि प्राणो गुदेऽपानं, समानो नाभिमंडले।
उदानः कण्ठदेशे स्यात्, व्यानं सर्वशरीरगं ॥

हृदय में प्राण वायु रहता है, गुदा में अपान वायु रहता है नाभि मण्डल में समान वायु, कण्ठ में उदान वायु और सारे शरीर में व्यान वायु रहता है। प्राण वायु के विजय के लिये हृदय में चित्तवृत्ति को स्थित करके "ऐं" मन्त्र का स्मरण किया जाता है, अपान वायु के विजय के लिए नाभि मण्डल में चित्तवृत्ति को स्थित करके रौं मन्त्र का जाप किया जाता है। समान वायु के विजय के लिए भी चित्तवृत्ति को नाभि मण्डल पर एकाग्र कर 'पैं" मन्त्र का ध्यान किया करते हैं। उदान वायु को जीतने के लिये कठ स्थान में चित्तवृत्ति को रोक कर "व्लों" मन्त्र की साधना की जाती है और व्यान वायु को जीतने के लिये सारे शरीर में चित्तवृत्ति को रोक कर "क्लों" मन्त्र की आराधना की जाती है। यह जाप एकाग्रतापूर्वक एक मुहूर्त्त तक किया जाता है, इस प्रकार पाँचों वायु पर नियत्रण प्राप्त कर लेने पर जठराग्नि की प्रवलता

होती है, जिससे शरीर सम्बन्धी अनेक रोग जलकर भस्म हो जाते हैं, शरीर में स्वस्थता और लघुता प्राप्त होती है। अन्य कई एक लाभ भी होते हैं, ऐसा कथन श्रीहेमचन्द्राचार्य ने स्व रचित योग शास्त्र नामक ग्रथ में किया है।*

—: आभ्यंतर प्राणायाम :—

मन वचन, और काया को ही आत्मा समझना, जड़ चैतन्य में अन्तर नहीं जानना, पौद्गलिक तत्त्वों में ही तन्मय होना, यह सब बाह्य-आत्म-भाव है। इनका त्याग करना ही आभ्यतर रेचक प्राणायाम है। आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्र द्वारा पूरना, यही पूरक प्राणायाम है। औपशमिक और क्षायोपशमिक आदि भावों को स्थिर करना ही आभ्यतर कुम्भक प्राणायाम है। इस तरह से दोनों प्रकार के प्राणायामों से आत्मज्ञान को ज्योति प्रदीप्त होती है।

—: पंचम पत्र—प्रत्याहार :—

प्राणायाम करने से यदि मन में विग्रह उत्पन्न हो जाय तो उसको स्थिर करने के लिये प्रत्याहार करना पड़ता है। प्रत्याहार कर्त्ता को बहिरात्म भाव से, इन्द्रियों को विषयों से, मन को पौद्गलिक परिणति से विलग करके, औदयिक भावों से चित्तवृत्ति को मोड़कर क्षायोपशमिक औपशमिक और क्षायिक भावों की वृद्धि करनी पड़ती है। इसी प्रकार शरीर के किसी भी एक अवयव पर मन को स्थिर कर एकाग्रता लानी पड़ती है, इससे मन पर नियत्रणता प्राप्त होती है। इस प्रकार कुछ समय तक मन की एकाग्रता का अभ्यास करना पड़ता है, तत्पश्चात मन की वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके धारणा वृत्ति धारण करनी पड़ती है।

:— छठा पत्र—धारणा :—

" देशबंधश्चित्तस्य धारणा "

अर्थात्—भटकते हुए चित्त को रोक कर इष्ट देव में एकाग्रता पूर्वक स्थिर करना ही धारणा है।

जैसे कामी का मन कामिनी में, लोभी का मन धन में, और विद्यार्थियों का मन विद्या में बिना किसी प्रेरणा के ही रात दिन सलग्न रहता है, वैसे ही अथवा इनसे भी अधिक ऋषि मुनियों की चित्तवृत्ति धारणा वृत्ति को धारण करते समय एकान्त रूप से तत्त्वार्थ के चिन्तन में और सत्शास्त्रों के रहस्य में अखड रूप से रमण करती रहती है। जैसे वासुदेव महाराज प्रतिवासुदेव को परिपूर्ण रीति से पराजित करने के लिये वीरता से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करते हैं, वैसे ही कर्म शत्रु को पराजित करने के लिये चित्त वृत्ति को अखड रूप से सलग्न करना चाहिये।

मुमुक्षु प्राणी ऐसा चिन्तन करे कि "मैं अनन्त ज्ञान आदि चतुष्टय का धारक हूँ, अनन्त शक्तिमान हूँ, और मेरे ये प्रतिपक्षी कर्म रूप शत्रु हैं, इन्होंने मुझे अपने निज स्वभाव से भुलावा देकर अनन्त दुःख रूप विडम्बना में डाल रक्खा है, मुझे यह बात अब मालूम हुई है, मेरे लिए यह परम सौभाग्य है कि यह विचार धारा मेरे सुधार की सूचना देने वाला है। अब उपेक्षित होकर इस असाधारण अवसर को चले जाने देना मेरे लिए सर्वथा उचित नहीं है। ऐसी दृढ़ता पूर्वक धारणा करने से सांसारिक सभी पदार्थों के प्रति रागद्वेष के परिणाम मद पड जाते हैं। आत्मा समभावी हो जाती है। आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अब आगे कर्म शत्रुओं के नाशक ध्यान का कथन किया जाता है।

---

* " देखा देखी साधे योग, पड़े पिण्ड के बढे रोग „ इस लोकोक्ति को ध्यान में रखते हुए प्राणायाम क्रियाओं की साधना गुरुज्ञान के बिना नहीं की जानी चाहिये।

—: सातवां पत्र—ध्यान :—

"तत्र प्रत्येकैकतानता ध्यानं ।"

धारणा के पश्चात् ध्यान होता है, जिसकी धारणा निश्चित की हो, उसमें तन्मयता लाना, उससे अभिन्न होना ही ध्यान है। ध्यान के दो भेद हैं—१ सावलम्बन ध्यान और २ निरावलम्बन ध्यान।

णमोक्कार मन्त्र, णमोत्थुणं, लोगस्स, ॐ, अर्हं अथवा सोऽहं तत्त्वमसि, अहं ब्रह्माऽस्मि इत्यादि पदों का अवलम्बन लेकर जो ध्यान अथवा चिन्तन किया जाता है, वह सावलम्बन ध्यान है। इसी प्रकार किसी भी बाह्य अथवा आन्तरिक आत्म भाव पर या किसी एक प्रत्यक्ष वा परोक्ष पदार्थ पर दृष्टि स्थापित कर उसके द्रव्य गुण पर्यायों का ज्ञान पूर्वक विचार करना भी सावलम्बन ध्यान ही है।

केवल आत्म तत्त्व का विकल्प रहित चिन्तन करना निरावलम्बन ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करने से समाधि भाव की प्राप्ति हुआ करती है।

—: आठवां पत्र—समाधि :—

"तदेवार्थमात्र-निर्भासं, स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।"

ध्यान के पश्चात ही समाधि की प्राप्ति हुआ करती है। समाधि अवस्था में ध्याता भान भूल कर स्वयमेव ध्येय रूप बन जाता है। परिपूर्ण रीति से आत्मानुभव की प्राप्ति हुआ करती है। निर्विकल्प वृत्ति से आत्म स्वरूप में तन्मयता उत्पन्न हुआ करती है। ऐसी ही अवस्था में अखण्ड सुख का अनुभव होता है। ऐसे समाधिशील की मुखमुद्रा सदा प्रफुल्लित, वचन शीतल, इन्द्रियाँ निर्विषयी, काया अत्यन्त गौरवयुक्त, मन निश्चल और अकुटिल तथा जीवन सभी के लिए आनन्ददाता बन जाता है।

"त्रयमेकत्र संयमः ।"

धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का सम्मिलित संयोग ही संयम है। संयम से ही सभी सुखों की और परम पद की प्राप्ति हुआ करती है।

—: शुभ ध्यान का फल :—

इस विधि से किया हुआ ध्यान आत्मा के लिए मोक्ष पथ को सम्पर्क कराने वाला है। हृदय के ज्ञान दीपक को प्रज्वलित करने वाला है। अतीन्द्रिय आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति कराने वाला है। इस प्रकार ध्यान क्रिया का अभ्यास करने से ही आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। ध्यान प्रेमी आत्मा के चित्त को इन्द्रियां के विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते हैं। मोह रूप निद्रा स्वयमेव क्रमशः नष्ट होती हुई अन्त में परिपूर्ण रूप से क्षय हो जाती है और इसके स्थान पर ध्यान समाधि रूप आध्यात्मिक निद्रा अपना स्थान लेती है। इस प्रकार शुद्ध ध्यान में प्रवृत्ति करने से आत्मा में महान् पराक्रम प्रस्फुटित होता है क्रम से वीतराग दशा की प्राप्ति होती है ऐसे समय में ध्याता को मुक्ति सुख का अनुभव इसी अवस्था में होने लगता है। इस प्रकार प्रबल शक्ति युक्त ध्यान का यह विधि पूर्वक विवेचन हुआ।

इन क्षेत्र आदि आठ प्रकार के शुद्धाशुद्ध ध्यान साधनों में से अशुद्ध का परित्याग करके शुद्ध का आराधन करने से और यम नियम आदि आठों साधनों की विधि पूर्वक साधना करने से ध्याता को ध्यान की सिद्धि प्राप्त हो सकेगी।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज के सम्प्रदाय के बाल ब्रह्मचारी मुनि
श्री अमोलक ऋषिजी महाराज द्वारा रचित "ध्यान कल्पतरु" ग्रन्थ की
शुभ ध्यान नामक उपशाखा समाप्त।

-: तृतीय शाखा--धर्म ध्यान :-



जैसे अशुभ ध्यान के दो भेद आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान कहे गये हैं, वैसे ही धर्म ध्यान के भी दो भेद जानना चाहिये। वे इस प्रकार हैं—१ धर्म ध्यान और २ शुक्ल ध्यान।

पहले उपशाखा में शुभ ध्यान करने की विधि बतलाई गई है, अब यहाँ पर ध्यानस्थ हो जाने के बाद सात्विक विचार करने की पद्धति का निरूपण किया जाता है।

(१) जिन सात्विक विचारों के बल से एकान्त रूप से कर्मों की निर्जरा होती हो, सभी कर्मों का क्षय होता हो और मोक्ष रूप फल की प्राप्ति होती हो, वे विचार शुक्ल ध्यान के अन्तर्गत हैं। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(२) जो सात्विक विचार धारा विशेषत अशुभ कर्मों का और किंचित् शुभ कर्मों का नाश करे, निर्जरा और पुण्य प्रकृति का उपार्जन करावे, वह धर्म ध्यान है। अब इनका क्रमश. वर्णन किया जाता है।

-: प्रथम प्रतिशाखा—धर्म ध्यान के पाये :-

धम्मे झाणे चउविहे चउप्पडायारे पण्णते तंजहा—आणा विजए, अवाय विजए, विवाग विजए, संठाण विजए।

धर्म ध्यान के चार पाये, चार लक्षण चार अवलम्बन और चार अनुप्रेक्षा, यों सोलह भेद श्रीतीर्थंकर भगवान् ने फरमाये हैं। उनमें से चार पाये इस प्रकार हैं—आज्ञा विचय अपाय विचय, विपाक विचय, और सस्थान विचय।

जैसे वृक्ष के चिर स्थायित्व के लिये जड़ का मजबूत होना अति आवश्यक है, वैसे ही ध्यान को स्थिर करने के लिये चार प्रकार के विचारों का चिन्तन मनन करना पड़ता है।

(१) श्रीभगवान् ने इस जीव की मुक्ति के लिये हेय (छोड़ने योग्य) ज्ञेय (जानने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने के योग्य) के रूप में क्या आदेश उपदेश फरमाया? इसका चिन्तन करना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है।

(२) यह जीव अनन्तकाल से क्यों दु खी है? और यह दु ख किन कारणों से दूर हो सकता है? ऐसा विचार करना अपाय विचय धर्म ध्यान है।

(३) कर्म क्या है? कैसे उत्पन्न होते हैं? और क्या-क्या फल देते हैं? इस ढग के विचार करना ही विपाक विचय धर्म ध्यान है।

(४) इस ससार में इस आत्मा को परिभ्रमण करते करते अनन्तानन्त काल हो गया है, तो फिर इस ससार का क्या स्वरूप है? ऐसा चिन्तन करना ही सस्थान विचय धर्म ध्यान है।

अब क्रमश इन चारों का विस्तृत वर्णन किया जाता है —

—: प्रथम पत्र—आज्ञा विचय :—

आज्ञा विचय नामक धर्म ध्यान का ध्याता ऐसा अनुचिन्तन करे कि इस विश्व में रहने वाले अनेकानेक प्राणी आत्म कल्याण की आकांक्षा किया करते हैं, उस आत्म कल्याण की प्राप्ति केवल श्रीजिनेश्वर भगवान की आज्ञा अनुसार प्रवृत्ति करने से ही हो सकती है श्रीजिनेश्वर भगवान की आज्ञा में रहते हुए ही साधु वर्ग और श्रावक वर्ग जो क्रिया करते हैं, वह क्रिया ही आत्म कल्याण की साधिका है। भगवान के आदेश से अधिक, अथवा कम, अथवा विपरीत ढग से श्रद्धा होना ही मिथ्यात्व है। अतएव वीतराग भगवान् जिनेश्वर देव की क्या आज्ञा है? इसी का विचार करने की सर्व प्रथम आवश्यकता है। भगवान श्रीजिनेश्वर देव सर्व ज्ञाता और केवलज्ञानी थे, उन्होंने अधो लोक, मध्य लोक, और ऊर्ध्व लोक तीनों ही लोकों में भूत काल, भविष्यत् काल, और वर्तमान काल में जीव तथा पुद्गलों की अनन्तानन्त पर्यायों का जो परिवर्तन हुआ, होगा और हो रहा है, उसका प्रकाशन किया ऐसी स्थिति में उनके आदेश उपदेश से विश्व व्यापी चराचर पदार्थो के हम संसारी जीव ज्ञाता हुए।

अगोचर यानी अदृश्य पदार्थों के गुण और पर्याय इतने सूक्ष्म और अग्राह्य हैं कि अपन जैसे साधारण आत्माओं की तो बात ही क्या? चार ज्ञान के धारक द्वादशांगों के पाठक, महान मुनि[illegible] लक्ष्य में अथवा ध्यान में आना भी कठिन है। जो पदार्थ अपनी बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा अग्रा[illegible] शास्त्रों आदि का अध्ययन कर सत्य रूप से जान सकते हैं, ऐसा दृढ आत्म विश्वास श्रीतीर्थेश्वर[illegible] आज्ञा मानने से ही हुआ है। क्योंकि हम सब यह निश्चय पूर्वक समझते हैं कि श्रीवीतराग[illegible] रहित हैं, वे सभी प्रकार के पक्षपात से रहित हैं, अतएव वे कदापि और किसी भी अवस्था[illegible] परूपणा नहीं कर सकते हैं, श्रीसर्वज्ञ प्रभु ने केवल ज्ञान द्वारा जैसा देखा, वैसा ही आदेश उप[illegible] कारण से वह सब पूर्णरीत्या सत्य है।

कर
कल्प घृति
व होता है।
रवयुक्त, मन
हो सभी सुखों

श्रीजिनेश्वर भगवान द्वारा उपदिष्ट ज्ञान सागर में से कुछ तत्त्वों का नाम निर्दे[illegible] श्लोक द्वारा किया जाता है—

> सूत्रार्थ—मार्गणा—महाव्रत—भावना च, पंचेन्द्रियोपशमताऽतिदयार्द्र भावः। [illegible] ज्ञान
> बंधप्रमोक्षगमनागतिहेतुचिन्ता, ध्यानं तु धर्ममिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥
>
> —सागार धर्मामृत

सूत्रों का अर्थ, जीवों की मार्गणा, महाव्रत, भावना, पांच इन्द्रियों के दमन का विचार, दयार्द्र भाव, कर्मों के बंधन छूटने के उपाय, चार गति और गमनागमन हेतु, इन का चिन्तवन और ध्यान करना ही विचारकों द्वारा धर्म ध्यान की आराधना करना कहा गया है। ध्यान कर्त्ता को सर्व प्रथम श्रुत ज्ञान की आवश्यकता हुआ करती है, अत यहाँ पर अब श्रुत ज्ञान का वर्णन किया जाता है।

—: सूत्रार्थ :—

> सुयकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहाओ॥
> सुयणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं॥
>
> —गोम्मट सार जीवकाण्ड ३६८

श्रुत ज्ञान और केवल ज्ञान दोनों बराबर हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रुत ज्ञान तो परोक्ष है और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है। केवली भगवान ने जो जो भाव केवल ज्ञान द्वारा मालूम किये हैं, वे सब उपदेश द्वारा जनता के हित के लिये प्रकाशित कर दिये गये हैं इस प्रकार वचनों द्वारा प्रकाशित ज्ञान ही श्रुत ज्ञान है। केवली के वचन से ही नरक, स्वर्ग, यावत् मोक्ष तक की रचना छद्मस्थ जानते हैं। यह भी श्रुत ज्ञान ही है। वह श्रुत ज्ञान स्वय भू रमण समुद्र से भी अधिक गभीर, लोकालोक से भी बड़ा, सब पदार्थों में शिरोमणि, और करोड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाश का कर्त्ता है।

* बारह अंग शास्त्र। — चार अनुयोग, १ अग, २ उपांग, ३ छेद, ४ मूल और अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थों द्वारा इसका विस्तार किया गया है।

यह ज्ञान अनेक चमत्कारिक विद्याओं का सागर है, शब्दों द्वारा अवर्णनीय है, बडे बडे विद्वान् भी इसका पार नहीं पा सकते हैं, ५ श्रुत ज्ञान ही सच्चा तीर्थ है, जिसमें पाप का जरा भी अश नहीं है। इसमें स्नान करने से यानी इसका अध्ययन करने से बड़े-बड़े पापात्मा भी पवित्र हो गये हैं। यह ज्ञान ही जगत के जीवों का उद्धार करने में शक्तिशाली है। यह योगियों का तीसरा नेत्र है, इत्यादि विविध गुणों से सयुक्त हैं, ऐसा यह श्रुत ज्ञान है। अभ्यास द्वारा इसकी प्राप्ति करने में धर्मध्यानी को जरा भी प्रमाद नहीं निजरा चाहिये। अब आगे जो वर्णन किया जाने वाला है, वह सब श्रुतज्ञान के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

---

* बारह अग इस प्रकार हैं —१ आचारांग, २ सूत्र कृतांग, ३ स्थानाग, ४ समवायाग, ५ व्याख्या प्रज्ञप्ति, [illegible]गंग व ज्ञातासूत्र, ७ उपासक दशाग, ८ अन्त कृद्दशाग ६ अनुत्तरौपपातिक दशाग, १० प्रश्न व्याकरण [illegible]त्र और १२ दृष्टिवाद।

धर्म्मे प्रथम चरणानुयोग—जिसमें आचार का वर्णन है, जैसे आचाराग आदि शास्त्र। दूसरा गणितानुयोग, विवाग विजय [illegible]ख्या का कथन है, जैसे चद्र प्रज्ञप्ति आदि शास्त्र। तीसरा धर्म कथानुयोग, जिसमें धार्मिक कथाओं का धर्म [illegible]ता सूत्र आदि। और चौथा द्रव्यानुयोग, जिसमें धर्मास्तिकाय आदि षट् द्रव्यों का उल्लेख है, जैसे श्रीतीर्थंकर भग[illegible]दे शास्त्र। ये चार अनुयोग हैं।

विचय, और आचाराग आदि रूप से जिन बारह अगों का कथन किया गया है, उनमें से दृष्टिवादाग नामक आगम [illegible] में अभाव है। इसलिये आज कल ग्यारह ही अग गिने जाते हैं।

२ उपाग १२ हैं, वे इस प्रकार हैं —१ उववाइ, २ रायप्पसेणी, ३ जीवाभिगम, ४ पन्नवणा, ५ जबू द्वीप प्रज्ञप्ति, ६ चद्र प्रज्ञप्ति, ७ सूर्य प्रज्ञप्ति, ८ निरियावलिका, ६ कप्पवडिंसिया, १० पुप्फिया, ११ पुप्फ चूलिया और १२ वण्हि दशा।

३ छेद ग्रथ चार हैं —१ व्यवहार, २ बृहत्कल्प, ३ निशीथ, और ४ दशा श्रुत स्कध।

४ मूल सूत्र भी चार हैं —१ दशवैकालिक, २ उत्तराध्ययन, ३ नदी और ४ अनुयोग द्वार।

५ अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के मूल अक्षर ६४ हैं। तेतीस व्यजन, सत्ताइस स्वर और चार योगवाह हैं। इनके सयोग जनित अर्थात् द्विसयोग, त्रिसयोग, चतुस्सयोग इत्यादि रूप से चौसठ सयोगो तक भागों की प्रक्रियाएँ होती हैं। इस प्रकार परस्पर गुणा करने से उत्पन्न होने वाले अक्षरों का एकत्र प्रमाण समस्त और अपुनरुक्त यह है —१८ ४४ ६७ ४४ ० ७ ३ ७ ० ६ ५ ५ १६ १५। इतने अग प्रविष्ट और अग बाह्य श्रुत के समस्त अपुनरुक्त अक्षर हैं। पुनरुक्त अक्षरों की सख्या का नियम नहीं है। इनमें सर्वश्रुत ज्ञान का समावेश हो जाता है। परम आगम में प्रसिद्ध मध्यम पद में १६ ३४ ८३ ० ७ ८ ८ ८ अक्षर होते हैं। अग प्रविष्ट श्रुत ज्ञान के पदों की जोड ११ २८ ३५ ८ ० ० ५ है। इनमें बारह ही अग रूप श्रुत ज्ञान का समावेश हो गया है। अग बाह्य अक्षरों का प्रमाण ८ ० १० ८ १ ७ ५ है। यह कथन १४ प्रकीर्णक दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि की अपेक्षा से है। ऐसा उल्लेख दिगम्बर मत के तत्त्वार्थ सूत्र की अर्थ प्रकाशिका नामक वचनिका के प्रथम अध्याय में है। गोम्मट सार आदि में भी है।

—: मार्गणा :—

गइ इंदिए काए, जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेसा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥

तृतीय कर्म ग्रन्थ

गति, इन्द्रिय, काया, योग, वेद, कषाय, ज्ञान संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहार, ये चौदह मार्गणाएँ हैं। मार्गणाओं का ज्ञान अति गहन है, इनके विचार से ध्यान में अच्छी स्थिरता रहने की सम्भावना है अतएव यहाँ मार्गणाओं का कथन किया जाता है।

(१) गति—जिन स्थानों मे ससारी जीव आते रहते हैं और जाते रहते हैं। ये गति रूप स्थान चार हैं.—

(अ) नरक गति, अधो लोक में दु ख मय स्थान, जो कि सात हैं।
(आ) तिर्यंच गति, एकेन्द्रिय सूक्ष्म प्राणी, जो कि सर्व लोक व्यापी हैं, और बादर एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यन्त पशु पक्षी आदि जीव हैं।
(इ) मनुष्य गति, तिरछे लोक में अथवा मध्य लोक में कर्मभूमि और अकर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य।
(ई) देवगति—भवनपति पाताल लोकवासी देवता, वाण व्यंतर मध्यलोक वासी देवता, ज्योतिष सूर्यचन्द्र नक्षत्र ग्रह तारा आदि आकाश वासी देवता, वैमानिक कल्पातीत नौ ग्रैवेयक, और अनुत्तर विमान वासी देवता।

ये चार गतियाँ हुई। पाँचवी गति मोक्ष कही जा सकती है, परन्तु वहाँ से पुन आगमन नहीं होता है।

(२) इदिए यानी इन्द्रिय, जिससे जीव की जाति अथवा प्रकार का ज्ञान हो। इसके पाँच भेद हैं।
(अ) एकेन्द्रिय—पृथ्वी आदि केवल स्पर्श इन्द्रिय वाले प्राणी।
(आ) दो इन्द्रिय—स्पर्श और जिह्वा वाले जीव जैसे कि कीडा आदि।
(इ) त्रीन्द्रिय—स्पर्श, जिह्वा और नाक वाले जीव, जैसे जू खटमल आदि।
(ई) चतुरिन्द्रिय—स्पर्श, जिह्वा नाक और आँख वाले जीव। जैसे मक्खी आदि।
(उ) पचेन्द्रिय—स्पर्श, जिह्वा नाक, आँख और कान वाले जीव, जैसे मच्छ आदि जलचर प्राणी, पशु गाय आदि स्थलचर प्राणी, हंस आदि खेचर जीव, नारकी, मनुष्य देवता आदि।

इनके सिवाय अनीन्द्रिय जीव *सिद्ध और केवली भगवान् कहे जाते हैं।

(३) काए=काया, जीवों के भेद को समझाने वाली शरीरस्थिति। इसके ६ भेद हैं.—(१) पृथ्वीकाय=मिट्टी के जीव, (२) अपकाय=पानी के जीव (३) तेउकाय=अग्नि के जीव, (४) वायुकाय=हवा के जीव, (५) वनस्पतिकाय=वृक्ष पौधे हरियाली के जीव, ये सब एकेन्द्रिय ही हैं। (६) त्रसकाय=हिलने डुलने वाले और चलने फिरने वाले जीव। द्विइन्द्रिय से लगा कर पचेन्द्रिय तक के जीव।

* सिद्ध भगवान् के इन्द्रियाँ नहीं होती है और केवली भगवान् अथवा अरिहन्त देव सर्वज्ञ, और सर्वदर्शी होने से उनकी इन्द्रियाँ उपयोग में नहीं आया करती है।

(४) जोए=योग, जो दूसरे से सबध करे वह योग है। योग ३ होते हैं, मनोयोग=अन्त करण के विचार। वचन योग=शब्दों का उच्चारण, और काया योग=शरीर के काम।

(५) वेए=वेद, विकारों का उदय होना ही वेद है। वेद ३ हैं, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपु सक वेद।

(६) कसाय=कषाय जिनसे आत्मा विकार ग्रस्त होकर वेभान हो जाय। कषाय ४ हैं'—क्रोध, मान=अभिमान, माया=कपट और लोभ=तृष्णा।

(७) णाण=ज्ञान, जिससे पदार्थों का स्वरूप जाना जाय। इसके आठ भेद हैं —(१) मति ज्ञान, बुद्धि और इन्द्रियों सबधी, (२) श्रुत ज्ञान, शास्त्रों सबधी, (३) अवधि ज्ञान, सभी रूपी पदार्थों का ज्ञाता, (४) मन पर्याय ज्ञान, मन की बात जान लेने वाला, (५) केवलज्ञान—सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव को जानने वाला, ये पांचों ज्ञान केवल सम्यक् दृष्टि वालों को ही हुआ करते हैं। (६) मति अज्ञान, कुबुद्धि वाला ज्ञान, (७) श्रुत अज्ञान, कुशास्त्रों वाला ज्ञान और (८ विभग ज्ञान अथवा कुअवधि ज्ञान, विपरीत रूप से रूपी पदार्थों को जानने वाला। ये पीछे के तीन ज्ञान मिथ्या दृष्टि वालों को हुआ करते हैं।

(८) सयम=कुकर्मों से आत्मा का निग्रह करना, आत्मा को वश में रखना ही सयम है। सयम सात प्रकार का है, १ अव्रती, जिसने मिथ्यात्व से अपनी आत्मा की रक्षा करके सम्यक्त्व में सयोजित कर दी हो। २ देश व्रती=श्रावक। ३ सामायिक=मर्यादित काल की सामायिक श्रावक के लिये और जीवन पर्यंत की सामायिक साधु के लिये। ४ छेदोपस्थापना सयम=दोष से निवृत्ति कराने वाला। ५ परिहार विशुद्धि सयम=विशेष ढग का शुद्ध चारित्र। ६ सूक्ष्म सपराय सयम=अति सामान्य लोभ के सिवाय शेष कषाय का जिसमें क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाय। ७ यथाख्यात=सर्वथा दोष रहित चारित्र।

(९) दसण=दर्शन, सामान्य प्रतिभास रूप देखना। दर्शन ४ प्रकार का है:—चक्षु दर्शन=आँखो द्वारा सामान्य प्रतिभास होना, अचक्षु दर्शन=आँख के सिवाय शेष चार इन्द्रियों और मन द्वारा सामान्य प्रतिभास होना। अवधि दर्शन=केवल आत्म शक्ति के आधार से ही रूपी पदार्थों का सामान्य प्रतिभास होना। केवल दर्शन=सभी लोकालोक पर्यंत द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का प्रतिभास होना।

(१०) लेश्या=कर्मो से आत्मा की ओतप्रोत अवस्था जिसके कारण से हो। लेश्याएँ ६ हैं। (१) कृष्ण लेश्या=महा पाप रूप, (२) नील लेश्या=अधर्म रूप (३) कापोत लेश्या=वक्र स्वभाव रूप धृष्टता रूप, (४) तेजो लेश्या=न्याय भावना रूप, (५) पद्म लेश्या=धर्म भावना रूप, (६) शुक्ल लेश्या=मोक्ष प्राप्ति रूप। अयोगी केवली और सिद्ध भगवान लेश्याओं से रहित होते हैं।

(११) भव्य=ससार में जीव दो प्रकार के हैं, भव्य और अभव्य। मोक्ष गामी भव्य हैं और कदापि मोक्ष में नहीं जाने वाले अभव्य हैं। सिद्ध भगवान भव्याभव्य स्थिति से परे हो गये हैं।

(१२) सज्ञी=मन जनित ज्ञान सहित जीव सज्ञी है, माता पिता के सयोग से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, तिर्यञ्च प्राणी तथा देवता और नारकीय जीव सज्ञी है। मन जनित ज्ञान से रहित प्राणी अथवा बिना मन वाले प्राणी असज्ञी कहलाते हैं। पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, और समूर्छिम (बिना माता-पिता के सयोग से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और तिर्यञ्च नामक सूक्ष्म जन्तु, असज्ञी हैं। सिद्ध भगवान सज्ञी असज्ञी अवस्था से रहित होते हैं।

(१३) सम्यक्त्व=पदार्थों की यथार्थ श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व सात प्रकार का होता है। (१) मिथ्यात्व सम्यक्त्व=बाह्य रूप से मिथ्यात्व की भावना होते हुए भी अन्तःकरण की सम्यक्त्व जैसी

स्थिति हो। (२) सास्वादन सम्यक्त्व=किंचित् मात्र से धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होकर पुन मिथ्यात्व ग्रहण करने से पूर्व की स्थिति। (३) मिश्र सम्यक्त्व=श्रद्धा की चचलता और गड़बड़ अवस्था। (४) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व=मोहनीय कर्म का प्रकृतियों क उपशम होने पर उत्पन्न होने वाली श्रद्धा। (६) वेदक सम्यक्त्व=क्षायिक सम्यक्त्व के कुछ ही क्षण पहले उत्पन्न होने वाली श्रद्धा। (७) क्षायिक सम्यक्त्व=मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों के क्षय होने पर उत्पन्न होने वाली श्रद्धा।

(१४) आहार=आहार करने वाला प्राणी आहारिक कहलाता है और एक शरीर को छोड कर अन्य गति मे शरीर धारण करने के लिए जाते समय मार्ग में आहार नहीं करने वाला एष मोक्ष गमन के समय भी आहार नहीं करने वाला प्राणी अनाहारिक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि विग्रह गति में जाते समय जीव अनाहारिक होता है।

यों तो चौदह ही मार्गणाएँ सागर समान अर्थ गंभीरता वाली है, परन्तु ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ पर सक्षिप्त रूप से वर्णन किया है। ध्यानी इनका विस्तार पूर्वक चिन्तन करें।

—: महाव्रत :—

महाव्रत अर्थात् वडे व्रत। जैसे तालाव के जल आने के नाले रोक देने से उसमें पानी का आगमन वन्द हो जाता है, वैसे ही व्रत प्रत्याख्यान करने से प्राणी के लिये आश्रव का द्वार वन्द हो जाता है। श्रावकों के व्रत मर्यादा पूर्वक होने से अणुव्रत कहलाते हैं, जब कि साधुओं के व्रत तीन करण और तीन योग सहित होने के कारण से वे महाव्रत कहलाते हैं। इनकी सख्या पाँच है। ध्यानीजन बहुधा महाव्रती ही होते हैं। अतएव उन्हें अपने व्रतों पर सूक्ष्म विचारणा करना अतिआवश्यक है।

(१) सव्व पाणाइवायाओ विरमणं=अर्थात् त्रस, स्थावर सूक्ष्म, वादर, सभी जीवों की हिंसा से *तीन करण तीन योग पूर्वक सर्वथा निवृत्ति। इसमें सर्वथा हिंसा का त्याग है।

(२) सव्व मुसावायाओ विरमण=क्रोध, लोभ हँसी, भय आदि से सर्वथा तीन करण तीन योग पूर्वक झूठ बोलने से निवृत्ति।

(३) सव्व अदिन्नादाणाओ विरमण=थोड़ी, बहुत, हल्की, भारी, सचित्त, अचित्त, सभी की सर्वथा तीन करण तीन योग पूर्वक चोरी से निवृत्ति।

(४) सव्व मेहुणाओ विरमण=देवी, मनुष्य स्त्री, तिर्यंच मादा आदि सभी से तीन करण तीन योग पूर्वक मैथुन सेवन से निवृत्ति।

(५) सव्व परिग्गहाओ विरमणं=थोड़ा, वहुत हल्का, भारी, सचित्त और अचित्त इत्यादि परिग्रह से तीन करण तीन योग पूर्वक सर्वथा निवृत्ति।

(छठा व्रत–सव्व राइ भोयणाओ विरमण=अन्न पानी, मेवा, मिठाई मुख वास, पान, सुपारी इत्यादि सभी खाने पीने की वस्तुओं से रात्रि के लिये तीन करण तीन योग पूर्वक निवृत्ति।) ध्यानी पुरुष इन महाव्रतों के प्रति भावना पूर्वक और विविध भागा पूर्वक चिंतन करने से अपने कर्त्तव्य में सफल होंगे।

---

* करना नही मन से, वचन से, काया से, कराना नहीं मन से वचन से और काया से, अनुमोदना नही मन से, वचन से और काया से। ये तीन करण तीन योग रूप ९ कोटि रूप मर्यादा हुई।

—: बारह भावनाएँ :—

(१) अनित्य भावना—द्रव्यार्थिक नय से आत्मा अविनाशी स्वभाव वाला है। इससे भिन्न राग द्वेष आदि विभाव रूप कर्म हैं। कर्मों के सयोग से ही स्त्री पुत्र आदि सचित्त द्रव्य, सुवर्ण आदि अचित्त द्रव्य और अन्य सम्मिश्रित द्रव्यों की प्राप्ति हुई है। ये सभी अनित्य हैं, अध्रुव हैं विनाशशील हैं। ऐसी अनित्य भावना जिनके हृदय में रमती रहती है उनकी ममत्व भावना सभी वस्तुओं पर से हट जाती है, जैसे वमन किये हुए पदार्थों के प्रति जरा भी आसक्ति नहीं रहती है, वैसी ही भावना अनित्य भावना की आराधना करने वालों की हो जाया करती है। ऐसे ही महात्मा अक्षय, अनत, सुख रूप स्थान मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

(२) अशरण भावना—इस आत्मा के लिये केवल ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अरिहत आदि पच परमेष्ठि देव ही शरण रूप हैं। अन्य देवेन्द्र, नरेन्द्र, स्वजन, सेना, घर, धन, या मत्र, तत्र, यत्र आदि कोई भी शरण देने वाले नहीं हैं। जैसे सिंह द्वारा आक्रान्त हिरण के बच्चे को अन्य हिरण नहीं छुड़ा सकते हैं, अथवा समुद्र के मध्य भाग में पतित जीव के लिये जहाज के अतिरिक्त अन्य कोई शरणदाता नहीं हो सकता है ऐसा विश्वास करने वाले सासारिक पर द्रव्यों से ममत्व उतार कर अपने निज आत्म स्वभाव और निज आत्म गुणों पर ही अवलबित होंगे, तभी वे आत्म स्वरूप का विकास करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे।

(३) ससार भावना—इस ससार में जितने भी द्रव्य हैं, उन सब को ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के योग से शरीर पोषण करने के लिये अन्न जल आदि रूप से तथा आँख कान आदि इन्द्रियों के रूप से इस जीव ने अनन्त बार ग्रहण किये हैं। ऐसा विचार करना द्रव्य ससार भावना है। यह लोक असख्यात प्रदेशों वाला है। उनमें से प्रत्येक प्रदेश पर यह जीव अनन्त बार जन्मा है और मरा है। यह विचार धारा क्षेत्र ससार भावना है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल चक्र का समय बीस करोड़ा करोड़ी सागरोपम का है, उसके प्रत्येक समय में इस आत्मा ने जन्म मरण किये हैं, ऐसा विचार करना काल ससार भावना है।

क्रोध आदि चार कषाय सम्बन्धी और मन आदि तीन योग सम्बन्धी जो प्रकृति आदि बन्ध के भाव हैं, उन्हें अनन्त बार ग्रहण कर करके छोड़ दिये हैं। ऐसी विचारणा भाव ससार भावना है। ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप ससार में यह जीव अनादि काल से परिभ्रमण करता आ रहा है। अब जो आत्मा इस परिभ्रमण से निवृत्त होकर संसार से उदासीनता लावेगा, वही मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

(४) एकत्व भावना—इस जीव के लिए स्वाभाविक अनन्त सुख का प्रदान कर्त्ता केवल ज्ञान ही है। यह अनन्त गुण रूप है। यही आत्मा का स्वाभाविक शरीर है। यह अखड और अक्षय रूप से हितकर्त्ता नहीं हैं। क्योंकि अन्य पदार्थ तो मन में सकल्प विकल्प उत्पन्न किया करते हैं। जो कि दुःख के ही उत्पादक हैं। ऐसा समझकर वाह्य वस्तुओं पर से ममत्व उतार कर जो केवल आत्मा पर ही दृष्टि जमावेगा, वही आत्म तत्त्व का अनुसधान कर निजानन्द को अथवा स्वाभाविक आनन्द को प्राप्त कर सकेगा।

(५) अन्यत्व भावना—यह आत्मा अज्ञान वश होकर ससार में रहे हुए कितने ही सजीव पदार्थों को अपना कुटुम्ब समझ रहा है, और कितने ही अजीव पदार्थों को अपना सहायक मान रहा है किन्तु वे सब कर्माधीन और कर्ममय हैं। वे द्रव्य स्वय अपने आपको सुखी बनाने में असमर्थ हैं, तो फिर वे दूसरों को क्या सुखी बना सकेंगे? जो स्वय विनाश से बच नहीं सकता है, वह अन्य को विनाश से क्या बचावेगा? इतने अनन्त समय तक इस आत्मा ने जो कष्ट अनुभव किया, वह सब उन्हीं की कृपा का फल

है। ऐसा निश्चित रूप से समझ कर हे आत्मन ! तू ऐसा विचार कर कि "मैं तो शुद्ध चैतन्य रूप हूँ, और ये सब सांसारिक पदार्थ मेरे से भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं, और मैं इनका नहीं हूँ।" ऐसी श्रद्धा कर सभी द्रव्यों से अनासक्त हो जाने पर ही अपने वास्तविक महान् स्वरूप की प्राप्ति हो सकेगी, और तभी सच्ची शांति प्राप्त हो सकेगी।

(६) अशुचि भावना—इस शरीर को पवित्र करने के लिये असंख्य अपकाय वाले जल से इसे स्नान कराया जाता है, और इस प्रकार जीव हिंसा सग्रहीत की जाती है, किन्तु जैसे विष्टा आदि अशुचिमय घट को साफ करने पर भी वह घृणा का और उपेक्षा का पात्र ही बना रहता है वैसे ही यह शरीर अन्दर से तो ज्यों का त्यों ही अशुचिमय ही बना रहता है। इस शरीर की उत्पत्ति ही रज और वीर्य जैसे पदार्थों से हुई है। घृणित रूप से परिणत होने वाले पदार्थों से ही इसकी वृद्धि हुई है। इस शरीर के संयोग से पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाया करते हैं। सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गन्ध युक्त हो जाते हैं। प्रशंसनीय भी निंदा के पात्र बन जाते हैं। मनोहर भी अवाञ्छनीय रूप में परिणत हो जाते हैं। बहुत काल पर्यन्त प्रेमपूर्वक रखे हुए पदार्थ भी इस शरीर का सबंध होते ही घूरे पर (दूरस्थ घृणित पदार्थों के ढेर पर) फैंकने के योग्य बन जाया करते हैं। इस शरीर में से निकलने वाले सभी पदार्थ घृणा को ही उत्पन्न करने वाले होते हैं। इस प्रकार इस शरीर को बनाने वाले पदार्थों में से कौन से ऐसे हैं, जिन पर प्रेम किया जाय ? किन्तु आश्चर्य है कि मोह रूप मदिरा से बेभान हुए प्राणी अशुचि मय पदार्थों को ही प्राण सम प्यारे मान कर पाप संग्रह कर रहे हैं। इससे अधिक और कौन सी अज्ञानमय दशा है ? प्राणियों के शरीर में से ही निकले हुए पदार्थों को जरा उनके हाथों में रखकर देखियेगा कि "वे उन्हें प्यार करते हैं ? या उनसे घृणा ?" इत्यादि विविध रूप से विचार कर इस अशुचिमय शरीर के प्रति अनासक्त होकर, इस शरीर में रहे हुए परम पवित्र ज्ञान आदि रत्नों के धारक आत्म तत्त्व का ही अनुसधान करते रहना चाहिये। इस अशुचिमय कारागृह से आत्मा को छुड़ाने के लिये ब्रह्मचर्य आदि पवित्र व्रतों को धारण करना चाहिये और परम पवित्र शिव स्थान-मोक्ष स्थान को प्राप्त करना चाहिये।

(७) आश्रव भावना—जैसे छिद्र वाली नाव (नौका) पानी में डूब जाती है, वैसे ही मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय रूप पाप मय जल में तैरने वाली आत्मा रूप नाव में शुभाशुभ योग रूप छेद हो जाने से संसार रूप समुद्र मे यह आत्मा रूपी नौका डूब रही है। ऐसा समझ कर आश्रव का परित्याग करके आत्मा को संसार रूप समुद्र से पार करने का उपाय सोचते रहना चाहिये।

(८) संवर भावना—आश्रव भावना में जिन पाप रूप कारणों का उल्लेख किया गया है, उन्हें रोकना ही संवर है। सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और स्थिर योग ही संवर है। इनके द्वारा आत्मा में ज्ञान आदि रत्न त्रय की अक्षय निधि का सविकास करके संसार समुद्र के किनारे स्थित मोक्ष रूप पट्टन अथवा नगर में आत्मा को संस्थापित करे।

(९) निर्जरा भावना—जीव का स्वभाव तो मोक्ष में जाने का ही है। परन्तु अनादि काल से संचित कर्म रूप बोझा के दबाव से नहीं जा सकता है। जैसे तुम्बे का स्वभाव तो जल के ऊपर तैरते रहने का ही है, परन्तु यदि कोई उस पर पटसन से निर्मित और मिट्टी से मिश्रित पतली रस्सियों के आठ पुट ऊपरा ऊपरी संयोजित कर, एवं उन्हें सुखाकर पानी में डाले तो वह तुम्बा मिट्टी के पुटों से संयुक्त होने के कारण तत्काल डूब जाता है, कालान्तर में ज्यों ज्यों वे पुट लघु से लघुतर होते जाते हैं, त्यों त्यों वह तुम्बा ऊपर आता जाता है। इस प्रकार पुटों से सर्वथा बन्धन रहित होते ही वह तुम्बा तत्काल पानी की सतह पर आ जाता है। इसी तरह से जीव रूप तुम्बा है, जिस पर आठों कर्म रूपी मिट्टी और पटसन का लेप

और पट लगे हुए हैं। जिनके कारण से ही वह ससार रूप समुद्र में डूबा हुआ है। मुमुक्षु आत्माएँ उन लेपों को गलाने के लिये ही बारह प्रकार की तपस्याएँ किया करती हैं एव कर्मों के लेप से मुक्त होकर ससार के अग्र भाग पर स्थित अनत और अक्षय रूप मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लिया करती हैं।

(१०) लोक भावना—अनन्तानन्त आकाश रूप अलोक के मध्य भाग में ४४३ घनाकार *राजू जितने क्षेत्र में लोक है। लोक के मध्य में १४ राजू लम्बी और एक राजू चौड़ी त्रस नाड़ी है। उसमें त्रस और स्थावर जीव भरे हुए हैं। बाकी का सर्व लोक केवल स्थावर जीवों से ही भरा हुआ है। लोक के ऊपर अग्र भाग पर सिद्ध स्थान है। जो आत्माएँ सभी कर्मों से मुक्त हो जाती हैं, वे ही उस मुक्त स्थान पर विराजमान हुआ करती हैं। वहाँ से फिर कभी भी चलायमान नहीं हुआ करती है। सदैव अव्याबाध और अक्षय सुख में लीन रहती हैं। हे आत्मन ! उस स्थान को प्राप्त करने का तू उपाय कर। ऐसी भावना लोक भावना है।

(११) बोधि दुर्लभ भावना—सांसारिक अन्य सभी प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति तो सरल है, किन्तु बोध बीज रूप सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है। जरा इसका विचार किया जाय तो पता चलेगा कि बोध बीज की प्राप्ति बहुधा मनुष्य जन्म में ही हुआ करती है। कहा भी है कि—'दुल्लहो खलु माणुसो भवे" अर्थात मनुष्य जन्म मिलना बहुत ही कठिन है। ९८ बोलों का जो अल्पाबहुत्व है, उसमें प्रथम बोल में ही कहा गया है कि 'सब से थोड़े गर्भज मनुष्य" इस बोल की व्याख्या की जाती है कि—३४३ राजू का सम्पूर्ण लोकाकाश व्यापी क्षेत्र जीवों से ठसाठस परिपूर्ण रीति से भरा हुआ है। बालाग्र जितना भी स्थान खाली नहीं है। उसमें से त्रस जीव केवल चौदह राजू जितने क्षेत्र में ही हैं। इसमें से आधे सात राजू में नीचे सात नरक है। ऊपर कुछ कम सात राजू में स्वर्ग हैं, इन दोनों के बीच में "कुछकम" वाले भाग में यानी १८०० योजन जितने ऊँचे और एक राजू जितने चौड़े तिरछे लोक में मध्य लोक की गणना की जाती है। इसमें असख्यात द्वीपसमुद्र हैं। इन द्वीप समुद्रों में से पैंतालीस लाख योजन जितने मर्यादित क्षेत्र में ही मनुष्य लोक गिना जाता है। इतने क्षेत्र में से भी बीस लाख योजन जगह तो केवल समुद्रों ने ही रोक ली है। शेष पचीस लाख योजन में भी पर्वत, नदियाँ आदि अनेक हैं। मनुष्य के तो केवल १०१ क्षेत्र ही है। इनमें से भी कर्म क्षेत्र भूमि के तो केवल १५ ही क्षेत्र हैं। उसमें भी आर्यभूमि कम है। जैसे भरत क्षेत्र के ३२ हजार देशों में से केवल २५॥ देश ही आर्य हैं। ऐसे ही अन्य क्षेत्रों में भी आर्य भूमि की न्यूनता ही है। इन पन्द्रह कर्म क्षेत्रों में से केवल पाँच महाविदेह क्षेत्रों में ही सदा धर्मक्रिया करने का सुयोग रहता है। शेष भरत और ऐरवत नामक दस क्षेत्रों में दस करोड़ा करोड़ी सागरोपम जितने काल समय में से केवल एक करोड़ा करोड़ी सागरोपम काल में ही धर्म क्रियाओं का सयोग रहा करता है। इस स्थिति में भी धर्म का सयोग मिलना अति ही कठिन है।

यदि किसी प्रकार मिल भी गया तो आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, परिपूर्ण इन्द्रिय सपन्नता, नीरोग शरीर, सुख पूर्वक आजीविका, सद् गुरु दर्शन, शास्त्र श्रवण, मनन, और चिन्तन आदि का सयोग तो मिलना और भी अधिक कठिन है। यदि इन बातों का सयोग मिल भी गया तो भी भव्यत्व, सम्यक्त्व शीलता, सुलभ बोधकता, स्वल्प कर्म शीलता आदि की प्राप्ति अति ही कठिन है। ऐसे सब सयोग मिले, तब कहीं धर्म पर रुचि जागृत होती है। तत्पश्चात् ही बोध बीज रूप सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। देखा !

* ३८१२७६९७० मन लोहे का एक भार माना जाता है। ऐसे हजार भार का एक गोला कोई देवता बहुत ऊँचाई से आकाश में से छोड़े और ऐसा करने पर वह गोला छः मास, छः दिन, और छः घड़ी में जितना क्षेत्र पार करे, वह क्षेत्र एक राजू परिमाण समझना चाहिये।

बोध बीज रूप सम्यक्त्व की प्राप्ति कितनी कठिन है ? अतः हे भव्य जन ! अत्यंत पुण्योदय से ही अपन इस उच्च अवस्था तक पहुँच सके हैं। बोध बीज की प्राप्ति हुई है, ऐसी अवस्था में इसे व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। आत्मा रूपी क्षेत्र में इस सम्यक्त्व रूप बीज को सस्थापित करके ज्ञान रूप जल द्वारा इसका निरन्तर पालन पोषण करते रहना चाहिये। जिससे कि धर्म रूप वृक्ष उत्पन्न हो जाय और इस प्रकार मोक्ष रूप फल की प्राप्ति आसानी से हो सके।

(१२) धर्म भावना—"धारयतीति धर्मः" पाप की ओर गिरते हुए प्राणी को जो धारण करे अथवा बचावे, *वही धर्म है। संसार सागर विविध दुःखों से भरा हुआ है। इसमें गिरते हुए जीव को बचा करके मोक्ष स्थान में पहुँचाने वाला ही धर्म कहा जाता है। मोक्षार्थी के लिये धर्म की अति आवश्यकता है। अब प्रश्न यह है कि वह धर्म कौन सा है ?

श्री दशवैकालिक सूत्र के प्रारंभ में ही कहा गया है कि "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो" अर्थात् मंगलकर्त्ता और सर्वोत्कृष्ट धर्म वही है, जो कि अहिंसा दया, संयम इन्द्रिय दमन और तप रूप हो। वेद की ऋचा भी कहती है कि "अहिंसा परमो धर्मः" अर्थात् परम उत्कृष्ट धर्म वही है, जहाँ कि अहिंसा का दया का सर्वाङ्ग रूप से निवास हो। विष्णु पुराण में कहा गया है कि:—"अहिंसा लक्षणो धर्मः" और 'अधर्मः प्राणिनाम् वधः" अर्थात् अहिंसा व दया ही धर्म का लक्षण है और हिंसा ही अधर्म है। कुरान में कहा गया है कि "फला तज अलू बूतन् कुम मका बर लहय वनात" अर्थात् तू अपने पेट को पशु पक्षियों की कब्र मत बनाओ। बाइबिल में उल्लेख है कि:—Thou shalt not kill अर्थात् तू हिंसा मत करना। इत्यादि रूप से सभी शास्त्रों में धर्म का मूल दया ही कहा गया है। दया के दो भेद हैं —स्व दया और पर दया। छः काया जीवों की रक्षा करना, यह तो पर दया है, और अनाचार आदि पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करना सो स्व दया है। इन दोनों प्रकार की दयाओं के परिपालन से ही आत्मा सर्व दुःखों से परिमुक्त हो सकती है और मोक्ष के अनंत एवं अक्षय सुखों की प्राप्ति कर सकती है।

मुमुक्षु प्राणियों के लिये ये बारह ही प्रकार की भावनाएँ मोक्ष प्राप्ति में सीढ़ियों के समान साधन रूप हैं।

—: पाँचों इन्द्रियों की उपशमता :—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन, दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव, ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

इन्द्रियों के वश में होने से जीव अनेक विडम्बनाएँ पाते हैं और इन्द्रियों को अपने वश में करने से आनन्दमय मोक्षपद की प्राप्ति कर सकते हैं।

(१) श्रोत्रेन्द्रिय—जीव सम्बन्धी अजीव सम्बन्धी और मिश्र सम्बन्धी शब्दों को ग्रहण करने का स्वभाव कान का है। इसके वश में पड़ने पर मृग पशु आदि मारे जाते हुए देखे जाते हैं।

(२) चक्षु इन्द्रिय—काला, हरा, लाल, पीला, और सफेद आदि रंग ग्रहण करने का स्वभाव आँख का है। इसके अधीन होने पर पतंग आदि प्राणी मरते हुए देखे जाते हैं।

* "दुर्गतौ पतन्तम् प्राणिनम् धारणात् धर्मः" इति उच्यते। अर्थात् दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी को जो पकड़ ले अथवा बचा ले, उसे धर्म कहा जाता है। योग शास्त्र।

(३) घ्राण इन्द्रिय—नाक का स्वभाव सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध ग्रहण करने का है। इस के वश में पड़ने पर भ्रमर आदि जीव अपने जीवन से हाथ धोते हुए पाये जाते हैं।

(४) रसना इन्द्रिय—जिह्वा का स्वभाव खट्टा, मीठा, तीखा, कड़ुआ, और कषायला आदि रसों को ग्रहण करने का हैं। इसके वश में पड़कर मछली आदि जीव मृत्यु का सामना करते हुए पाये जाते हैं।

(५) स्पर्श इन्द्रिय—इसका स्वभाव हलका भारी, ठण्डा, गरम, लूखा, चिकना, कोमल, खुरदरा, आदि जानने का है। इसके वशीभूत हुए प्राणी हाथी आदि मारे जाते हुए पाये जाते हैं।

विचार कीजियेगा कि एक इन्द्रिय के वश में पड़ने पर भी अकाल मृत्यु देखी जाती है, तो फिर पाँचों इन्द्रियों के वश में पड़ने वालों की तो कैसी दुर्गति होगी ? कृत कर्मो का बदला तो दुर्गति में जाकर अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

अज्ञान के कारण से ही जीव दुःख रूप इन्द्रियों के विषय में सुख मानते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि—

(अ) यदि शब्द सुनने मात्र से ही सुख प्राप्त होता हो तो गाली सुनकर दुःख क्यों होता है ? जब कि स्त्रियों द्वारा गाई जाने वाली गालियों से तो सुख अनुभव होता है। शब्द ग्रहण करने का और सुखोत्पत्ति का स्थान एक ही है तो यह विभेद क्यों उत्पन्न हुआ ?

(आ) रूप देख करके प्रसन्न हुआ करते हैं, तो फिर अशुचि पदार्थ देखकर घृणा क्यों करते हैं ? वह अशुचि पदार्थ भी तो पूर्वकाल में चित्त के लिये आकर्षण पदार्थ था। एवं यही पदार्थ भविष्य में पुनः रूपान्तरित होकर उपयोगी अवस्था में परिणत हो सकता है। यदि आपको वास्तव में अशुचि पदार्थों से घृणा है तो स्त्री सम्बन्धी अशुचि कार्यों के प्रति आनन्द अनुभव क्यों करते हैं ?

(इ) दुर्गन्ध आने पर नाक को क्यों सिकोड़ते हो ? यह भी तो पदार्थ का ही एक धर्म है। दुर्गंधित पदार्थ भी तो अन्य पर्याय में परिवर्तित होकर मनोहर हो जाया करते हैं। यदि वास्तव में दुर्गन्ध के प्रति घृणा हो तो मृत्यु लोक सम्बन्धी पाँच सौ योजन पर्यन्त क्षेत्र व्यापी दुर्गंध से सदैव के लिये सच्चे अर्थो में मुक्त होने का प्रयत्न क्यों नहीं करते हो ?

(ई) जिह्वा के धर्म रूप मधुर रस से ही जो सुख की प्राप्ति होती हो तो फिर वैद्य से ऐसा क्यों कहा जाता है कि "शक्कर खाई, जिससे बुखार आ गया। तथा घी खाया, जिससे खांसी हो गई।" इस प्रकार घी शक्कर जैसे पदार्थों से भी दुःख उत्पन्न हो सकता है, तो फिर अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या है। आयुर्वेद कहता है कि "रस भोक्ता ते रोगयुक्ता" अर्थात् अमर्यादित रसों के भोगी रोगों के घर ही हुआ करते हैं। इस प्रकार रस का भोग जब रोग का ही कारण है, तो फिर इसमें सुख कैसे माने ?

(उ) चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से कहा है कि "सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा" अर्थात् सभी प्रकार के आभूषण भार रूप ही हैं तथा सभी भोग दुःखों को ही लाने वाले हैं। यह उक्ति सर्वथा सत्य ही है। जैसे सोना भी धातु है और लोहा भी धातु है। राजा की ओर से सोने को बेड़ी मिलने पर तो प्रसन्नता होती है कि हमें पैर में सोना पहिनने की शुभ आज्ञा प्राप्त हुई है, और जब लोहे की बेड़ी पहिनाई जाती है, तब रोना आता है, इस

विचार से जाना जा सकता है कि भूषण आदि बाह्य पदार्थों में सुख दुःख नहीं रहा हुआ है, परन्तु स्वय की कल्पना मे ही सुख दुःख का स्थान है। काम भोग भी इसी प्रकार सुख के दाता नहीं, परन्तु दुःख क ही दाता हैं। इनका नाम ही विषय है। विष और विषय में केवल "य" का ही फर्क है। और इसी फर्क के कारण विषय विष से भी अत्यधिक घातक हैं। विष तो खाने पर ही खाने वाले को मारता है। जब कि विषय तो उसक विचार मात्र से ही विह्वल और पागल बना कर विषयी की नाना प्रकार से वेइज्जती कराता है। कहा भी है कि:—

विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
उपभुक्ते विषं हन्ति, विषयास्तु स्मरणादपि ॥

विष और विषय में अत्यन्त ही अन्तर एव दूरी है। क्यों कि विष तो खाने पर प्राण हरता है, जब कि विषय स्मरण मात्र से ही मार डालता है।

भगवान का आदेश है कि "काम भोगानुरयण अणतससारवड्ढण" अर्थात् काम भोगों में अनुरक्त रहने से अनत ससार बढता है। साराश यह है कि विष तो एक ही भव में मारता है, जब कि विषय अनत भव तक मारता ही रहता है। यह विषय भोग इतना मधुर जहर है कि इसके प्रताप से बडे २ ज्ञानी और ऋषि मुनि भी विह्वल हो जाते हैं, विषय सुख की वाछा किया करते हैं और पतित भी हो जाया करते हैं। किन्तु यह विचार करियेगा कि इससे कितनी और कैसी हानियाँ हुआ करती हैं। शक्ति, बुद्धि, तेज, सत्त्व आदि सात्विक गुण तो नष्ट हो जाया ही करते हैं, किन्तु साथ २ में अति लोलुपता के कारण से सुजाक, प्रमेह गर्मी आदि विविध बीमारियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे सड़ सड़ कर, कीडे उत्पन्न हो जाया करते हैं और अत में घोर वेदना सहन करते हुए मर कर नरक में उत्पन्न होना पड़ता है, जहाँ कि अग्नि से परितप्त, लाल लाल लोहे की पुतलियों से चिपटना पड़ता है और करुण आक्रन्दन करना पड़ता है। ऐसे दुःखों के सागर समान विषय को सुख का सागर माने, उसे बुद्धिमान कैसे कहा जाय ?※

इस प्रकार अत्यन्त कष्टप्रद इस खेल पर लक्ष्य देकर धर्म ध्यानी पाँचो इन्द्रियों सम्बन्धी विषय भोग की अभिलाषा रूप अज्ञानता को दूर कर निर्विषयी एव निर्विकारी बन कर परम सुख को प्राप्त करें।

किं बहुना लेखनेन इह, संक्षेपादिदमुच्यते ।
त्यागो सर्व विषयाणाम्, कर्त्तव्योऽखिलमुमुक्षुभिः ॥

अधिक लिख कर क्या करना है ? सक्षेप से इतना ही कहना है कि "मोक्ष के अभिलाषियों को सर्वथा विषय का परित्याग ही कर देना चाहिये"

—: दयार्द्र भाव :—

श्रीसूत्रकृताग (सूयगडाग) सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में परम पूज्य अरिहन्त भगवान् ने फरमाया है कि—

※ दीपक देख पतग जला, और स्वर शब्द सुन मृग दुःखदाई ।
सुगध लेई मरा भ्रमरा, और रस के काज मच्छी विरलाई ॥
काम के काज दुःखी गजराज, यह प्रपञ्च महा दुःखदाई ।
जो मुक्ति पद चाहत हो, इन पाँचों को वश कीजे रे भाई ॥

"तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकायहेऊ पण्णत्ता। तंजहा—पुढवीकाए जाव तसकाए। से जहाणामए मम असायं दंडेण मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदन्ति। एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवं आइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेन्ति, एवं परूवेंति सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे णितिए सासए, समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेइए।"

द्वादश जाति की परिषद् में भगवान श्री तीर्थंकर देव ने निश्चय के साथ फरमाया है कि "छः काया के जीवों की हिंसा कर्म बन्ध का कारण है।" उन छः काया के नाम इस प्रकार हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। इनके दुःख को अपने ऊपर घटाते हुए दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं कि "जैसे मुझे असाता देने से, दंड से, हड्डी से मुष्टि से, पत्थर से, कंकर से, मारने से, तर्जना ताड़ना द्वारा परिताप उत्पन्न होता है, दुःख देने से उद्वेग उत्पन्न होता है, काया को प्राण रहित कर देने से, शरीर के बालों को उखाड़ने से ऐसे ही हिंसा के कारणों से, जैसा दुःख और डर मुझे होता है ऐसा ही सभी जीवों को, सब स्थावर काय के जीवों को, सभी विकलेन्द्रिय प्राणियों को, यावत् एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक के सभी प्राणियों को दंडे से, कंकर आदि से, आक्रोश ताड़ना से, तर्जन से, परिताप उपजाने से, दुःख देने से, उद्वेग उत्पन्न करने से, प्राण रहित करने से रोम मात्र उखाड़ने से, एवं ऐसे ही अन्य हिंसामय कृत्यों से व जीव भी अपने समान ही दुःख अनुभव करते हैं और इसी प्रकार डरा भी करते हैं। ऐसा जान कर किसी भी प्राणी, भूत, जीव, सत्व को मारना नहीं, दंडे से ताड़ना नहीं, बल पूर्वक पकड़ना नहीं, या कष्ट देने की दृष्टि से किसी काम में लगाना नहीं, शारीरिक मानसिक दुःख उत्पन्न करके परिताप पहुँचाना नहीं, किंचित् भी उपद्रव करना नहीं, शरीर को निर्जीव करना नहीं, ऐसा उपदेश गत काल में हुए अनंत तीर्थंकरों ने दिया है, वर्त्तमान काल में भी तीर्थंकर ऐसा ही उपदेश देते हैं, और भविष्यत् काल में होने वाले तीर्थंकर भी ऐसा ही उपदेश देवेंगे। तीनों काल के तीर्थंकरों का ऐसा ही समान उपदेश है जो कि संदेह से रहित है। सारांश यही है कि 'किसी भी प्राणी भूत, जीव सत्व को नहीं मारना नहीं ताड़ना, तर्जन परिताप नहीं पहुँचाना, बंधन में नहीं डालना, शारीरिक मानसिक दुःख उत्पन्न नहीं करना, यावत काया से प्राणों को विलग नहीं करना" यही दया रूप धर्म ध्रुव है नित्य है, शाश्वत है। इन वचनों के प्रति ऐसा ही विचार करना कि "सभी जीव बेचारे कर्मों के वश में होकर दुःख के सागर में पड़े हुए हैं, उनके दुःख को जानने वाले खेदज्ञ श्री तीर्थंकर भगवान ने फरमाया है कि सबकी दया पालो, सब का रक्षा करो।"

कल्लाण-कोडि-जणणी, दुरंत दुरिया दूर ठवणी।
संसार भव जल तारिणी, एगंत होइ सिरी जीवदया॥

करोड प्रकार से यानो विविध रीति से कल्याण को उत्पन्न करने वाली, दुर्दमनीय दुरित यानो पाप का नाश करने वाली, ससार रूप महा सागर को पार करने में नौका के समान, इत्यादि अनेक सत्कामों को करने वाली, और सत्फल को देने वाली, ऐसी श्री जीव दया माता है *

दया ही धर्म का मूल है। सभी मत मतातर केवल एक दया के सहारे से ही चल रहे हैं। दया अनुकम्पा सम्यक्त्वी का (धर्मी का) लक्षण है। आदर्श सिद्धान्त रूप पवित्र दया को धर्म ध्याता अपने हृदय में सदैव स्थान देते हैं। सदा दया युक्त भाव रखते हैं। +

दयालु अन्य जीवों को दुःखी देखकर करुणा लाते हैं। त्रस अथवा स्थावर जीवों को शारीरिक रोगो से एव चिन्ता आदि मानसिक पीड़ाओं से पीडित देखकर उन्हें करुणा उत्पन्न हो जाया करती है। जैसे प्रत्यक्ष रूप से किसी वधिर यानी बहरे प्राणी को देखकर दया शील विचारने लगता है कि "इस बेचारे के कौन से पाप का उदय है कि जिसके कारण से यह सुन नहीं सकता है।" अथवा एक ही प्राणी को अधा और बहिरा देख कर और भी अधिक दया के भाव उत्पन्न हो जाया करते हैं। इसी प्रकार किसी को अगो-पाग से हीन, अथवा अन्न वस्त्र से रहित, अथवा रोग शोक से ग्रसित देख कर अनेक प्रकार के अनुकम्पा के विचार उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी तरह से दीन अनाथ तिर्यंच पशु अन्न वस्त्र, गृह इत्यादि के दृष्टिकोण से निराधार है, पराधीनता वश होकर क्षुधा तृषा, शीत आतप, आदि विविध दुःख सदैव भोगा करते हैं।

तिर्यञ्च पचेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से चतुरिन्द्रिय जीव को दुःख अधिक है, क्योंकि वह उसकी अपेक्षा से एक इन्द्रिय हीन है, इस रीति से चतुरिन्द्रिय से तीन इन्द्रिय वाले जीव में, तीन इन्द्रिय से दो इन्द्रिय वाले जीव में, दो इन्द्रिय से एक इन्द्रिय वाले जीव में, और एकेन्द्रिय से निगोद वाले जीव में उत्तरोत्तर दुःख अधिकाधिक रूप से व्याप्त है। क्योंकि निगोद अवस्था में एक ही शरीर में अनन्त जीव एक शरीरी रूप से रहते हैं। एक मुहूर्त्त में ये जीव ६५५३६ जन्म मरण करते हैं। इनकी इतनी दयनीय दशा है कि दुःख से छूटने का उपाय करने की शक्ति तो दूर रही परन्तु अपना दुःख भी ये प्राणी दूसरों को प्रदर्शित नहीं कर सकते हैं। ये बेचारे कृतकर्मों का फल भोगते रहते हैं। इनकी घात करने वाले नित्य नूतन कर्मों का बन्धन करते रहते हैं। कर्मों को बांधने वालों की भी भोगते समय ऐसी ही दशा होती है। किन्तु श्रीजिनेश्वर देव के

---

* दीर्घ दृष्टि से महादयालु श्रीतीर्थंकर भगवान् के वचनों की ओर दृष्टिपात कीजियेगा, उनका श्रीमुख से स्पष्ट आदेश है कि छः काय में से किसी भी एक जीव की हिंसा करने से उस जीव को भी मेरे ही समान दुःख का अनुभव होता है। ऐसी स्थिति में धर्म के नाम पर अथवा अन्य रीति से हिंसा करके उस परम पिता प्रभु को प्रसन्न करना चाहते हो ? यह कितनी मोह मय अज्ञान दशा है।

+ श्रेणिक राजा के सुत, हाथी भव दया पाली, मेघरथ दया काज, माड दियो मरणो।
धर्म रुचि दया धार, कर गया वेड़ा पार, श्रेणिक पड़ह बजायो, सूत्र में है निरणो॥
नेमिजी ने दया पाली, छोड़ दी राजुल नारी, मेतार्यजी ने दया पाल, मेट दियो मरणो।
तेवीसवां जिनराज, तापस के पास जाय, जीवने बचाय दीनो, नवकार को है शरणो॥
सवैया सवायो कीनो, घनाक्षरी नाम दीनो, जीव दया धर्म पालो, जो तुम चाहो तिरणो।
—कृपाराम मुनि

अनुयायी और दयाधर्म के महत्त्व को जानने वाले ज्ञानी ही इन जीवों को अभयदान देते हैं।*

दया धर्मी अनुभव करता है कि ससार में चारों ओर हिंसा का ताडव नृत्य हो रहा है, परन्तु मेरे प्रवल पुण्यों का उदय है कि श्री जैन धर्म का ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ। श्री सूयगडागजी सूत्र में कहा गया है कि "एय खु नाणिणो सार, जन्न हिंसइ किंचण" अर्थात् निश्चय रूप से ज्ञान प्राप्त करने का सार यही है कि किंचित् मात्र भी जीव की हिंसा कदापि नहीं करना। इसलिये निरन्तर ऐसा ही ध्यान करना कि "अब मैं तीनों योगों की विशुद्धि के साथ सभी जीवों को अभय दान देने वाला बनूँ। सभी के प्रति वैर विरोध से निवृत्ति ले लूँ" ऐसा करने से फिर मुझे मोक्ष में जाने से कोई भी किसी भी प्रकार से रोकने में समर्थ नहीं हो सकेगा। अतएव यह त्रिकाल सत्य सिद्धान्त है कि 'दया ही मोक्ष का सच्चा हेतु है।'"

—: बन्ध :—

कर्मों के बंधन से परिमुक्त होने पर ही आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति हुआ करती है। इसलिये मुमुक्षु के लिये बन्ध का स्वरूप जानना अति आवश्यक है। सूत्र में बध चार प्रकार का वतलाया गया है — प्रकृति वध स्थिति बध, अनुभाग बध और प्रदेश बध। इन चारों प्रकार के बध का स्वरूप मोदक के दृष्टान्त से समझाया जाता है,—

(१) प्रकृति वधः—जैसे सूंठ आदि पदार्थों से निर्मित मोदक का स्वभाव वायुजनित रोगों को मिटाने का होता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान को रोकने का है। दर्शनावरण कर्म का स्वभाव दर्शन गुण को आच्छादित करने का है। वेदनीय कर्म का स्वभाव अनत निराबाध सुख को उत्पन्न नहीं होने देने का है। मोहनीय कर्म का स्वभाव निर्मलता और निर्ममत्व गुण को प्रकट होने से रोकने का है। आयुष्य कर्म का स्वभाव अजर अमर स्थिति नहीं पैदा होने देने का है। नाम कर्म का स्वभाव अमूर्त्त धर्म एव अरूप धर्म को पैदा होने देने से रोकने का है। गोत्र कर्म का स्वभाव सर्वोच्च स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करने में बाधा डालने का है। और अन्तराय कर्म का स्वभाव अनत शक्ति एव अनत बल वीर्य को रोकने का है।

(२) स्थिति वध —जैसे अमुक पदार्थों से निर्मित मोदक अमुक महीनों तक अथवा अमुक समय तक नहीं विगड़ता है, एव अमुक काल तक टिक सकता है, इसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अतराय, इन चारों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस करोड़ा करोड़ी सागरोपम की है। मोहनीय कर्म की स्थिति

* एक इन्द्रिय वाले जीव की हिंसा की अपेक्षा से दो इन्द्रिय वाले जीव हिंसा में पाप अधिक रहा हुआ है, दो इन्द्रिय वाले जीव की हिंसा की अपेक्षा से तीन इन्द्रिय वाले जीव की हिंसा में पाप अधिक रहा हुआ है, यो उत्तरोत्तर तीन इन्द्रिय वालों की अपेक्षा से चतुरिन्द्रिय वाले जीव में, चतुरिन्द्रिय वाले जीव से पचइन्द्रिय वाले जीव में, तिर्यंच की अपेक्षा से मनुष्य की हिंसा में पाप अधिक रहा हुआ है। साराश यह है कि जो उच्च स्थिति अपेक्षा कृत प्राप्त हुई है, उसका कारण अनन्तानन्त पुण्य की वृद्धि और उसका उदय है। इसी कारण से उत्तरोत्तर हिंसा जनित पाप की मात्रा अधिकाधिक होती जाती है। जैसे अतिसाधारण स्थिति वाले दीन हीन आदमी को गाली देने में और किसी उच्च और बड़े आदमी को गाली देने में दोनों की स्थिति में महान् अन्तर है, वैसे ही उत्तरोत्तर परिवर्तित स्थिति के कारण उन जीवों की हिंसा के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये। जो जीव जितना ही उच्च स्थिति को प्राप्त हुआ है, वह उतने ही अशों में आत्म कल्याण के समीप पहुंचा है। अतएव उसको मारने से उसके आत्म कल्याण के प्रति महती हानि हुई है अत गृहस्थियों को चाहिये कि स्थावर काय वाले पदार्थों की मर्यादा लेते हुए निर्दोष त्रस जीवों की हिंसा से अपने आपको बचावें।

सित्तर करोड़ा करोड़ी सागरोपम की है। नाम तथा गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस करोड़ा करोडी सागर की है। एवं आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर की है।

(३) अनुभाग बंध —जैसे अमुक मोदक का स्वाद मीठा होता है और अमुक को कडुआ, तरह से ज्ञानावरण की दशा बादलों द्वारा सूर्य को ढक देने जैसी, दर्शनावरण की दशा आँखों पर पट्टी देने जैसी, वेदनीय की शहद में लिप्त तलवार की धार को चाटने जैसी, मोहनीय का मदिरा पीने से नशे के जैसी, आयुष्य की खोडे बडी जैसी, नाम कर्म की कुंभकार द्वारा निर्मित घट, कलशा आदि जै गोत्र कर्म की चित्रकार द्वारा चित्रित चित्रों जैसी, और अंतराय कर्म का दशा इन्कार करने वाले भंडार जैसी कही गई है।

(४) प्रदेश बन्ध—जैसे अमुक मोदक के निर्माण में दुगुनी शक्कर पडती है तो अमुक प्रकार के मोदक में तीन गुनी अथवा चार गुनी। इसी प्रकार से किसी कर्म के प्रदेशों की वर्गणा संख्यात होती तो किसी की अनन्तानन्त वर्गणा होती है।

इन चारों बंध में से प्रकृति बंध और प्रदेश बंध तो योगों की प्रवृत्ति से हुआ करते हैं। तथा स्थि बंध और अनुभाग बंध कषायों के कारण से हुआ करते हैं। ये चारों बंधन प्रवाहिक रूप से जीव के स अनादि काल से चले आ रहे हैं। किसी समय तीव्र रसोदय होता है तो किसी समय मन्द रसोदय। सम में यह दृश्य देखा जाता है कि कोई क्रूर प्रकृति वाला है तो कोई शांत प्रकृति वाला। कोई दीर्घायु है कोई अल्पायु है। कोई सुसंयोगों वाला है तो कोई दुस्संयोगों वाला है। कोई गौर वर्ण वाला एवं सुस ठित शरीर वाला है, तो कोई कुरूप काला और दुस्संगठित शरीर वाला है। इन विचित्र परिस्थितियों देखकर अच्छे पर न तो राग करना चाहिये और बुरे पर न द्वेष ही लाना चाहिये। उन बेचारे प्राणिय का इसमें क्या दोष है ? जिनके जैसा बन्ध का उदय है उनको वैसा संयोग प्राप्त हुआ है। इस स्थिति बदलने की शक्ति उनमें नहीं है। अतएव उन्हें भला बुरा नहीं कहना चाहिये। इस प्रकार सद् भावन बनाये रखें। यदि स्वयं के लिये भी इष्ट अथवा अनिष्ट संयोगों की प्राप्ति हुई हो तो भी धर्म ध्यानी स भावनाएँ बनाये रखें, तथा हर्ष शोक से अतीत रहे। ऐसी स्थिति द्वारा ही परम आनन्द रूप और पर सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

—: मोक्ष गमन :—

"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो ही मोक्षः"

—तत्वार्थ सूत्र

जैसे बीज में से अंकुर उत्पन्न होने का अनादि कालीन स्वाभाविक शक्ति सम्बन्ध रहा हुआ है किन्तु यदि उस बीज को अग्नि द्वारा किंचित जला दिया जाय तो वह अंकुर उत्पत्ति की शक्ति नष्ट हो जात है। उसी तरह से यदि उपरोक्त चारों प्रकार के बंधमय सम्पूर्ण कर्मों को 'बंध अभाव और निर्जरा" रू ध्यानाग्नि द्वारा पूर्ण रीति से जला दिये जाय तो जन्ममरण रूप संसार से मुक्ति प्राप्त होकर मोक्ष स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

जैसे बन्धन के संयोगों से तुम्बा पानी में डूबा रहता है, और उस बंधन के टूटते ही जैसे तुम्बा स्वभावतः जल की सतह पर आकर तैरने लगता है वैसे ही आत्मा का स्वभाव भी कर्मों के बंधनों के टूटते

ही मोक्ष स्थान के अग्र भाग पर तत्काल पहुँच कर स्थित हो जाने का है।*

उस मोक्ष स्थान का स्वरूप इस प्रकार का है:—लोक के मध्य में जो चौदह राजू लंबी त्रसनाड़ी है, उसके सर्वोच्च भाग पर पैंतालीस लाख योजन की लंबी चौड़ी गोलाकार पत्ते जैसी एक सिद्ध शिला है, जो कि मध्य में आठ योजन जितनी मोटी है, यह क्रमश पतली होती होती अंतिम किनारे पर अत्यंत पतली है, अत्यंत निर्मल श्वेत रंग वाली है। इस शिला का अंतिम भाग एक योजन जितना है, उसमें से भी चौथाई योजन के छठे भाग जितने क्षेत्र में ही सिद्ध स्थान अथवा मोक्ष स्थान है। जहाँ पर कि मुक्त आत्माएँ अत्यंत विशुद्ध स्व-आत्मप्रदेशों के रूप में संस्थित हैं। यह मोक्ष स्थान लोकाकाश और अलोकाकाश के अत्यंत सर्वोच्च संधि स्थान पर स्थित है। विशुद्धतम से विशुद्धतम आत्म प्रदेशों की स्थिति ही सिद्ध अवस्था है। एक श्लोक द्वारा सिद्ध भगवान् के स्वरूप को इस प्रकार वर्णन करने का प्रयास किया गया है—

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद् वीतबाधं विशालं,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निष्प्रतिद्वन्द्वभावम्।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकालम्,
उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्॥

श्री सिद्ध परमात्मा निज आत्म स्वरूप में संस्थित हैं, स्वयं अतिशय युक्त हैं, अव्याबाध स्थिति वाले हैं, हानि-वृद्धि से रहित हैं, प्रतिपक्षमय प्रतिस्पर्धा से रहित हैं, अनुपम हैं, ज्ञान आदि की अपेक्षा से अनन्त स्वरूप हैं, नित्य हैं, सर्वकाल उत्तम हैं, परम सार युक्त हैं, इत्यादि रूप से अनंतानंत सुख का अनुभव करते हुए सिद्ध परमात्मा शोभायमान हैं। सिद्ध परमात्मा अतीन्द्रिय सुख के भोक्ता हैं, इन्द्रिय सुख तो क्षणिक और कहने मात्र का है, एवं परिणाम की दृष्टि से भी दु:ख रूप ही है। इन्द्रियों के विषयों का पोषण दु:ख का सागर ही है, ऐसा पहले ही कहा जा चुका है, अत. सिद्ध भगवान् अतीन्द्रिय अनन्त सुखों के भोक्ता हैं।

आठों कर्मों के आत्यंतिक क्षय होने पर ही सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हुई है, अत सिद्ध परमात्मा में इस प्रकार गुणों का आविर्भाव हुआ है:—

ज्ञानावरणीय कर्मों के नष्ट होने से अनंतानंत स्वरूप केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई है। दर्शनावरणीय कर्मों के नाश से अनंत रूप केवल दर्शन उत्पन्न हुआ है। वेदनीय कर्म के क्षय से निराबाध और अक्षय सुख प्राप्त हुआ है। मोहनीय कर्म के कटने से शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्वशील एवं निर्मल रूप हुए हैं। आयुष्य कर्म के दूर होने से अजरामर पदवी पाये हैं। नाम कर्म के अलग होने से अरूप अवस्था मिली है। गोत्र कर्म के झड़ जाने से दुर्गुणों से रहित सर्वोच्च अवस्था प्राप्त हुई है। अन्तराय कर्म के खत्म हो जाने से अनंत दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और अनन्त बल वीर्य लब्धि के धारण हार हुए हैं। इस प्रकार सिद्ध भगवान के अनंत गुण हैं। ध्यानी इन्हीं गुणों का ध्यान करता रहे।

---

* जैसे जितनी पानी की सतह होती है, वहीं तक तुम्बा आकर ठहर जाता है, एवं ऊपर नीचे अधिकाधिक गमनागमन नहीं करता है, वैसे ही लोक के अग्रभाग से आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव वहीं तक जाकर ठहर जाता है, और इसी कारण से आगे अलोकाकाश में गति नहीं कर सकता है।

—: गति गमन :—

नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, देव गति और मोक्ष गति के, प्रत्येक के चार चार कारण कहे गये हैं:—

(१) महा आरम्भ वाला—सदा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा होती हो, ऐसे कारखाने आदि का चलाने वाला।

(२) महा परिग्रह वाला—अनर्थ रीति से भी द्रव्य का उपार्जन करने वाला, पाप कार्य करते हुए नहीं डरने वाला, "चमडी जावे, परन्तु दमड़ी नहीं जावे" ऐसा महा लालची और कृपण।

(३) कुत्सित आहारी—माँस मदिरा का सेवन करने वाला, अभक्ष्य पदार्थों का भक्षक।

(४) पचेन्द्रिय जीवा का घातक—मनुष्य पशु आदि की घात करने वाला। इन चारों कर्मों वाला, अथवा इनमें से किसी भी एक का कर्त्ता मर कर नरक गति में जाने वाला होता है।

(५) मायावी=कपटी दगाबाज। (६) निविड मायावी=मीठा ठग, धूर्त्त। (७) मत्सरी गुणों का द्वेषी। (८) कूड माणे कूड तोले=खोटा तोल और खोटा माप रखने वाला। इन चारों कर्मों वाला अथवा इनमें से किसी भी एक का आचरण करने वाला मर कर तिर्यञ्च गति में जाने वाला होता है।

(९) भद्रिक=सरल स्वभाव वाला, (१०) विनीत=नम्र, कोमल स्वभाव वाला, मेल मिलाप रखने वाला, (११) दयालु=दुःखी को देखकर करुणा लाने वाला, यथा शक्ति दुःखी की सहायता करने वाला, (१२) अमत्सरी=गुणानुरागी, शुभैषी। इन चार कर्मों वाला प्राणी मनुष्य गति में जाया करता है।

(१३) सराग-सयमी— शरीर पर, शिष्य पर, उपकरणों पर ममत्व भावना रखने वाले साधु, (१४) सयमासयमी=श्रावक, (१५) बाल-तपस्वी—हिंसामय तपस्या करने वाले, कद मूल के भक्षक तपस्वी, (१६) अकाम निर्जरा—पराधीनता अथवा परवशता के कारण से दुःख सहन करने वाले, इस प्रकार इन चार कामों वाले प्राणी देवगति में जाया करते हैं।

(१७) ज्ञानी—जीव आदि नौ तत्त्वों के यथार्थ ज्ञाता, (१८) दर्शनी—क्षायिक सम्यक्त्व वाले, यथार्थ श्रद्धा वाले, (१९) चारित्र शील—यथाख्यात चारित्र वाले, शुद्ध सयमी, (२०) तपस्वी—सम्यक् ज्ञान पूर्वक यथार्थ रीति से तपस्या करने वाले, इन चार कामों के करने वाले मोक्ष में जाया करते हैं।

इस प्रकार धर्म ध्यानी इन बीस कामों में से चार गति के १६ कामों को छोड़कर मोक्ष में पहुँचाने वाले केवल चार कामों की ही साधना करे।

—: हेतु :—

ससार-परिभ्रमण के सत्तावन हेतु कहे गये हैं—

पच्चीस कषाय, पन्द्रह योग, बारह अव्रत, पाँच मिथ्यात्व, ये ही सत्तावन हेतु हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पच्चीस कषाय—(१) अनन्तानुबंधी क्रोध—पत्थर की विभाजित रेखा समान, जो कि कभी भी नहीं मिले। (२) अनन्तानुबधी मान—पत्थर के स्तम्भ समान, जो कि कभी भी झुके नहीं। (३) अनन्तानुबधी

माया—बाँस की जड़ समान, गाँठ में भी गाँठ। (४) अनन्तानुबंधी लोभ—किरमिच के रंग समान, जल जाय तो भी नहीं मिटे। इन कषायों वाला मृत्यु प्राप्त करके नरक में जाता है। और इन कषायों वाला मिथ्यात्वी ही होता है।

(५) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध—पृथ्वी की विभाजित रेखा समान, जो कि वर्षा होने पर मिल जाय। (६) अप्रत्याख्यानावरण मान—हड्डी के स्तम्भ समान, जो कि प्रयत्न करने पर झुक जाय। (७) अप्रत्याख्यानावरण माया—मेंढे के सींग समान विकृति वाली। (८) अप्रत्याख्यानावरण लोभ—गाड़ी के पहिये के ओंगन के रंग समान, जो कि क्षार आदि द्वारा विशेष प्रयत्न पर, ठीक किया जा सके। इन कषायों वाला श्रावकव्रतों को नहीं ग्रहण कर सकता है। एवं मृत्यु प्राप्त करके तिर्यञ्च गति में जाता है। (९) प्रत्याख्यानावरण क्रोध—धूलि अथवा रेत की रेखा के समान, जो कि हवा के चलते ही समान रूप धारण कर लेती है। (१०) प्रत्याख्यानावरण मान—काठ स्तम्भ समान, (११) प्रत्याख्यानावरण माया—चलते हुए बैल के मूत्र समान इधर उधर टेढ़ाई लिये हुए। (१२) प्रत्याख्यानावरण लोभ—कीचड़, मैल आदि के रंग जैसी स्थिति वाला। इन कषायों वाला साधु व्रतों को ग्रहण नहीं कर सकता है और मृत्यु प्राप्त करके मनुष्य गति में जाया करता है।

(१३) सञ्ज्वलन क्रोध—जल रेखा के समान। (१४) सञ्ज्वलन मान—बेंत लता अथवा तृण समूह समान। (१५) सञ्ज्वलन माया—बांस के छिलके के समान (१६) सञ्ज्वलन लोभ—पतंग के रंग अथवा हल्दी के रंग समान। इन कषायों वाला यथाख्यात चारित्र को और केवल ज्ञान केवल दर्शन को नहीं प्राप्त कर सकता है। मृत्यु प्राप्त करने पर ऐसी आत्मा देव गति में जाया करती है।

(१७) हास्य=हसना। (१८) रति=प्रसन्नता पूर्वक राग भाव। (१९) अरति=उदासीनता पूर्वक उपेक्षा अथवा द्वेष। (२०) भय=डर। (२१) शोक=चिन्ता। (२२) दुगुंछा=घृणा, नफरत। (२३) स्त्री वेद=पुरुष के साथ मैथुन भावना। (२४) पुरुष वेद=स्त्री के साथ मैथुन भावना। (२५) नपुंसक वेद=स्त्री पुरुष के साथ मैथुन भावना। इन पच्चीस ही कषायों के संयोग से कर्मों में अनुभाग शक्ति और स्थिति शक्ति पैदा हुआ करती है।

योगों के पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं—१ सत्य मनोयोग, २ असत्य मनोयोग, ३ मिश्र मनोयोग और ४ व्यवहार मनोयोग, जो सत्य और असत्य दोनों से रहित हो, वह व्यवहार मनोयोग है। जैसे किसी गांव में पहुँचने पर यह कहना कि "अमुक गांव आ गया।" तेल, बत्ती के जलने पर भी यह कहना कि "दीपक जलता है" इत्यादि रूप से व्यवहार का स्वरूप समझ लेना चाहिये। ५ सत्य भाषा, ६ असत्य भाषा, ७ मिश्र भाषा, और ८ व्यवहार भाषा। ९ औदारिक शरीर सात धातुओं वाला मनुष्य तिर्यंचों का शरीर।

(१०) औदारिक मिश्र—औदारिक शरीर की उत्पत्ति के समय और वैक्रियिक करते समय, जो मिश्र स्थिति होती है, वह औदारिक मिश्र है। (११) वैक्रियिक शरीर—शुभाशुभ पुद्गलों से निर्मित, देवताओं और नारकीय जीवों का शरीर। (१२) वैक्रियिक मिश्र—वैक्रियिक शरीर की उत्पत्ति के समय अथवा उत्तर वैक्रियिक करे, उस समय की विशेष शारीरिक स्थिति। (१३) आहारक शरीर—पूर्वधारी मुनि द्वारा कोई संशय उत्पन्न हो जाने पर आत्म प्रदेशों द्वारा की जाने वाली पुतले के रूप में विशेष प्रक्रिया। (१४) आहार मिश्र—आत्म प्रदेशों संबंधी प्रक्रिया को समेटते समय और पुनः उन्हें आत्मस्थ करते समय की विशेष शारीरिक स्थिति। (१५) कार्मण शरीर—आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्धित कर्म प्रदेशों की विशेष स्थिति। ये पन्द्रह प्रकार के योग कर्मों का आकर्षण करते रहते हैं।

बारह प्रकार के अव्रतों का स्वरूप इस प्रकार है —

(१ से ६ तक) पृथ्वी पानी अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन काया संबंधी आरम्भ समारभ करना। (७ से १२ तक) श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय रसइन्द्रिय, स्पर्शइन्द्रिय और मन। इन छ: इन्द्रियों के पोषण के लिये जो व्रत, मर्यादा और प्रत्याख्यान नहीं किया जाता है, और अमर्यादित जीवन व्यतीत किया जाता है, वही अव्रत अवस्था है, इससे निरन्तर कर्मो का बधन होता रहता है।

विचार कीजियेगा कि—इन्द्रियों के पोषण के लिये विविध रीति से कितने जीवों का घमासान होता है। ढोल नगाड़ा आदि मढने के लिये जीवित पशुओं की खाल उतारी जाती है, कितनी निर्दयता पूर्वक उनको हत्या की जाती है।

अनेक पृथ्वी काय के पिंड रूप कच्ची धातु को गला कर आभूषण बनाये जाते हैं। इसमें त्रस और स्थावर दोनों का आरभ समारभ होता है। इसी प्रकार मनोहर मकान, रेशमी सूती वस्त्र, आभूषण, भोजन सामग्री सभी का निर्माण आरभ पूर्वक ही होता हैं। मास, मदिरा, अभक्ष्य आहार, पर स्त्री गमन, वेश्या गमन आदि सभी महान पापकारी कार्यों में बेचारे त्रस स्थावर जीवों का भयंकर नाश रहा हुआ है, ऐसा दीर्घ दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट विदित होता है।

एक वस्त्रोत्पत्ति मे ही देखियेगा कि सर्व प्रथम तो खेत को हल द्वारा हाकना, जोतना पड़ता है, इसी में पृथ्वी के गर्भ में रहे हुए जीवों का नाश हो जाता है। तत्पश्चात् उसमें खाद डालना पड़ता है, जो कि जीवों का नाश रूप ही है। नींदाई खोदाई की क्रिया द्वारा भी जीव हिंसा स्पष्ट ही है। इसके बाद पौधे पर उत्पन्न वनस्पति काय के जीवमय कपास को चूटा जाता है। उसे एकत्र कर महा आरम वाले कारखाने द्वारा बिनौले और रूई अलग अलग की जाती है, तत्पश्चात् हिंसा के प्रचड रूप मील द्वारा कपड़ा तैयार किया जाता है और उस पर चर्बी का कलप चढाया जाता है इस प्रकार कपड़ा तैयार हो जाने पर रगरेज द्वारा भट्टी आदि की सहायता से उसे रगा जाता है। इस सारी प्रक्रिया का अध्ययन कीजियेगा और सोचियेगा कि एक वस्त्र के निर्माण में असंख्य त्रस और स्थावर जीवों की प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से स्पष्ट हिंसा होती है, इस प्रकार महान् अनर्थ द्वारा एक वस्त्र का निर्माण होता है।

इसी प्रकार एक आभूषण की उत्पत्ति की क्रिया का विचार कीजियेगा कि:-सर्व प्रथम तो खान से सैकड़ों मिट्टी पत्थर आदि खोदने पर मिट्टी मिश्रित सोना चाँदी की प्राप्ति होती है। इसके बाद भट्टी द्वारा उसे गला कर मिट्टी अलग की जाती है और धातु अलग की जाती है। तत्पश्चात सुनार उसे गला कर आभूषण बनाता है एव विविध क्रियाओं द्वारा उज्ज्वल बना कर पहिनने योग्य तैयार करता है। इसमें कितना आरभ समारभ रहा हुआ है? कितने मोह और लोभ, मान के परिणाम रहे हुए हैं? यह विचारने पर अपने आप मालूम हो जाता है।

ऐसे ही भोजन मकान आदि विविध सांसारिक सामग्री के निर्माण मे पापों का पुञ्ज रहा हुआ है, ऐसा उपयोग पूर्वक दृष्टि डालने से स्पष्ट रीत्या प्रतीत होता है। इस पाप पुञ्ज का विचार करते ही हृदय में रोमांच हो आता है। विचारो का प्रवाह उमड़ पड़ता है कि यह ससार कितने कितने महान् पापों से भरा पूरा है। किसी भी तरफ दृष्टि डालियेगा तो पता चलेगा कि प्रत्येक सासारिक कार्य में कितना जुल्म और कितनी निर्दयता रही हुई है। सांसारिक कितने ही पाप तो ज्ञात अवस्था में हैं और कितने ही महाघोर पाप अपनी अज्ञात अवस्था में उत्पन्न हो रहे हैं। हमारी मर्यादा नहीं होने से, व्रत प्रत्याख्यान नहीं होने से, यानी अव्रत और अप्रत्याख्यानी अवस्था के कारण से उन पापों की क्रियाएँ हमारी आत्मा में आया ही

करती हैं। यह नियम अमर्यादित, अव्रती, और अप्रत्याख्यानी सभी सांसारिक जीवों के लिये समझना चाहिए। जैसे घर के किवाड़ बन्द नहीं करने की दशा में बिना जाने और बिना देखे एव अनिच्छा होने पर भी कचरा रूप धूलि, तृण आदि घर में आया ही करते हैं, वैसे ही प्रत्याख्यान नहीं करने की दशा में पाप का समूह आत्मा के प्रति आकर्षित होकर आया ही करता है। ऐसा जान कर, विश्वास कर मुमुक्षु जीवों को बारह ही अव्रतों से दूर ही रहना चाहिये।

—: पॉच मिथ्यात्व :—

प्रत्येक सांसारिक आत्मा अनादि ससार में अनादिकाल से भ्रमण करता आ रहा है, इसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। इसका छूटना महा कठिन है। क्योंकि-इसका सम्बन्ध अनादि काल से है। इसके छूटे बिना मोक्ष नहीं मिल सकता है। अत. मुमुक्षु आत्माओं के लिए इसका स्वरूप जानना अति आवश्यक और अनिवार्य है। इसके मुख्य पॉच भेद कहे गये हैं—

(१) अभिग्रह मिथ्यात्व, (२) अनभिग्रह मिथ्यात्व, (३) अभिनिवेशिक मिथ्यात्व, (४) संशय मिथ्यात्व और ५ अनाभोग मिथ्यात्व।

(१) अभिग्रह मिथ्यात्व—खोटे पक्ष को हठ पूर्वक और निश्चित रूप से धारण करना। अज्ञान, मद, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, निद्रा शोक, झूठ, चोरी, मत्सर, भय, हिंसा, मोह, क्रीड़ा, और हास्य, इन अठारह दोष वाले को सत् देव मानना और इनसे रहित को कुदेव मानना।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, पॉचों इन्द्रियों के विषय-भोग, चारों कषाय, आदि दुर्गुणों से युक्त तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, आदि पॉचों आचारों से रहित, ऐसी आत्मा को अपना गुरु मानना, एव हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेष, क्लेश, पैशुन्य, निन्दा, हर्ष, शोक, रात्रि भोजन, एव मिथ्यात्व इन अठारह कामों में धर्म समझना और इनसे उल्टे कामों में अधर्म मानना, यही अभिग्रह मिथ्यात्व है। इन देव, गुरु और धर्म के प्रति विपरीत कदाग्रह रखना और इन्हें छोड़ने के लिये कहा जाय तो उत्तर देना कि ' यह तो हमारी पीढ़ियों से चला आ रहा धर्म है, इसे हम कदापि नहीं छोड़ेंगे।" ऐसा हठाग्रही होना ही अभिग्रह मिथ्यात्व है।

(२) अनभिग्रह मिथ्यात्व—सुदेव कुदेव, सुगुरु, कुगुरु, सुधर्म, और कुधर्म, सभी को एक समान ही समझ कर उन्हें वन्दना, पूजना, अनाभिग्रह मिथ्यात्व है। इस प्रकार सत्यासत्य का निर्णय नहीं करना, कोई समझावे तो कहना कि "अपने को मतमतान्तरों के झगड़े से क्या करना है? सभी धर्मों में सन्त, विद्वान् और गुणवान् हैं, तो फिर किसे झूठा कहना? अपने लिये तो सभी अच्छे हैं।"

(३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—कुदेव, कुगुरु कुधर्म, और कुशास्त्र, के स्वरूप को किसी सत्संगति से यथार्थ रूप में समझ भी जाय कि "यह खोटा है" फिर भी लोक व्यवहार अथवा कुल गुरुओं के लिहाज मे पड़कर उन्हें नहीं छोड़ना, और इस प्रकार विचार करना कि 'यदि मैं इस परम्परा का परित्याग कर दूगा, तो मेरे गुरु, मित्र गण स्वजन और बन्धु बांधव मुझे उपालम्भ देंगे, मेरी निंदा करेंगे, इस परम्परा रूप धर्म के मानने वाले यहाँ बहुत मनुष्य हैं, और इन्होंने मुझे अपने धर्म का नेता मान रक्खा है, ये सब मेरी आज्ञा को मानते हैं, इन्होंने मेरे मान सन्मान को बहुत बढ़ा रक्खा है, ऐसी स्थिति में यदि मैं इस धर्म का परित्याग कर दूंगा तो ये सब मेरे विपरीत हो जायगें, और मेरी निन्दा एव अपमान

करना प्रारम्भ कर देंगे। इत्यादि प्रकार से विविध विचारों से ग्रसित होकर असत्य को असत्य जानता हुआ भी उसे नहीं छोड़ सके एवं अपने जन्म को व्यर्थ खोता हुआ भी उसके लिये जरा भी चिन्ता नहीं करता, ऐसे भारी कर्म शील जीव की मिथ्यात्व विचार धारा को "आभिनिवेशिक मिथ्यात्व" कहा जाता है।

(४) संशय मिथ्यात्व—कितने ही अल्पज्ञ जीव तथा अज्ञानी पुण्योदय से जैन धर्म को पा गये, जैन-शास्त्रों को सुन भी लिया, और क्रिया भी करते रहे; परन्तु फिर भी कितनी ही गंभीर बातों के प्रति शंकाशील होकर सोचते रहे कि सूई के अग्र भाग जितने क्षेत्र में अनंत जीवों का पिंड कैसे रह सकता है? पानी की बून्द में असंख्यात जीव कैसे समा सकते हैं? पूर्व जितना, पल्योपम जितना और सागरोपम जितना आयुष्य कैसे हो सकता है? हजारों लाखों धनुष्यों जितनी अवगाहना कैसे हो सकती है? नगरियों का प्रमाण और जन-संख्या इतनी कैसे हो सकती है? चक्रवर्ती की ऋद्धि और पराक्रम इतने विपुल परिमाण में कैसे हो सकती है? लब्धियों की शक्ति क्या सही बात है? भूगोल खगोल का हिसाब कैसे क्या सही हो सकता है अरूपी जीवराशि, सूक्ष्म जीव-पिंड, और मोक्ष के अनिर्वचनी सुख, ये क्या सत्य घटनाएँ हैं? इन असंभव सी प्रतीत होने वाली बातों को सत्य रूप में कैसे मानी जाय?" इस प्रकार शंकाओं का समूह तो उत्पन्न कर ले, परन्तु यह नहीं सोचे कि "अनंत ज्ञानी के समुद्र समान विस्तृत और गंभीर वचन मेरी लोटे जितनी अल्प एवं क्षुद्र बुद्धि में कैसे समाविष्ट हो सकते हैं? वीतरागी आत्मा मिथ्या प्रवचन क्यों कहेंगे? केवल ज्ञान द्वारा उन्होंने जैसा देखा, वैसा आदेश-उपदेश दिया।"

संसार की विचित्र परिस्थितियों पर विचार करने से उपरोक्त शंकाओं का बहुत कुछ समाधान हो सकता है। वे इस प्रकार हैं—

(१) करोड़ औषधियों को एकत्र कर एक महारसायन रूप औषधि बनाई जाय, और उसमें से एक राई जितनी औषधि ली जाय, तो क्या उसमें करोड़ औषधियों का अंश है या नहीं? है ही। जब कृत्रिम वस्तु में भी सूक्ष्म रीत्या करोड़ पदार्थ का अंश रह सकता है, तो फिर प्राकृतिक कन्द मूल के टुकड़ों में अनन्त जीव रहे हुए हों तो इसमें क्या आश्चर्य है?

(२) आज भी हाथी जितने और ह्वेल मछली जितने विशालकाय प्राणी उपलब्ध हैं, एवं कुन्थुआ जैसे अति सूक्ष्म कीटाणु भी पाये जाते हैं, तो फिर यदि गत काल में मनुष्य आदि की अधिक, अवगाहना और अधिक आयु का उल्लेख है तो इसमें क्या आश्चर्य है?

(३) हाथी आदि विशाल काय प्राणी दूर से ही दिखाई पड़ते हैं और कुन्थुआ आदि सूक्ष्म प्राणी नजदीक से भी कठिनाई पूर्वक देखे जाते हैं। अतएव यदि सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम पृथ्वी आदि काया के जीव हमें दृष्टि गोचर नहीं हो सकें तो इसमें क्या आश्चर्य है?

(४) आजकल भी लंदन, न्यूयॉर्क बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े २ शहर हैं, जो कि एक करोड़ तक की जन संख्या वाले हैं और पचास पचास माइल तक के क्षेत्रफल में फैले हुए हैं, तो फिर प्राचीन काल में बारह योजन जितने विस्तृत नगर यदि बसे हुए हों तो इसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं है।

(५) क्षेत्र की विस्तीर्णता, कोटि घरों के उल्लेख, और मानव की करोड़ों की संख्या से यदि शंका उत्पन्न होती है, तो यह भ्रम मात्र ही है। क्योंकि "कोटि" शब्द अनेक अर्थों में आया है। आज भी कोटि का अर्थ कोड़ी भी लिया जाता है, जोकि "बीस" संख्या का वाचक है। इसी तरह से सम्भव है कि "कोड़ी" अथवा "कोटि" शब्द का उस समय में कोई विशेष अर्थ रहा हुआ होगा, जोकि कालान्तर में लुप्त हो गया।

(६) आजकल भी विश्व में ऐसे ऐसे सेठ मौजूद हैं, जिनको आय प्रति मिनिट सैकड़ों रुपयों की ही नहीं, बल्कि हजारों रुपयों तक की है, तो फिर उस काल में "इभपति" सेठ हुए हैं, तो इसमें कौनसी नई बात हुई है ?

(७) लोहे की मोटी और मजबूत साकल तोड़ने वाले यदि आज भी उपलब्ध हैं, तो यदि गतकाल में अनन्त बली हो गये हैं, ऐसा उल्लेख कोई अतिशयोक्ति भरा नहीं कहा जा सकता है।

(८) पृथ्वी का अन्त किसने देखा है ? ऐसी स्थिति में असख्यात द्वीप समुद्रों का उल्लेख करना और उनमें प्रकाश करने वाले चन्द्र सूर्य की विशेष सख्या बतलाना कैसे मिथ्या हो सकता है ?

(९) आँख से नहीं दिखलाई पड़ने वाले शब्द और गध के परमाणुओं का अस्तित्व यदि माना जाता है तो फिर नहीं दिखलाई पड़ने वाले अरूपी पदार्थों की सत्ता क्यों नहीं मानी जाय ?

(१०) घृत आदि भोग्य पदार्थों का स्वाद जैसे यथास्थिति अनुसार शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता है, तो फिर मोक्ष के अगम्य सुखों का बयान कैसे किया जा सकता है ? उन सुखों का अनुभव तो भोगने पर ही भोक्ता अनुभव कर सकता है। इस प्रकार कितने ही स्थूल विचारों द्वारा कितनी ही स्थूल बातों का निर्णय किया जा सकता है, तो भी सम्यक्त्व दृष्टि वीतराग के वचनों पर पूरा पूरा विश्वास रखते ही हैं। जैसे जौहरी के कहने से लाख रुपयों वाले हीरे को लाख रुपयों का ही माना जाता है, और उस पर वैसा ही विश्वास भी किया जाता है। किन्तु सशयी प्राणी सशय में पड़कर अपना सम्यक्त्व खो बैठते हैं और मिथ्यात्वी बन जाते हैं। इसे ही सांशयिक मिथ्यात्व कहा जाता है।

(५) **अनाभोग मिथ्यात्व**—एकान्त जड़ और मूढ़ अवस्था। न कुछ समझना और न कुछ करना। धर्माधर्म के नाम को भी नहीं पहचानना। जैसे एक इन्द्रिय आदि वाले जीव अवक्तव्य अवस्था में हैं, ऐसी स्थिति में होना ही अनाभोग मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का अर्थ है—झूठापन। सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझना ही मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व बुद्धि को भ्रममयी बना कर आत्महित का नाश करने वाला है, ऐसा जानकर ध्यानी पुरुष इसका त्याग कर दे।

इस प्रकार धर्म-ध्यान के प्रथम चरण रूप आज्ञाविचय सम्बन्धी केवल एक ही गाथा का विस्तार पूर्वक अर्थ सपन्न हुआ। इसमें से ज्ञेय (जानने योग्य) को जाने, हेय (छोड़ने-योग्य) को छोड़े, और उपादेय (आदरने योग्य) को आदरे, यानी अंगीकार करे। शास्त्रों में अनेक स्थानों पर भगवान् की आज्ञा का चिंतन करने के लिये साधुओं के लिये आदेश है। जैसा कि-"सजमेणं तवसा अप्पाणं भावमाणे विहरइ" अर्थात् पाँचों स्थावर काया तीन विकलेन्द्रिय जीव, पचेन्द्रिय प्राणी का सयम याने दया पाले। अजीव वस्त्र पात्र आदि यत्नापूर्वक लेवे, सब के साथ प्रीतिभावना मैत्री भावना का व्यवहार करे। सदा उपयोग पूर्वक ही प्रवृत्ति करे। दिन में दृष्टि पूर्वक और रात्रि में रजोहरण से पु जकर प्रत्येक वस्तु को काम में लावे। अयोग्य वस्तु को यत्नपूर्वक एकान्त स्थान पर परठे यानी डाले। इस तरह सत्रह प्रकार से संयम की परिपालना करे।

बारह प्रकार से निर्जरा रूप तप की आराधना करे। (१) अनशन—दो घड़ी अथवा अधिकाधिक रूपमे यथा शक्ति जीवन पर्यंत के लिये आहार का त्याग करे (२) ऊनोदरी—भूख की अपेक्षा कम खावे, अथवा कषाय आदि कम करे (३) भिक्षा द्वारा आजीविका चलावे। (४) रसों का (विगय का) परित्याग करे। (५) काया को केश-लु चन आदि क्रिया द्वारा क्लेश पहुँचाकर सहन शील वृत्ति का विकास करे।

(६) प्रति सलीनता—इन्द्रियों के विषय की, कषाय और योगों की प्रवृत्ति को घटावे। (७) लगे पाप का प्रायश्चित लेकर शुद्ध होवे। (८ से १२) विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान अथवा कायोत्सर्ग का यथा विधि पालन करे। इन बारह ही प्रकार के तप को ज्ञान पूर्वक आराधना करते हुए आत्म ध्यान करते हुए ही विचरें; और ऐसी ही प्रवृत्ति रखें।

भगवान ने उत्तराध्ययनजी सूत्र में मार्मिक शब्दों द्वारा फरमाया है कि "समय गोयम ! मा पमायए" अर्थात् हे गौतम ! (अथवा हे मुमुक्षु आत्माओं !) आत्म साधना रूप मोक्ष प्राप्ति के कार्य में जरा भी प्रमाद मत करो ! किंचित् मात्र भी आलस्य मत करो।

—: पॉच प्रमाद :—

मद-विसय-कसाय-निद्दा; विकहा य पंचमा भणिया।
एए पंच पमाया; जीवा पाडंति संसारे ॥

अर्थात्—मद विषय कषाय, निद्रा और विकथा; ये पॉच प्रकार के प्रमाद कहे गये हैं, जो कि जीवों को संसार में डूबाते रहते हैं।

(१) मदः—आठ उत्तम बातों के आधार से मद भी आठ प्रकार का कहा गया है। वे आठ उत्तम बातें इस प्रकार हैं—

१ जाति, २ कुल, ३ बल, ४ रूप, ५ लाभ, ६ ज्ञान, ७ तप और ८ ऐश्वर्य—स्वामित्व। इन आठों ही उत्तम बातों की प्राप्ति जीवों को शुभ पुण्योदय से हुआ करती है। यदि कोई आत्मा इन प्राप्त शुभ बातों का उपयोग सयम, व्रत, ब्रह्मचर्य और परोपकार आदि शुभ कार्यों में नहीं करके केवल अपने अहकार की ही, मद की ही वृद्धि करता है, तो उसकी मृत्यु होने पर उसे दुर्गति की प्राप्ति हुआ करती है।

यदि इन प्राप्त शुभ सयोगों के बल पर यत् किंचित यश कीर्ति होने लगती है तो मद में फूल कर यह आत्मा सोचने लगती है कि "मैं पंडित हूँ, शुद्ध आचरण वाला हूँ, वक्ता हूँ, सभी व्यक्ति मेरा सत्कार सन्मान करते हैं, मैं जगत् प्रसिद्ध हूँ, सरस्वती कंठाभरण हू, वादी विजयी हूँ, इत्यादि उपाधियों से अलकृत हूँ, अधिक क्या सोचूं ? मैं एक अद्वितीय महात्मा हू।" इस प्रकार के विचारों में जो भरा हुआ हो; अथवा ऐसी बातें जो अपने मुख से कहता हो अत में ऐसी आत्माएँ ज्ञान आदि से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाया करती हैं। अभिमानी अपने अति साधारण सद् गुण को भी मेरू के समान समझता है। और दूसरों के महान् गुण को एव अपने विशाल दुर्गुण को राई के तुल्य समझता है। इन्हीं कारणों से उसका उद्धार नहीं हो सकता है। इस प्रकार मद अनेक दुर्गुणों की खान है। इसी लिये मद और मदिरा एक ही शब्द द्वारा पुकारे जाते हैं।

(२) विषय—शब्द, रूप, गध, रस, और स्पर्श इन पॉचों इन्द्रिय गुणों की प्राप्ति शुभ पुण्योदय से ही होती है। इनका सदुपयोग यदि "गुणियों के गुणों के उच्चारण में, साधु दर्शन में, तप में" आदि सत्कार्यों में नहीं लगाकर बीभत्स शब्दोच्चारण में, रूप अवलोकन में गंध ग्रहण में अभक्ष्य भक्षण में, और भोग विलास में करता है, वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। अमृत समान इन पॉचों गुणों को विषय में लगा कर इन्हें विष रूप बना देते हैं। जिसका परिणाम दोनों लोक में भयकर दुःख प्राप्ति के दूसरा कुछ नहीं है। इसीलिये विषय और विष समान ही कहे गये हैं।

(३) कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों ही कषाय महा पाप के मूल हैं। इनके वश में होकर जीव अपना स्वरूप भूल जाता है। आत्मघात, द्रव्यनाश, यश नाश, कुलसंहार, आदि अयोग्य और अकरणीय दुष्कार्य इन कषायों के कारण से जीव करते समय भी नहीं हिचकिचाता है। कषाय के आवेश में आकर निर्बल अनाथ को स्व-पराक्रम से और बली को कपट से नष्ट करने में लज्जित नहीं होता है। इन महा पापों द्वारा अपनी आत्मा को मलिन कर दोनों लोक में दुःख का भोक्ता बनता है। इसीलिए "कषाय—कर्मो का आगमन" ऐसा अर्थ है। 'कषाय वाले" का प्राकृत रूप "कसाइ" बनता है। जिसको व्यंग अर्थ में हिन्दी में घातकी कहा जा सकता है।

(४) निन्दा—प्राकृत शब्द "निंदा" के निद्रा और निन्दा दोनों अर्थ लेकर यहाँ विवेचन किया जाता है। दशवैकालिक शास्त्र में कहा गया है कि "पिट्ठिमंस न खाइज्जा" अर्थात् किसी की भी पीठ पीछे निन्दा नहीं करना चाहिये। ऐसी निन्दा को मांस भक्षण के समान कहा गया है। निन्दक पुरुष ज्ञाना शुद्ध आचरणशील, प्रभावक, धर्मोन्नति के कर्त्ता, तपस्वी, क्षमाशील आदि के गुणानुवाद को सुनकर उन्हें सहन नहीं कर सकता है। उन गुणों को निन्दक ढांकने का प्रयत्न करता है। उनकी निन्दा करता है। दोष नहीं होने पर भी उनके प्रति दोष लगाता है। भोले लोगों की उनके प्रति रही हुई भक्ति को कुतर्कों द्वारा हटाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार नीच निंदा रूप दुर्गुण वास्तव में निंदा का ही पात्र है।*

—: निन्दा विषयक सद्बोध :—

अहो आत्मन्! तू रात और दिन दूसरे के दोषों को ही देखने के लिये तत्पर रहता है, और यही विचारता रहता है कि अमुक क्रोधी है, अमुक अभिमानी है, अमुक कपटी है, अथवा वह लालची है वह विश्वासघातक है, वह हिंसक है, झूठा है, चोर है, व्यभिचारी है, केवल दिखाऊ भक्त है, प्रभु का स्मरण तो करता है परन्तु बड़ा पाखंडी है, धूर्त्त है, ठग है; ग्रहीत व्रतों का भंग करने वाला है, इत्यादि विविध रीति से दूसरों के दोषों को देखकर उन्हें अपराधी घोषित करता है, इस प्रकार के जीवन-व्यवहार से खुद का ही मन मलिन रहता है, एवं निरन्तर ऐसी भावनाओं के कारण से तथा ऐसे ही संस्कारों से निंदक के भी मन पर ऐसे सचोट संस्कार जम जाया करते हैं कि कुछ ही समय में स्वयं वचनों द्वारा भी ऐसा ही उल्लेख करने लग जाता है तथा उन्हीं दोषों में स्वयं भी ग्रसित हो जाता है एवं आस पास के वातावरण को भी इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण से दूषित बना देता है। परिणाम यह होता है कि स्वयं भी पाप-पंक में गहरा फंस जाता है और इस कारण से दूसरों का सुधार करना तो दूर रहा, परन्तु खुद ही निंदा का और धिक्कार का पात्र बन जाता है। एवं आसपास की जनता भी ऐसे निंदक की विरोधिनी बन जाती है। नतीजा यह प्राप्त होता है कि लाभ के बदले मूल में ही घाटा पड़ना प्रारंभ हो जाता है।

निंदक मनुष्य का स्वभाव भी धीरे धीरे बहुत खराब हो जाता है। जैसे एक लौकिक दृष्टान्त है कि किसी राजा महाराजा ने रत्न जटित एक सुन्दर और मनोहर महल बनाया था। उसको देखने के लिये अनेक मनुष्य आये और सभी ने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की, परन्तु जब एक चांडाल आया और उसने

सवैया—नरक निगोद भमे, निन्दा का धरण हार, चंडाल समान जिसकी, संगति नहीं काम की।
आपकी बड़ाई पर हानि में मगन, मूढ़ ताकत पराये छिद्र नीति है हराम की॥
पर की निन्दा सुन कान, खुशी नहीं होना कभी, पीछे से करेगा भर, बदी तेरे नाम की।
तिलोक कहत निंदक! तेरे मांहे दोष हैं, यहां से मर जाय, आगे गति यम धाम की॥

महल को चारों ओर से भली भांति देख लिया तो देखने के बाद कहने लगाकि इस महल में "पाखाना" तो बनाया ही नहीं। ऐसे ही निंदक मनुष्य का सदा नीच बुद्धि रहा करती है। ऐसा पुरुष तो सभी सद्गुणों को त्यागकर केवल दुर्गुणों को ही देखता रहता है।

अरे आत्मन्! तू दूसरे के दुर्गुणों को देख कर उनकी निंदा करता है, किन्तु विचार कर कि "क्या उन्हीं दुर्गुणों से तुम्हारा आत्मा बचा हुई है या नहीं ?" "क्या तू सभी प्रकार से निर्दोष है ?" जरा सूक्ष्म दृष्टि से मन को शांत कर इन गभीर प्रश्नों पर विचार कर।

सर्व प्रथम बात तो यह है कि तुम्हारे हृदय में इस निन्दा रूप बड़े दुर्गुण ने ही निवास-स्थान बना रखा है। तुम अपने आपको "राजा, ब्राह्मण, साहूकार, अथवा पटेल" आदि विविध उत्तम और उच्च उपाधियों द्वारा विश्व में विघोषित करके अपनी पूजा प्रतिष्ठा तथा यशः कीर्ति बढा रहे हों, परन्तु क्या उन्हीं उपाधियों के अनुसार, उन्हीं पदवियों के अनुसार शुद्ध नीति के साथ प्रमाणपूर्वक चलते हो।

धर्मात्मा, पुण्यात्मा, सम्यक् दृष्टि, श्रावक, साधु, महात्मा, आचार्य, तपस्वी पंडित आदि नाम धारण तो कर लिये, परन्तु क्या उनके अनुरूप आचरण का परिपूर्ण पालन करते हो ? इस तरह से आंतरिक आत्म-दृष्टि से विचार करने पर सहज रीत्या प्रतीत होगा कि मैं स्वयं ही निन्दा का पात्र हूँ।

जब स्वयं ही दुर्गुणों से युक्त हैं तो फिर अपनी खराबी सुधारना छोड़कर दूसरों को सुधारने के लिये जाना कैसे युक्ति संगत हो सकता है ? दूसरों के दुर्गुणों को सुधारना तो दूर रहा, उन्हें उल्टा अपनी आत्मा में बढ़ाने का ही प्रयत्न कहा जायगा। इस प्रकार अपनी आत्मा को ही डुबाना है और ऐसा करना कितनी महती मूर्खता है ? अतएव सारांश यही है कि सत पुरुषों का कर्त्तव्य दूसरों की निन्दा करना कदापि नहीं है।

"दुनिया दोरंगी है" यह लौकिक कहावत है, इस पर विचार करके हे आत्मन्! तू अपने सद्गुणों को दूसरों को बतलाकर प्रशंसा प्राप्त करने की आकांक्षा मत कर। यदि तुम्हारे सद्गुणों के स्वरूप को बिना समझे ही कोई तुम्हारी निन्दा करता है और सद्गुणों को भी दुर्गुणों के रूप में देखता है, तो भले ही उन्हें ऐसा करने दे, तुम्हारे सद्गुणों को सिद्ध करके उन्हें बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस विस्तृत विश्व में कोई एक मनुष्य तो नहीं है कि जिसको तुम समझा कर चुपचाप बैठ जाओगे। आज यदि किसी एक को समझाओगे तो कल दूसरा नया निंदक खड़ा हो जावेगा। इसी प्रकार दूसरे को समझाओगे तो तीसरा तैयार हो जावेगा। यों अलग-अलग को कहाँ तक समझाते रहोगे ? यदि समझाने का प्रयत्न भी करोगे तो थक जाओगे। और इस तरह से तो अपना इष्ट अर्थ सिद्ध नहीं कर सकोगे। क्योंकि इस प्रकार की वैयक्तिक समझावट तो आत्म श्लाघा ही प्रतीत होगी। और आत्म श्लाघा ही सद्गुणों का नाश करने वाली कही गई है। इससे तो सद्गुणों की स्थिति नीचे की ओर ही गति करेगी। इस प्रकार निम्नगति ही निन्दा की फैलावट करने वाली कही गई है।

जैसे दर्पण में अच्छी अथवा बुरी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है और इससे दर्पण को कोई हानि लाभ नहीं हुआ करता है परन्तु देखने वाले को ही अपने रागद्वेषमय परिणामों से जनित संकल्प-विकल्पों के द्वारा सुख अथवा दुःख का अनुभव हुआ करता है। वैसे ही शुद्ध आत्मा की यदि किसी प्रवृत्ति से किसी दूसरे को विपरीतता अथवा अविपरीतता प्रतीत होती हो, एवं इस कारण से यदि वह उस शुद्ध आत्मा की निन्दा, अथवा स्तुति करे तो उससे शुद्ध आत्मा के लिये कदापि किसी भी प्रकार का हानि लाभ नहीं होने वाला है। परन्तु केवल निन्दा करने से निंदक की आत्मा ही मलिन होगी। तीर्थंकर जैसे अत्यन्त विशुद्ध

महात्माओं को भी ससार के अज्ञ पुरुषों ने दोषमय घोषित किये, तो फिर दूसरे साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है ? जैसे चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर गोशाल जैसे विरोधी स्वार्थियों के द्वारा निंदा करने पर भी चलित विचलित नहीं हुए और सूर्य के समान धर्म प्रकाश की वृद्धि करते रहे, वैसे ही आत्म-साधक को भी किसी के शब्द पर लक्ष्य नहीं देना चाहिए। एव सर्वथा शब्दोच्चारण नहीं करते हुए केवल अपने इष्ट साध्य की ओर ही लक्ष्य देते हुए साधना करते रहना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से स्वभावत साधक के सद्गुण निन्दक के हृदय में सूर्य समान ज्ञान-प्रकाश को प्रकाशित कर देंगे, और इस प्रकार की रीति से स्व एवं पर का परम कल्याण सिद्ध हो सकेगा। जैसे किसी गरीब मनुष्य को यदि कोई श्रीमान् अथवा धनाढ्य कह दे तो इससे वह धनवान नहीं हो सकता है, अथवा किसी धनाढ्य को गरीब कह देने मात्र से वह गरीब नहीं हो सकता है, सारांश यह है कि जो जैसा होता है, वह वैसा ही रहता है। इसी तरह से किसी सद्गुणी को दुर्गुणी कहने से वह दुर्गुणी नहीं हो सकता है, अथवा दुर्गुणी को सद्गुणी कहने मात्र से वह सद्गुणी नहीं हो सकता है।

"अपनी यश कीर्ति की आकांक्षा करना" यह भी एक प्रकार का कायरतापूर्ण दोष है। क्योंकि जिसके मन में कीर्ति की आकांक्षा रहती है, उसके हृदय में सदैव एक विशेष प्रकार का भय समाया हुआ, रहता है कि "यदि मैं अमुक अमुक कार्य करूंगा तो दुनिया मुझे क्या कहेगी ? अथवा मैं कौनसा कार्य करूं ! कि जिससे मुझे सब अच्छा कहें।" इत्यादि विविध विचारों के कारण से लौकिक विरुद्ध किन्तु आत्मोन्नति के साधक कार्यों को और लोकोत्तर के लिये शुद्ध कार्यों को करने में हिचकिचाहट अनुभव करता है, एव यथाविधि आत्मोन्नति नहीं कर सकता है।

आदर्श मार्ग तो यही है कि आत्मानन्द साधक को लौकिक दृष्टि से शुद्धता बतलाने का प्रयत्न छोड़ कर सर्वज्ञ की दृष्टि में प्रतिभासित शुद्धता की प्राप्ति के लिये ही निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। क्योंकि ससार के जीवों को शुद्धता बतलाने से इष्ट अर्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकेगी। परन्तु यदि आपकी शुद्धता सर्वज्ञ के दृष्टि कोण से यथार्थ है, तो फिर विश्व में किसकी शक्ति है, जोकि आपके साधना-मार्ग में और सिद्धि मार्ग में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित कर सकें।

निद्दा यानी नींद—यह भी सत्कार्य में विघ्न पैदा करने वाला एक महान् शत्रु है। धर्म कार्यों में भी इसका अस्तित्व पाया जाता है। कितने ही मनुष्य ऐसे हैं, जो कि मुनि व्रत धारण कर प्रमाद अवस्था में ग्रस्त हो जाते हैं। बिना परिश्रम से ही होने वाले आहार, वस्त्र, उपाश्रय रूप आश्रय स्थान आदि जीवन व्यवहार की सामग्री का उपयोग करते हुए निश्चिंत हो जाते हैं और अपना अधिकांश समय केवल निद्रा लेने में ही व्यतीत करते हैं। यह निद्रा रूप प्रमाद इस लोक और पर लोक दोनों ही भवों के लिये दुःखप्रद ही है।

(५) विकहा यानी विकथा। यह चार प्रकार की कही गई है—१ देशकथा, २ राजकथा, ३ स्त्रीकथा, और ४ भातकथा—भोजनकथा। इसी प्रकार नारी सम्बन्धी, धन सम्बन्धी, धर्म खण्डन की, वैर-विरोध की, गुण बाधक, कामोत्तेजक की, क्लेश कारिणी, पर पीड़ा कारिणी, ग्लानि उत्पादक, इत्यादि रूप से अनेक प्रकार की विकथाएँ हैं। ऐसी कथा वार्ताओं में ही जो मूर्ख मनुष्य अपना अमूल्य मानव जीवन पूरा कर देते हैं, वे महान् अन्याय करते हैं। कितने ही विद्वान् नामधारी पुरुष सभा समितियों को प्रसन्न करने के लिये अनेक कपोल कल्पित वार्तों से, कल्पित वार्तों से, कल्पित विषयों वाली ढालों से, और हास्य, शृंगार वीभत्स आदि रसों द्वारा जनता को अति रंजित किया करते हैं ।* ऐसे व्याख्याता भक्तों सहित फूटी नाव के

* दोहा—दश बोगा दश बोगली, दश बोगा का बच्चा।
गुरुजी तो गप्पा मारे, सब ही जाणे सच्चा॥

दृष्टान्त के समान पाताल में ही पहुँचते हैं। ये पाँचों प्रमाद बड़े ही दुर्धर्ष हैं, श्रीभगवतीजी शास्त्र के आठवें शतक में फरमाया हुआ है कि "चार ज्ञान के धारक, चौदह पूर्वधारी, आहारक लब्धि वाले मुनिराज भी यदि इन पाँचों प्रमादों के चक्कर में आ जाय, तो आयुष्य के पूर्ण होने पर अधोगति ही प्राप्त होती है। ऐसे इन दुष्टतापूर्ण प्रमादों की स्थिति को जानकर परम पिता प्रभु महावीर ने स्पष्ट आदेश दिया है कि समय मात्र के लिये भी क्षण मात्र के लिये भी इनका सहवास मत करो। क्योंकि इनकी किंचित संगति भी ऐसा असर करती है कि फिर प्राणांत होने पर भी इनसे छुटकारा पाना अति कठिन है। आजकल जैनधर्म जैसे परम पवित्र धर्म की जो दुर्दशा हो रही है, उसका कारण भी इन्हीं प्रमादों का प्रसाद है। अतएव वे ही महात्मा ध्यान सिद्धि को प्राप्त कर सकेंगे, जो इन पाँचों प्रमादों से अपनी आत्मा को बचा सकेंगे। यह आज्ञा विचय रूप ध्यान अपार अर्थ से परिपूर्ण है। परन्तु यहाँ पर इतना विवेचन करने के बाद अब सारांश रूप से थोड़े में इतना ही कहना है कि—

> किं बहुणा इह, जहा जहा राग दोसा लहु विज्जिज्जंति।
>
> तहा तहा पयइयव्वं, एसा आणा जिणिंदाणं॥

विशेष क्या कहा जाय? थोड़े में ही यह समझना चाहिये कि जैसे-जैसे राग और द्वेष लघुता को प्राप्त होवे; वैसा वैसा प्रयत्न करना चाहिए, यही श्रीजिनश्वर भगवान् की आज्ञा है।

इस आज्ञा विचय रूप धर्म-ध्यान में प्रवेश करने से मिथ्यात्व आदि अनादि मल चैतन्य रूप आत्मा से इस प्रकार अलग हो जाता है, जैसे कि जल से रजरूप मल हट जाता है। यह ध्यान आधि, व्याधि, और उपाधि रूप ज्वाला से जलते हुए जीव को शान्त करने में इतना ही शक्तिशाली है, जितनी कि पुष्करावर्त्त नामक मेघ विश्व ज्वाला को शांत करने में शक्तिशाली है। यह ध्यान मोह रूप वनचरों को नाश करने के लिये केशरी सिंह के समान हैं, बुद्धि विवेक को बढ़ाने के लिए सरस्वती के समान है, योगियों के मन को समाधिमय करने के लिये शांत आवास रूप है, इत्यादि रूप से अनेक गुणों का सागर है। ऐसे मोक्ष प्रद आज्ञा विचय का चिंतन और मनन धर्म ध्यानी सदैव किया करते हैं।



द्वितीय-पत्र अपाय विचय



अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए

अर्थात् श्रीउत्तराध्ययनजी सूत्र के नौवें अध्ययन में श्रीनमिराज ऋषि शकेन्द्र महाराज से कहते हैं कि—"अपनी आत्मा में रहे हुए दुर्गुणों के साथ ही युद्ध करो, बाह्य युद्ध से क्या अर्थ सिद्ध होने वाला है ? बाह्य युद्ध से तो केवलकषाय ही बढ़ने वाला है। आत्मस्थ कषायों के साथ ज्ञान आदि गुणों द्वारा युद्ध करने से ही आत्मा विजयशील और सुखी हो सकता है।"

"अपाय-विचय" नामक धर्म ध्यान का ध्याता ऐसी भावना प्रस्फुटित करे कि "मेरा जीव सदा सुख चाहता है, अनन्त भवों से मैं सुख के लिए तड़फ रहा हूँ, अनेक उपाय करने पर भी विपरीतता ही प्राप्त होती है, मेरे द्वारा कृत परिश्रम विफल हो जाता है, इसका कारण क्या है ?" "मेरे परिश्रम को नष्ट करने वाला, मुझे प्राप्त होने योग्य और मेरे गुण धर्म रूप अक्षय, अनन्त, अव्याबाध, सुख को व्याघात पहुँचाने वाला, ऐसा कौनसा शत्रु है ?"

"विचार करने पर मुझे इतना निश्चय तो हो चुका है कि वह शत्रु बाह्य होता तो मुझे कष्ट पहुचाते समय वह अवश्य दृष्टिगोचर होता, मेरे शत्रु तो मेरे ही घर में अपना घर बनाकर बैठे हुए हैं। मेरा अनुमान सही है, अब मुझे उन शत्रुओं को बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं रही है। आश्चर्य है कि इतने दिनों तक मुझे यह स्थिति क्यों नहीं दिखाई दी ?"

"अरे ! दिखाई कैसे पड़े ? क्योंकि मैं तो आज दिन तक इनको देखने के लिये अपना घर छोड़कर अन्य अन्य स्थानों पर भटकता फिरा।" "ये तो अन्दर ही अन्दर रहते हुए मेरे प्रयत्नों पर पानी फेरते रहे। अब तो मुझे अपनी भूल सुधारनी ही चाहिये। आत्मस्थ इन बाह्य शत्रुओं को अच्छी तरह से पहिचानने के लिये अब मुझे बाह्य दृष्टि बन्द कर देना चाहिये। भगवान् ने सही फरमाया है कि "एक समय में दो कार्य नहीं हो सकते हैं।"

ऐसी भावना का गम्भीर विचार करके एव आँखें बन्द करके मन को एकाग्र करते हुए ऐसा चिंतन करे कि "ये मेरे शत्रु बड़े प्रबल हैं, इन्होंने अपना साम्राज्य स्थापित कर रक्खा है।"

जो मुमुक्षु आत्मा इस तरह से "अपाय-विचय" नामक धर्म-ध्यान के द्वितीय चरण का ध्याता बनेगा, वह अनन्तकाल से अपाय यानी हानि पहुँचाने वाले कर्म शत्रुओं का नाश कर सकेगा, एवं एकाग्रता पूर्वक ऐसा चिंतन तथा मनन करने से ही सर्व सिद्धियों की सफलता प्राप्त कर सकेगा। सारांश यही है कि कर्म-वृद्धि के करने वाले कामों से निवृत्ति भाव धारण करके, आत्म सुख के उपायों में संलग्न हो करके, मोक्ष मार्ग की प्राप्ति करने में शक्तिशाली बने। तभी समय आने पर परम-सुख का भोक्ता अवश्यमेव हो सकेगा।



तृतीय-पत्र "विपाक-विचय"



इस विश्व की रचना और इसमें घटने वाली घटनाएँ अत्यन्त ही आश्चर्यकारक और विचित्रताओं से परिपूर्ण हैं। मूल स्वभाव और मौलिकता की दृष्टि से सभी सांसारिक आत्माएँ समान ही हैं, फिर भी देखा जाता है कि "कोई सुखी है, कोई दुखी है, इसी प्रकार से नीच, उच्च, मूर्ख, विद्वान्, दरिद्री, श्रीमान आदि रूप से भिन्न भिन्न दिखलाई पड़ रहे हैं। इसका क्या कारण है? कोई भी जीव अपने आप तो अपना बुरा नहीं चाहता है, अतः यह निश्चित ही है कि जीव को बुराई की ओर एवं दुःख सुख की ओर प्रेरित करने वाला इस जीव के साथ अन्य कोई अवश्य ही है। वह कौन है? इस प्रश्न का गम्भीरतापूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि "अपाय विचय" नामक परिच्छेद में विचार करने से ज्ञात हुआ था कि— आत्म-प्रदेशों के साथ दूध पानी की तरह मिले हुए कर्म परमाणु ही इस परिस्थिति के उत्पादक हैं, ये ही आत्मा के मुख्य शत्रु हैं। ये कर्म रूप शत्रु दो प्रकार के विपाक पैदा किया करते हैं—(१) अशुभ कर्मों से जनित कष्ट पूर्ण कड़ुआ फल और (२) शुभ कर्मों से जनित सुख पूर्ण मीठा फल।

शुभ कर्मों के फल को भोगते समय जीव को आनन्द अनुभव होता है, और उस समय उन पौद्गलिक सुखों में आसक्ति रखने से वह नवीन अशुभ कर्मों का उपार्जन करता है और जिसका परिणाम भविष्य में दुःख रूप में प्राप्त करता है। इस प्रकार शुभ कर्मों के क्षय होने पर अशुभ का बंधन करता है और अशुभ के क्षय होने पर पुनः किंचित् अर्थ में शुभ का बन्ध करता है। यों ही रात और दिन की तरह एवं चक्र के समान कभी शुभ तो कभी अशुभ के फन्दे में पड़ता हुआ अनादिकाल से यह जीव जन्म-मरण की माला धारण करते हुए चला आ रहा है।

अब शुभाशुभ कर्मों के उपार्जन करने की रीति का शास्त्रानुसार विचार करना अति आवश्यक है। किन कर्मों से जीव सुख प्राप्त किया करता है और किन कर्मों से दुःख प्राप्त किया करता है, इसी का यहाँ पर शास्त्रानुसार संक्षेप से विचार किया जाता है—

(१) प्रश्न—श्रुति-इन्द्रिय (कान) की हीनता किस कारण से हुआ करती है?

उत्तर—विकथा सुनकर खुश होने से, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य रूप से कहने से, बधिर-बहिरे को चिढ़ाने से अथवा उसकी हँसी करने से, कान शक्ति वाले को बहरा बनाने का प्रयत्न करने से, दीन और अनाथों के करुणा जनक शब्दों पर और उनकी प्रार्थनाओं पर ध्यान नहीं देने से, सद्बोध मय शास्त्रों के श्रवण नहीं करने से, इत्यादि कारणों से बहरेपन की प्राप्ति हुआ करती है। इन्हीं कारणों से कान सम्बन्धी रोगों की उत्पत्ति भी हुआ करती है, एवं चतुरिन्द्रियता का संयोग हुआ करता है।

(२) प्रश्न—श्रुतिइन्द्रिय की प्रबलता किन कारणों से हुआ करती है?

उत्तर—सुशास्त्र और सुकथा के श्रवण करने से, यथातथ्य जैसा का वैसा ही विश्वास करने से, बहरों पर दया करने से, इनकी यथाशक्ति सहायता करने से, दीनों की प्रार्थना पर ध्यान देकर मधुर वचन बोलने से, उनको सन्तुष्ट करने से, गुणियों के गुण सुनकर प्रसन्न होने से, किसी की भी निन्दा नहीं सुनने से, इत्यादि कारणों से कान इन्द्रिय सम्बन्धी आरोग्यता, सुन्दरता, तीव्र श्रुत-शक्ति और पंचेन्द्रियता की प्राप्ति हुआ करती है।

(३) प्रश्न—चक्षुइन्द्रिय की हीनता किन कारणों से हुआ करती है ?

उत्तर—स्त्री पुरुष के सुन्दर रूप को देखकर विषयानुराग उत्पन्न करने से, कुरूप वाले को देखकर उससे घृणा करने से, उसकी निन्दा करने से, अंधे की हँसी करने से, उसको चिढ़ाने, मनुष्य पशुओं की आँखों को किसी प्रकार से कष्ट पहुँचाने से अथवा उन्हें फोड़ने से, कुशास्त्र एव घृणित पुस्तक-पत्र आदि के पढ़ने से, नाटक आदि रागोत्पादक खेल देखने से, नेत्रों सम्बन्धी विषय में आसक्ति रखने से, क्रूर दृष्टि से देखने से नेत्रों द्वारा कुचेष्टा अथवा रागमय कटाक्ष करने से, इत्यादि कारणों से अन्धेपन की, काणेपन की टेढ़ी आँख की, इत्यादि रूप से आँखों की हीनता अथवा नेत्र रोगों की प्राप्ति हुआ करती है, एव तेइन्द्रियता का सयोग हुआ करता है।

(४) प्रश्न—चक्षुइन्द्रिय की प्रवलता किन कारणों से हुआ करती है।

उत्तर—साधु साध्वियों के दर्शन करके प्रसन्न होने से, धर्मानुराग उत्पन्न करने से, विषय-राग को उत्पन्न करने वाले रूप को देखकर तत्काल ही उस ओर से दृष्टि हटा लेने से, नेत्र के रोगियों पर दया करने से, सत्शास्त्रों का और सात्विक पुस्तकों तथा पत्रों का पठन-पाठन करने से, काम-विषय के प्रति नेत्रों पर नियत्रण रखने से इत्यादि कारणों से रोग रहित, सतेज मनोहर, और दीर्घ दृष्टि वाली आँखों की प्राप्ति हुआ करती है।

(५) प्रश्न—घ्राणइन्द्रिय की हीनता किन कारणों से हुआ करती है ?

उत्तर—सुगन्धित पदार्थों पर अनुराग रखने से,इत्र आदि और पुष्प आदि को रागदृष्टि से सेवन करने से, दुर्गंध युक्त पदार्थों पर घृणा लाने से, उनके प्रति द्वेष उत्पन्न करने से, नाक हीन की, गूगे की हँसी करने से, उसे दुख देने से, और मनुष्य पशु पक्षी आदि जीवों के नाक को छेदने से, काटने से, भेदन करने से अथवा इन्हीं कामों को कराने से गूगा और नकटा हुआ करता है। तथा बेइन्द्रिय अवस्था का सयोग हुआ करता है।

(६) प्रश्न—घ्राणइन्द्रिय की नीरोगता किन कारणों से हुआ करती है ?

उत्तर—साधु साध्वी, सज्जन, गुरुजन, और गुणी आदि पुरुषों के प्रति नमस्कार, विनय, नम्रता आदि करने से, सुगन्धित पदार्थों के प्रति आसक्त नहीं होने से, नाकहीन प्राणियों की सहायता करने से, अथवा उन पर दया करने से स्वस्थ, सुशोभित और शक्ति शील घ्राणइन्द्रिय की प्राप्ति हुआ करती है।

(७) प्रश्न—जिह्वा इन्द्रिय की हीनता कैसे हुआ करती है ?

उत्तर—मदिरा, मांस, कन्दमूल, आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण करने से, षट्रस मय पदार्थों में अत्यन्त लोलुपता रखने से रसना जीभ के पोषण के लिये वनस्पति काया के जीवों का महारम्भ करने से असत बोध और कुउपदेश द्वारा हिंसा का प्रचार करने से, पाखड और आडम्बर का प्रचार करने से, मर्म प्रकाशित करने से, मृषावाद बोलने से, कर्कश और कठोर भाषा बोलने से, मूक गूगे की, अस्पष्ट और बड़-बड़ रूप से अथवा अटक-अटक कर बोलने वाले की हँसी करने से, सत, सती, गुणी और सज्जनों की निंदा करने से, अन्य प्राणियों की जाभ को कष्ट पहुँचाने से अथवा उसका छेदन भेदन करने से, एवं उनके स्वासोच्छ्वास को रुधने से, रसना इन्द्रिय की हीनता हुआ करती है, मूक और गूगा बनता है, अशोभनीय एव अप्रिय वचनों वाला होता है, दुर्गंधमय मुख वाला बनता है, तथा एकेंद्रियपने की प्राप्ति हुआ करती है।

(८) प्रश्न—रसना इन्द्रिय के स्वस्थता की प्राप्ति कैसे हुआ करती है ?

उत्तर—अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करने से, षट्रसों के प्रति आसक्ति नहीं रखने से, सद्बोध का और अहिंसामय धर्म का प्रचार करने से, सद्गुणों का उच्चारण करने से, सभी के लिये सुखदायक ऐसे वचनों को बोलने से, रसनाहीन प्राणियों की सहायता करने से अथवा उन पर दया करने से रसना इन्द्रिय की स्वस्थता और मधुर स्वर की प्राप्ति हुआ करती है।

(९) प्रश्न—हाथों की हीनता किन कारणों से हुआ करती है ?

उत्तर—दूसरों के हाथ काटने से अथवा उनको पीड़ा पहुँचाने से, खोटे तोलने और खोटे मापने के काम करने से, खोटे लेख और झूठे स्टाप-दस्तावेज आदि लिखने से, कुशास्त्रों का निर्माण करने-कराने से, चोरी करने से, लूले प्राणियों को हँसी-मजाक करने से, अन्य प्राणियों को अपने हाथ से छेदने से, भेदने से, उन्हें मारने पीटने से, ताड़ना करने से, और पक्षियों के पंख आदि काटने से हाथों की हीनता की प्राप्ति हुआ करती है।

(१०) प्रश्न—हाथों की स्वस्थता और बलिष्ठता की प्राप्ति किन कारणों से हुआ करती है ?

उत्तर—दान देने से, खोटा और हिंसाकारक लेन देन नहीं करने से, खोटे लेख और झूठे दस्तावेज नहीं लिखने से, सात्विक तथा धर्म-वृद्धि के लेख लिखने से, अदत्तादान नहीं ग्रहण करने से हाथों से दुःखी और हीन प्राणियों पर दया करने से अथवा उनकी सहायता करने से, इत्यादि कामों से हाथों की स्वस्थता और बलिष्ठता की प्राप्ति हुआ करती है।

(११) प्रश्न—पावों की हीनता और रुग्णता किन कारणों से हुआ करती है ?

उत्तर—उन्मार्गगामी होने से, हिंसा आदि कामों में बढ़ चढ़ कर भाग लेने से, धर्म-कार्य में आलस्य करने से, पृथ्वीकाय, अपकाय, वनस्पतिकाय, और बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि जीवों को पैरों तले रौंदने से, छोटे बड़े प्राणियों के पावों को कष्ट पहुँचाने से अथवा तोड़ने मरोड़ने से, लगड़े अथवा विकृत-अंगोपांग वाले की हँसी मजाक करने से, चोरी आदि कुकृत्य करने से, इत्यादि कामों के कारण से पैरों की विकृति की और पैर हीनता की प्राप्ति हुआ करती है।

(१२) प्रश्न—पावों की सुदृढता और नीरोगता कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर—उन्मार्गगामी नहीं होने से, अन्य को सुमार्ग बतलाने से, सचित्त पदार्थों को पैरोंतले नहीं रौंदने से, लंगड़ों पर और विकृत अंगोपांग वालों पर दया करने से और उनकी सहायता करने से, इत्यादि सत्कार्यों के बल पर पैरों की बलिष्ठता, निरोगता और स्वस्थता प्राप्त होती है।

(१३) प्रश्न —निर्धनता क्यों होती है ?

उत्तर—चोरी, कपट, धूर्त्तता, ठगाई, जुल्म, हिंसाकार्य, कुव्यापार, इत्यादि तरीकों से धन एकत्र किया जाय तो भविष्य में निर्धनता का संयोग होता है। धनियों के प्रति द्वेष रखने से, किसी को भी निर्धन बनाने की भावना से, परिश्रम से कमाये हुए किसी के भी धन को छीनने की भावना रखने से जनता को घर-वस्त्र, अन्न आदि से वंचित करने के प्रयत्न से गरीबों को हीन दृष्टि से देखने से और उन्हें कटु वचन बोलने से, किसी के भी प्रति कलंक लगाने से, किसी को जंजाल में फँसाने से किसी की भी आजीविका को नष्ट करने का प्रयत्न करने से, साधु-अवस्था में धन रखने से, दूसरे की आमदनी में अंतराय डालने से, किसी की भी धरोहर दबा देने से, मनुष्यों को निर्धन बनाने से, इत्यादि कारणों से निर्धनता का संयोग हुआ करता है। यदि किसी का धन अग्नि में जलावे, पानी में डुबावे, (अथवा अन्य तरीकों से नाश करे) तो उसको

भी समय आने पर अपने धन को अग्नि द्वारा, जल द्वारा एवं अन्य रूप द्वारा नष्ट होता हुआ देखना पड़ता है और महान् खेद उठाना पड़ता है।

(१४) प्रश्न—धन सम्पत्तिशाली कैसे होता है ?

उत्तर—निर्धनों पर दया करने से और उनकी सहायता करने से, अन्य को सम्पत्तिशाली देखकर प्रसन्न होने से, प्राप्त द्रव्य पर ममत्व भाव नहीं रखने से, दान पुण्य आदि धार्मिक कार्यों में धन को व्यय करने से, अनाथ अपाहिज, लूले लगड़े की सहायता करने से, एवं सत् कार्यों में धन का व्यय करने से धन-सम्पत्ति की प्राप्ति हुआ करती है।

(१५) प्रश्न—पुत्र हीनता का क्या कारण है ?

उत्तर—पशु पक्षी, मनुष्य आदि के अनाथ बच्चों को कष्ट देने से अथवा उन्हें मारने से, यूका-जू, लीख आदि को मारने से एवं इनके अडों को फोड़ने से, सतति वालों पर द्वेष करने से, गाय भैंस आदि के बछड़ों को दूध पीते समय अचानक ही खींच लने से, छोटी और अल्प आयु में ही बछड़ा बछड़ी को बेचकर माता सतान का पारस्परिक वियोग पैदा करने से, बीजों की गिरी निकालने से, इत्यादि कारणों से सतान हीनता की प्राप्ति हुआ करती है।

(१६) प्रश्न—सतति-शीलता किन कारणों से होती है ?

उत्तर—पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के अनाथ बच्चों की रक्षा करने से, उनको सहायता पहुँचाने से, उन्हें आजीविका उपार्जन करने योग्य बनाने से, इत्यादि सत् कार्यों से सतान की उत्पत्ति हुआ करती है।

(१७) प्रश्न—कुपुत्र की उत्पत्ति किन कारणों से होती है ?

उत्तर—दूसरों की सतान को अविनय आदि दुर्गुण और कुबुद्धि सिखला कर माता पिता का अविनय कराने से, पिता पुत्र का झगड़ा देखकर प्रसन्न होने से, पारस्परिक फूट को उत्पन्न कराने से, अपने माता-पिता को संताप देने से, दूसरों से लिये हुए ऋण को समय पर नहीं चुकाने से, दूसरे की धरोहर को दबा लेने से, आदि कारणों से अविनीत और कुपुत्र की उत्पत्ति हुआ करता हैं।

(१८) प्रश्न—सुपुत्र की उत्पत्ति किन कारणों से होती है ?

उत्तर—माता व पिता की भक्ति करने से, और अन्य को भी ऐसा ही करने का उपदेश देने से, पुत्रों को धर्म-मार्ग पर लगाने से, पुत्र का विनय देख कर प्रसन्न होने से, आदि कारणों से सुपुत्र का सयोग प्राप्त हुआ करता है।

(१९) प्रश्न—अयोग्य पत्नी का सयोग किन कारणों से होता है ?

उत्तर—पति पत्नी के परस्पर में क्लेश उत्पन्न कराने से दम्पति के झगड़े को देखकर खुश होने से, स्त्री को विपरीत बात समझाने से, अथवा उसे अत्यधिक विषयासक्त बनाने से, सती स्त्रियों की निंदा करने से, उनपर कलक लगाने से, अन्य की योग्य स्त्री को देख कर अपने मन में दु खी होने से, इत्यादि कारणों से अयोग्य पत्नी का संयोग हुआ करता है।

(२०) प्रश्न—सुयोग्य पत्नी का संयोग किन कारणों से होता है ?

उत्तर—मर्यादा पूर्वक शील पालने से, व्यभिचारिणी स्त्रियों की संगति से दूर रहने से, उन्मार्ग-गामिनी स्त्रियों को सुधारने से, सती स्त्रियों की प्रशंसा और सहायता करने से, पति-पत्नी का पारस्परिक विरोध मिटाने से, इत्यादि कारणों से सुयोग्य पत्नी का सयोग हुआ करता है।

(२१) प्रश्न—अपमान और मानहानि किन कारणों से हुआ करती है ?

उत्तर—अन्य का अपमान करने से, माता पिता गुरु आदि वृद्ध पुरुषो का विनय नहीं करने से, गरीब और बुद्धि रहित पुरुषो का अपमान करने से, शत्रुओ का अपमान सुन कर खुश होने से, अपने ही मुख से अपनी प्रशसा करने से अपने गुणों का अहकार करने से, गुणशील पुरुषो के प्रति द्वेष करने से, गुणवानो की वदना नहीं करने से, दूसरो को वदना करने के कार्य से निषेध करने से, स्वच्छन्दता पूर्वक व्यवहार रखने से, इत्यादि कारणों से अपमान का सयोग प्राप्त हुआ करता है ।

(२२) प्रश्न—सन्मान की प्राप्ति किन कारणों से हुआ करती है ?

उत्तर—तीर्थंकर, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, सम्यक् दृष्टि, ज्ञानी, गुणी, धर्म-दीपक आदि महापुरुषों के गुणग्राम करने से, गुणो की प्रभावना करने से, बड़ों का आदर, विनय, भक्ति करने से, सत्पुरुषो की कीर्ति सुनकर प्रसन्न होने से, उनके प्रति वदना करने और कराने से, स्वय गुणी होने पर भी अपने गुणो का प्रकाशन नहीं करने से, सदा नम्र रहने से, इत्यादि कारणो से सर्व स्थान पर सन्मान प्राप्ति का सयोग हुआ करता है ।

(२३) प्रश्न—क्लेशकारक कुटुम्ब की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर—कुटुम्बों में झगड़ा कराने से, क्लेश देख कर प्रसन्नता प्रकट करने से, आदि कारणों से क्लेश कारक कुटुम्ब का संयोग हुआ करता है ।

(२४) प्रश्न—अच्छा कुटुम्ब कैसे मिलता है ?

उत्तर—स्व और पर के कुटुम्बों में संप कराने से, निर्धन कुटुम्बों की हर प्रकार से सहायता करने से कुटुम्बों में प्रेम देख कर प्रसन्न होने से, इत्यादि कारणो से सुखप्रद कुटुम्बों की प्राप्ति हुआ करती है।

(२५) प्रश्न—रोगमय शरीर की प्राप्ति किन कारणों से होती है ?

उत्तर—रोगियों को दु ख देने से, उन की निंदा करने से, हँसी करने से, औषधि दान में अंतराय देने से, उनके रोग को बढाने से, असाता उत्पन्न करने से, साधुओं के वस्त्रों को मलिन देख कर उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करने से, इत्यादि कारणों से रोगमय शरीर की प्राप्ति हुआ करती है ।

(२६) प्रश्न—स्वस्थ और नीरोग शरीर की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर—दीन दु खियों को, रोग ग्रस्तों को देखकर उन पर दया करने से, उनको सुख उपजाने से, साधु-साध्वियों को औषधि आदि का दान देने से,और ऐसे ही अन्य कारणोंसे नीरोग शरीर प्राप्त होता है ।

(२७) प्रश्न—क्रूर स्वभाव वाला किन कारणों से होता है ?

उत्तर—कुसगति से प्रसन्न रहने से और सतसगति से अलग रहने से, बात बात में सतप्त हो जाने से, आदि बातों से क्रूर स्वभाव वाला होता है । नरकगति से आया हुआ भी क्रूर होता है ।

(२८) प्रश्न—मेल मिलाप रखने वाला किन कारणों से होता है ?

उत्तर—साधु के दर्शनो से प्रसन्न होने से, कुसगति के त्यागने से, कुवचन सुनकर धैर्य धरने से, प्राप्त वस्तु पर सतोष रखने से, आदि सद्‌गुणो से मेल मिलाप रखने वाला हुआ करता है । तथा जो देवगति से आया हो, वह भी मेल मिलाप की प्रवृत्ति वाला ही होता है ।

(२९) प्रश्न—पापात्मा किन कारणो से होता है ?

उत्तर—जनता को धर्म से भ्रष्ट करने से, सद्धर्म की निन्दा करने से, कुधर्म की महिमा करने से, अधर्मियो की सगति करने से, आदि कारणों से पापमय आत्मा वाला बनता है।

(३०) धर्मात्मा किन कारणों से होता है ?

उत्तर—अधर्मियो को धर्मात्मा बनाने से और धर्मोन्नति तन, मन, धन से करने पर धर्मात्मा बनने का सयोग प्राप्त हुआ करता है।

(३१) प्रश्न—निर्बल शरीर वाला कैसे बनता है ?

उत्तर—दीन गरीबो को सताने से, अन्न वस्त्र की अतराय देने से, निर्बल को दबाने से, झगड़ा करने से, बंध-वध करने से, और अपने बल का अभिमान करने से निर्बल शरीर वाला बना करता है।

(३२) प्रश्न—बलवान शरीर वाला कैसे बनता है ?

उत्तर—दीन, अनाथ जीवो पर दया करके उन्हें साता उपजाने से, संकट में उनकी सहायता करने से और अन्न वस्त्र आदि उन्हें देने से, बलवान शरीर वाला बना करता है।

(३३) प्रश्न—कायर किन कारणो से होता है ?

उत्तर—जीवो को भयभीत करने से, जीवों के हृदय में भय जनित धक्का उत्पन्न करने से, दूसरों की इज्जत में धक्का पहुँचाने से, राज्य, पच, चोर, सर्प, विष, अग्नि, पानी, देव, भूत, आदि भयकर वस्तुओं के नाम स्मरण करा कर जीवों के हृदय में भय उत्पन्न करने से, पशुओं को त्रास देने से, उनको भड़काने से, चमकाने से, जीवो को डरे हुए देखकर प्रसन्न होने से, इत्यादि कारणों से कायरता का संयोग हुआ करता है।

(३४) प्रश्न—वीरता की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर—दीन, दु खी, अपराधी को अभयदान देने से, उन्हें भय से बचाने से और उन पर आये हुए उपद्रव, संकट, परीषह, उपसर्ग आदि का निवारण करने से, ऐसे ही पुण्य कार्यों से वीरता की प्राप्ति हुआ करती है।

(३५) कृपण वृत्ति क्यो पैदा होती है ?

उत्तर—धन द्रव्य के होने पर भी दान नहीं देने से, दान देते हुए को मनाही करने से, दान देते हुए को देखकर दु खी होने से, और दान-वृत्ति की निंदा करने से, इस प्रकार की प्रवृत्ति से कृपण वृत्ति का बंध पड़ता है।

(३६) प्रश्न—दान देने की वृत्ति कैसे पैदा होती है ?

उत्तर—दीन-गरीब होने पर भी दान देने से, दूसरो को दान देते देखकर प्रसन्न होने से, शक्ति अनुसार दीन-दुखियो की सहायता करने से सदा दान देने की अभिलाषा रखने से, धर्मोन्नति को सुन कर, देखकर प्रसन्न होने से, इस प्रकार की प्रवृत्तियो से दान देने की वृत्ति का बध पड़ा करता है।

(३७) प्रश्न—मूर्खता क्यो कर प्राप्त होती है ?

उत्तर—विद्वानों—पडितो की हँसी मजाक करने से, निंदा, अविनय और आशातना करने से, ज्ञान प्रसार में अतराय देने से, ज्ञान के उपकरण पुस्तक आदि का नाश करने से, ज्ञान पर अरुचि लाने से,

ज्ञान-वृद्धि में जी चुराने से, दूसरों के लिखित साहित्य को अपने नाम से प्रकाशित करने से, सत्य शास्त्र को मिथ्या घोषित करने से, झूठे शास्त्र को सत्यरूप से प्रकट करने से, इत्यादि कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध पड़कर के मूर्खता की उत्पत्ति हुआ करती है।

(३८) प्रश्न—पंडिताई अथवा बुद्धिमत्ता का उदय किन कारणों से हुआ करता है?

उत्तर—विद्या-दान देने से, विद्या-प्रसार में, तन, मन और धन का व्यय करने से, विद्वानों की महिमा और संगति करने से धार्मिक और सात्विक पुस्तकों का प्रचार करने से, इत्यादि कामों से ज्ञानावरणीय कर्मों का बंधन टूटकर बुद्धिमत्ता का उदय हुआ करता है।

(३९) प्रश्न—परतंत्रता क्यों प्राप्त होती है?

उत्तर—अन्य को बंधन में डालने से, अधिक परिश्रम कराकर कम मजदूरी देने से, कर्जदारों का घर लूटने से, उनकी बेइज्जत करने से, कुटुम्ब के नौकरों को आहार आदि की अंतराय देने से, बल पूर्वक उनसे अधिक काम कराने से, पशु पक्षियों को अकारण ही बाड़े में अथवा पींजरे में बंद रखने से, दूसरों को पराधीन देखकर प्रसन्न होने से, दूसरों की स्वाधीनता नष्ट करने से, इत्यादि प्रकार की कुप्रवृत्तियों से पराधीन बनने का कर्म बंधन होता है।

(४०) प्रश्न—स्वाधीनता की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तर—कुटुम्ब को और नौकरों को संताप नहीं देने से, आहार, वस्त्र, स्थान आदि की साता उपजाने से, शक्ति से अधिक परिश्रम नहीं कराने से, मनुष्य पशु पक्षी आदि को बंदीखाने में नहीं रखने से, बंदियों को स्वतंत्र करने से, दूसरों की स्वतंत्रता की रक्षा करने से, अपनी स्वच्छंदता पर नियंत्रण रखने से, गुरुजनों की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने से, इत्यादि प्रकार के सत्कार्यों से स्वाधीनता की प्राप्ति हुआ करती है।

(४१) प्रश्न—कुरूप काया की प्राप्ति क्यों होती है?

उत्तर—स्वयं रूप शाली होने पर अहंकार करने से, अन्य सुन्दर रूपवालों की निंदा करने से, कुरूप वालों की हँसी मजाक करने से, उनका अपमान करने से शृंगार-भावना तथा शृंगार-प्रवृत्ति रखने से इत्यादि कारणों से कुरूप काया की प्राप्ति हुआ करती है।

(४२) प्रश्न—सुरूप शरीर की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तर—सुन्दर होकर भी अभिमान नहीं करने से, रूपवती स्त्रियों को विकार-दृष्टि से नहीं देखने से, कुरूप वालों का अनादर नहीं करने से, शील-ब्रह्मचर्य का पालन करने से. ऐसे ही कामों से सुन्दर शरीर की प्राप्ति हुआ करती है।

(४३) प्रश्न—धन संपत्ति शाली होकर भी उसका उपभोग किस कारण से नहीं कर सकता है?

उत्तर—प्राणियों के खाने, पीने वस्त्र, आभूषण आदि के उपयोग करने में अंतराय डालने से, खुद तो सभी प्रकार की वस्तु का भोग और उपभोग करे, परन्तु स्व आश्रितों को उनसे वंचित रखते हुए उन्हें तरसाने से, उन्हें ललचाने से, अन्य को भोग-उप भोग की वस्तुएँ भोगते हुए देख कर दुःखी होने, इन प्रवृत्तियों से धन-संपत्ति शाली होने पर भी उसका उपभोग नहीं कर सकता है।

(४४) प्रश्न—सुखों का उपभोक्ता किन कारणों से होता है?

उत्तर—प्राप्त भोगोपभोग की वस्तुओं को दान पुण्य में और स्वधर्मियों को प्रदान कर दे, तो भविष्य में इष्ट भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति का बंध पड़ता है।

(४५) प्रश्न—क्रोधी किन कारणों से होता है ?

उत्तर—क्रोध करने से, क्रोधियों की प्रशसा करने से, मनुष्य, पशु, देवताओं के युद्ध की बातें सुन-कर प्रसन्न होने से, शिकार खेलने से, क्षमा शील को सताप उत्पन्न कराने से उनकी निंदा अथवा हँसी करने से "क्रोधित स्वभाव" के बध की नींव पड़ा करती है।

(४६) प्रश्न—धूर्त्तता क्यों कर प्राप्त होती है ?

उत्तर—धर्म-क्रिया में, दान-पुण्य में, जप-तप में कपट करने से, थोड़ा करके बहुत बतलाने से, अहकार का प्रदर्शन करने से, इत्यादि रूप वृत्तियों से "धूर्त्तता" का बध पडा करता है।

(४७) प्रश्न—सरल स्वभाव कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—सरल-स्वभाव के साथ सभी प्रकार की प्रवति करने से, अहकार का प्रदर्शन नहीं करने से, "सरल-स्वभाव" का बध पड़ा करता है।

(४८) प्रश्न—चोर क्यों बनता है ?

उत्तर—चोर-कर्म को अच्छा जानने से चोर को सहायता देने से, चोर की चुराइ हुई वस्तु लेने से, चोर-कर्म की कला बतलाने से, चोर को प्रशसा करने से, "चोर" का बध पड़ा करता है।

(४९) प्रश्न—"साहुकार" पद कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—अचौर्य कर्म के धारण करने से और चोरों की सगति से दूर रहने से "साहुकार" पद की प्राप्ति हुआ करती है।

(५०) प्रश्न—कसाईपना क्यों प्राप्त होता है ?

उत्तर—हिंसा की प्रशसा करने से, हिसा करने की कला बतलाने से, हिंसा के शस्त्र बनाने से और दया-कार्य की निंदा करने-"कसाईपने" की प्राप्ति हुआ करती है।

(५१) प्रश्न—दयालु प्रकृति कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर—हिंसक की सगति से दूर रहने से, हिंसक को उपदेश द्वारा दयालु बनाने से, हिंसक को अन्य आजीविका का प्रबन्ध करा कर हिंसा कार्य से छुड़ा कर दया शील बनाने से " दयालु-प्रकृति " का बन्ध पड़ता है।

(५२) प्रश्न—अनाचारी क्यों कर बनता है ?

उत्तर—विकृत भाव रखने से, अशुद्ध और अभक्ष्य वस्तु के भोगने से, आचारवान्—क्रिया शील की निंदा करने से, अनाचार सेवन में आनन्द मानने से, अनाचारियों का सहवास करने से, अनाचार को भला जानने से, आदि प्रवृत्तियों से " अनाचारी " बनने का बन्ध पड़ता है।

(५३) प्रश्न—शुद्ध आचरण वाला किन कारणों से होता है ?

उत्तर—अनाचारियों को शुद्ध आचरण वाले बनाने से, अनाचार के प्रति घृणा-भाव रखने से, शुद्ध आचरण वाले की सेवा-प्रशंसा करने से, अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करने से, नीति-पालन की ओर प्रवृत्ति करने से, आदि कामों से " शुद्ध आचरण वाला बनने " का बन्ध पड़ा करता है।

(५४) प्रश्न—भाइयों में प्रेम कैसे होता है ?

उत्तर—मनुष्यों का पशुओं का झगड़ा मिटाने से सगठन कराने से, सगठन देख कर प्रसन्न होने से, सगठन कायम रहे, ऐसा प्रयत्न करने से, " भाइयों में प्रेम " नामक प्रकृत्ति का बन्ध हुआ करता है।

(५६) प्रश्न—अन्तर द्वीपों मे जन्म किस कर्म से होता है ?

उत्तर—मिथ्यात्वी साधु साध्वियों को दान देने से, योग्य और उत्तम साधुओं को कपट पूर्वक और फल की इच्छा से दान देने से, दान देकर अभिमान करने से, आदि कारणों से अन्तर द्वीप में " मिथ्यात्वी युगलिया पुरुष " रूप से उत्पन्न होने का बन्ध पड़ता है।

(५७) प्रश्न—युगलिया (भोग भूमि के पुरुष) बनने का योग किन कार्यों से हुआ करता है ?

उत्तर—शुद्ध आचरण वाले साधुओं को प्रसन्नभाव से निर्दोष आहार, स्थान, वस्त्र, पात्र आदि का दान देने से, और दूसरों द्वारा दिलाने से, अन्य को देते देख कर प्रसन्न होने से, अकर्म भूमि में " सम्यक् दृष्टि युगलिया " रूप से उत्पन्न होने का बन्ध पड़ता है।

(५८) प्रश्न—अनार्य देश में किस कर्म से जन्म हुआ करता है ?

उत्तर—झूठा कलंक लगाने से म्लेच्छ क्षेत्रों की सुख-सम्पत्ति को प्रिय भावना के साथ देखने से म्लेच्छ वेश धारण करने से, म्लेच्छ कार्मों की प्रशंसा करने से, आर्य देश को छोड़ कर अनार्य देश में निवास करने से, इत्यादि कारणों से " अनार्य देश " में उत्पन्न होने का बन्ध पड़ा करता है।

(५९) प्रश्न—आर्य देश में किस कर्म से जन्म हुआ करता है ?

उत्तर—आर्यों की चाल चलन पसन्द करने से, अनार्यों के व्यवहार और उनके कामों का परित्याग करने से, अनार्यों को आर्य बनाने से, मुनि-साधुओं की प्रशंसा करने से, आर्यों की यथा-शक्ति सहायता करने से, आदि कर्मों के कारण से " आर्य देश " में उत्पन्न होने का बन्ध पड़ा करता है।

(६०) प्रश्न—बोझा उठाने वाला मजदूर-हमाल किन कर्मों से ऐसे दुःख प्रद कार्यों का कर्त्ता बनता है ?

उत्तर—मनुष्य और पशुओं से शक्ति से भी अधिक बोझा खिंचवाने से, शक्ति से अधिक काम लेने से, बेगार में पकड़ने से, बल पूर्वक काम कराने से, थोड़ा कहते हुए अधिक बोझा लाद देने से, ज्यादा बोझा उठाया हुआ देख कर प्रसन्न होने से, आदि कामों के करने से " हमाल, लद्दू बैल, गाड़ी तांगा खींचने वाले बैल और घोड़ा " आदि की योनि प्राप्त होती है।

(६१) प्रश्न—' कुकवि, भाट, चारण " की योनि किस संयोग से प्राप्त होती है ?

उत्तर—कुकथा, कुवार्ता, कुउपन्यास, कुनाटकों के प्रेमी बनने से, मिथ्या शास्त्रों का प्रसार करने से, धर्म कथा का नाम रख कर काम-भावनाएँ उत्पन्न हों, ऐसी कथाओं के कहने से, विषय-पोषक और शृंगार रसमय कविताएँ रचने से विषय सम्बन्धी वचन राग रागिनियाँ सुनने से, इनमें आसक्ति रखने से, आदि क्रियाओं द्वारा कुकवि, भाट, चारण का जन्म धारण करना पड़ता है।

(६२) प्रश्न—सुकवि किस कर्म के उदय से होता है ?

उत्तर—जिनराज और मुनिराज के गुण और कीर्ति को सुनकर प्रसन्न होने से, शास्त्र कर्त्ता, गणधर, आचार्य आदि धर्म नायकों की प्रशंसा करने से, ज्ञान-वृद्धि में धन लगाने से, धार्मिक कवियों को सहायता देने से, धार्मिक कविताओं के रहस्यमय अर्थों से प्रसन्न होने से, इत्यादि रूप से साहित्यिक अनुराग से विद्वान् कवि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ करता है।

(६३) प्रश्न—दीर्घायु कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर—मरणोन्मुख जीवों को द्रव्य देकर अभयदान देने से, उन्हें खाने, पीने, और स्थान आदि की सहायता पहुँचाने से, बन्दी प्राणियों को स्वतन्त्र करने से, संसार के प्रति तटस्थ भावना रखने से,

दयालु स्वभाव रखने से, अनाथों की सहायता करने से, साधुओं को निर्दोष आहार आदि का दान देने से दीर्घायु का बन्ध पड़ता है।

(६४) प्रश्न—अल्प आयु क्यों प्राप्त होती है ?

उत्तर—जीवों की घात करने से, गर्भहत्या करने से, आजीविका का भग करने से, जूँ खटमल आदि को मारने से, साधुजी को अमनोज्ञ और असाताकारी आहार आदि देने से, शुद्ध रीति से ग्रहण करने वाले साधुजी को अशुद्ध रीति से आहार आदि का दान देने से, अग्नि, विष, शस्त्र आदि के प्रयोग द्वारा जीवों को मारने से अल्प आयु का बन्ध पड़ता है।

(६५) प्रश्न—सदा चिंता व्याप्त होने का क्या कारण है ?

उत्तर—अनेक जीवों को चिन्ता ग्रस्त होना पड़े, ऐसा कार्य करने से अथवा निरन्तर चिन्तारत रहने से, "सदा चिन्ता उत्पादक" कर्म का बन्ध पड़ा करता है।

(६६) सदा निश्चिंतता रहे, इसमें मूल कारण क्या है ?

उत्तर—दूसरों की चिन्ता दूर करने से, धर्मात्माओं को देख कर प्रसन्न होने से, दुःखी पीड़ित को सन्तोष उत्पन्न कराने से, आदि कार्यो से ' निश्चिंतता-जनक" कर्म का बन्ध हुआ करता है।

(६७) प्रश्न – दास गुलाम क्यों बना करता है ?

उत्तर—नौकरों को बहुत सताने से, उनसे अत्यधिक काम लेने से, और परिवार सख्या अधिक होने पर उसका अहंकार करने से ' दासता" का बन्ध पड़ता है।

(६८) "स्वामी" कैसे बनता है ?

उत्तर—धार्मिक पुरुषों की, तपस्वियों की वैयावच करने से, धार्मिक किन्तु दुःखी मनुष्यों की सहायता करने से उनका पोषण करने से अन्य द्वारा धर्मात्माओं की सेवा भक्ति कराने से, सेवा-भक्ति करते हुए देखकर प्रसन्न होने से, इत्यादि कारणों से "स्वामी" बनने का बन्ध पड़ता है।

(६९) प्रश्न—नपुंसक क्यों होता है ?

उत्तर—नपुंसक के नृत्य गायन, हँसी मजाक को देखकर प्रसन्नता प्रकट करने से, पुरुष होते हुए स्त्री का वेश धारण करके नृत्य करने से, और ऐसा ही कराने से, बैल, घोड़े आदि पशु और मनुष्यों को बधिया कराने से, पुरुषत्व से हीन कराने से, नपुंसक के साथ विषय-सेवन करने से, नपुंसक जैसी चेष्टाएँ करने से, स्त्री पुरुष के सयोग की दलाली करने से, विकलेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा करने से, आदि कारणों से नपुंसक बनने का बन्ध पड़ता है।

(७०) प्रश्न—स्त्री जन्म क्यों होता है ?

उत्तर—स्त्रियों के विषय में अत्यन्त आसक्ति रखने से,पुरुष होकर भी स्त्री का वेशबनाने से स्त्रियों की तरह चेष्टाएँ करने से, कपट करने से, आदि कारणो से "स्त्री" बनने का योग प्राप्त हुआ करता है।

(७१) प्रश्न—निगोद में उत्पत्ति क्यों होती है ?

उत्तर—देव, गुरु और धर्म की निन्दा करने से, कंद मूल का भक्षण करने से निगोद में जन्म ग्रहण करना पड़ता है ।

(७२) प्रश्न—एकेन्द्रिय में जीव क्यो जन्म लेता है ?

उत्तर—पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति, कंद मूल, वृक्ष, घास, फूल, पत्र आदि का छेदन भेदन करने से एकेन्द्रिय गति में जन्म लेना पड़ता है।

(७३) प्रश्न—विकलेन्द्रिय मे जन्म क्यो होता है ?

उत्तर—निर्दयता के साथ त्रस जीवो की घात करने मे, अनाज को बहुत दिनो तक सग्रह करके रखने से, त्रस जीवों की उत्पत्ति हो ऐसी वस्तुओ का सग्रह करने से, मच्छर, खटमल को निवारण करने के लिये धुआँ आदि का उपचार करके उन्हे मारने मे जिनमें त्रस जीवो के उत्पन्न होने की आशका हो—ऐसे बेर आदि फलो का भक्षण करने से, गंदे नाले गटर मे पेशाब करने से, इत्यादि कारणो से विकलेन्द्रिय जाति में पैदा होने का योग हुआ करता है।

(७४) प्रश्न—विकलाग शरीर क्यो प्राप्त होता है ?

उत्तर—जीवों के हाथ, पाँव, कान, नाक, आँख, अगुली, आदि अगोपागो का छेदन-भेदन करने से, कानो को कतरने से, उन्हे विंधने से, अथवा क्रूरता के ढग मे कतरने से, एव ऐसी क्रियाएँ करते हुए देखकर प्रसन्न होने से, इत्यादि कारणो से विकलाग शरीर की प्राप्ति का बन्ध हुआ करता है।

(७५) प्रश्न—अगों की परिपूर्णता कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर—दूसरे प्राणियो के अगोपागो का छेदन भेदन करते हुए देखकर उनकी सुरक्षा करने से, विकल अग वालो की करुणा और सहायता करने से, उनको सुधारने अथवा नीरोग करने के लिये उपचार आदि सम्बन्धी प्रयत्न करने से, ऐसे शरीर से असमर्थ प्राणियो की आजीविका का प्रबन्ध करके उन्हें सहायता पहुँचाने से, "अगो की परिपूर्णता" प्राप्त होने का बन्ध पड़ा करता है।

(७६) प्रश्न—नीच जाति में जन्म किन कर्मो से होता है ?

उत्तर—अपनी उच्च जाति का, उच्च कुल का मद अहकार करने से, उच्च जाति वालो की निंदा करने से, निम्न जाति वाले से द्वेष करने से, हल्के दर्जे के काम करने से, ऐसे ही कामो से नीच जाति मे जन्म लेने का बन्ध पडा करता है।

(७७) प्रश्न—उच्च जाति में जन्म किन कर्मो से होता है ?

उत्तर—सत्पुरुषों के गुणों की प्रशसा करने से, उन्हे वन्दना नमस्कार करने से, अपने दुर्गुणों का प्रकट करने से, चारों तीर्थों की भक्ति करने से, ऐसे कार्यों से राजा आदि के उच्चकुल में जन्म लेने का बन्ध पड़ता है। यदि क्रिया और भावनाओं में कुछ कमी रह जाय तो तिर्यंच गति प्राप्त होने पर भी राज मान्य "हाथी, घोड़े" जैसी सम्माननीय जाति प्राप्त होने का बन्ध पडा करता है।

(७८) प्रश्न—ऊँची जाति में उत्पन्न होकर भी दास बनने का प्रसग किन कर्मो के कारण से प्राप्त हुआ करता है ?

उत्तर—उच्च कामो का अभिमान करने से गुरु की आज्ञा का भग करने से, उच्च स्थिति में पहुँचा हुआ होकर नीची स्थिति वालो पर झूठा कलङ्क अथवा मिथ्या आरोप लगाने से बड़ा आदमी होता हुआ भी हल्के दर्जे के काम करने से, उच्च जाति का होकर दास जना जैसी वृत्ति का आचरण करने से, ऐसे ही कारणो से दास बनने का कर्म-बन्ध हुआ करता है।

(७९) प्रश्न—आजीविका के लिये देश विदेश में किन कर्मो के उदय में फिरना पड़ता है ?

उत्तर—भिक्षुको को लालायित करके और बार बार भटका करके तत्पश्चात कुछ दान देने से, नौकरों का वेतन समय पर नहीं देकर मानसिक कष्ट पहुँचा कर तत्पश्चात देने से, धर्म के नाम पर दान की घोषणा करके उस दान-द्रव्य को समय पर नहीं देकर बहुत देरी करके देने से, अथवा थोड़ी थोड़ी किश्तो में

बांट कर इस प्रकार देने से, इत्यादि कारणो से " विदेश मे आजीविका " के लिये भटकाने वाले कर्मों का बन्ध पड़ा करता है।

(८०) प्रश्न—सुख पूर्वक आजीविका की प्राप्ति किन कर्मों के उदय से हुआ करती है ?

उत्तर—धर्मात्माओ को उनके स्थान पर ही आहार, वस्त्र, आदि पहुँचा कर सहायता करने से उन द्वारा धर्म-वृद्धि कराने से, स्थिर चित्त से धर्म-ध्यान की आराधना करने से स्थिर मनोवृत्ति वाले का कीर्ति बढाने से, इत्यादि कारणो से घर बैठे ही सुख पूर्वक आजीविका प्राप्त होने के कारण रूप कर्मों का बन्ध हुआ करता है।

(८१) प्रश्न—किस कर्म के उदय से कपट पूर्वक आजीविका उपार्जन करने का सयोग होता है ?

उत्तर—कपट पूर्ण भावो के साथ दीन पुरुषो को दान देने से, साधु-मुनिराज को भक्ति रहित दान देने से, चोर आदि नीच पुरुषो के द्वारा आजीविका चलाने से उनको प्रशसा करने मे, सत्यता के साथ आजीविका चलाने वाले पर झूठा कलक लगाने से, इत्यादि कारणो से कठिनाई पूर्वक और कपट पूर्वक आजीविका चलाने का मौका उपस्थित हुआ करता है।

(८२) प्रश्न—सत्यता पूर्वक आजीविका क्यों चला करती है ?

उत्तर—सरल भावो के साथ विनय पूर्वक धर्मात्माओ को आहार देने से, दीन प्राणियो की रक्षा करने से, निर्दोष आजीविका नहीं मिलने पर क्षुधा आदि परीषहो को सहन करने से, कुव्यापार का परित्याग करने से, इत्यादि पुण्य कार्यों से सरलता पूर्वक आजीविका प्राप्त होने का कर्म-बन्ध हुआ करता है।

(८३) प्रश्न—मनुष्य और पशुओं को बाजार में अन्य पदार्थों की तरह बेचे जाने का कर्मोदय क्यों होता है ?

उत्तर—मनुष्यों का और पशुओं का क्रय विक्रय का धन्धा करने से, कन्या-विक्रय और पुत्र विक्रय (बेटी का पैसा लेने से अथवा लड़के का तिलक आदि के रूप में द्रव्य लेने का सौदा) करने से, अथवा ऐसे ही कार्यों की दलाली करने से, ऐसे कर्मो का बन्ध पड़ता है कि जिससे मनुष्य को अथवा पशु को दास रूप में बाजार में बेचे जाने को प्रसग पैदा होता है।

(८४) प्रश्न—सामुदायिक कर्मों का बन्ध कैसे हुआ करता है ?

उत्तर—जिस स्थान पर मनुष्य का अथवा पशु का बध हत्या होती हो, वहाँ पर देखने के लिये अनेक मनुष्यों के साथ खडे रहने से, मारते समय अथवा हत्या के समय ऐसी कल्पनाएँ करने से कि "देखें, इसे कितनी शीघ्रता के साथ मारा जाता है", तत्पश्चात् घर जावें, अनेक मनुष्यों के साथ सम्मिलित होकर सत्यदेव, सत्यगुरु, और सत्य शास्त्र की मिलकर निन्दा करने से, इत्यादि रूप से अनेक प्राणियों के साथ मिलकर जिन कर्मो का बन्ध किया जाता है, पीछा उनका फल भी सम्मिलित रूप से ही भोगा जाता है। जैसे कि नाव में अनेकों का एक साथ डूब जाना, आग में एक साथ सैकडों का जल मरना, प्लेग आदि बीमारियों के घेरे में फँसकर अनेक जनों का एक साथ ही मौत के घाट उतर जाना, आदि परिणाम सामुदायिक कर्म बन्ध का ही फल है।

(८५) प्रश्न—एक साथ अनेक जीवों का स्वर्गधाम जाने देवलोक गमन कैसे होता है ?

उत्तर- धर्म महोत्सव, दीक्षा उत्सव, केवल उत्सव, और धार्मिक सभा में व्याख्यान-श्रवण आदि निर्जरा के उत्पादक सत्कार्यों में अनेक पुरुषों के साथ सम्मिलित होने से, इनके प्रति प्रसन्नता प्रकट करने से, वैराग्यमय भावों के पैदा करने से, और इनकी प्रशसा करने से एक साथ अनेक जीवा के देवलोक में जाने का कर्म बन्ध हुआ करता है।

(८६) प्रश्न--किसी किसी को अकारण ही द्वेष उत्पन्न हुआ करता है, इसका क्या कारण है?

उत्तर--गतजन्मों में किसी को दुःख दिया हो अथवा उसकी हानि पहुँचाई हो, ऐसे कारणों से अकारण ही पूर्वकर्म के उदय से द्वेष उत्पन्न हुआ करता है।

(८७ प्रश्न--अकारण ही किसी के प्रति प्रेम जागृत होने का क्या कारण है ?

उत्तर--गत जन्मों म उसने हमे दुःखों से छुटकारा दिलाया हो, हमे साता उपजाई हो, वन में, पर्वतों मे, अथवा सग्राम मे निराधार होने पर हमें शरण दी हो, अथवा दिलाई हो, इत्यादि कारणों से, अकारण ही प्रेम जागृत हुआ करता है, अथवा अकारण ही सहायता देने की भावना जागृत हुआ करती है ।

(८८) प्रश्न--औषधि आदि का बहुत उपचार करने पर भी किस कर्म से रोगों से मुक्ति नहीं होती है ?

उत्तर--पूर्वजन्मों मे वैद्य आदि होकर जनता के साथ विश्वासघात किया हो, इच्छापूर्वक जानकर खराब औषधि दी हो, रोगियों का रोग बढाया हो, ज्योतिष विद्या का ज्ञाता होकर ग्रह, नक्षत्र, भूत,प्रेत आदि की व्याधि होने का झूठा डर बतला कर दूसरों को लूटा हो, देवी-देवताओं की मान्यता कराई हो, विष, शस्त्र, अग्नि आदि से अपघात की हो, ऐसे कार्यों के कर्मबन्ध का ही यह परिणाम होता है कि अत्यन्त उपचार करने पर भी रोग बीमारी और अन्य व्याधियों से मुक्ति नहीं हुआ करती है ।

(८९) प्रश्न--धनवान का धन धर्म कार्यों में नहीं लग सके, इसका क्या कारण है ?

उत्तर--जिसने गत जन्मों में कुशिक्षा दी हो, वेश्या आदि के नृत्य में धन का व्यय किया हो, कुव्यसनों में धन का खर्च किया हो, दूसरो का नुक्सान सुनकर प्रसन्न हुआ हो, जुआ और सट्टा-फाटका में धन का व्यय किया हो, ऐसे व्यक्ति का धन सद्कार्यों में नहीं लगा करता है। क्यो कि उल्लिखित बुराइयों के कारण से उसकी बुद्धि निर्मल नहीं हुआ करती है ।

(९०) प्रश्न—गर्भ मे ही मृत्यु होने का क्या कारण है ?

उत्तर--अपनी सौत का अथवा अपना औषधि उपचार से या मन्त्र आदि से गर्भ-हत्या करने पर और कराने पर ऐसे ही कर्मो का बंध पडता है कि जिससे उस आत्मा का मृत्यु गर्भ अवस्था में ही हो जाया करती है।

(९१) प्रश्न--हितोपदेश प्रतिकूल रूप से अनुभव क्यों होता है ?

उत्तर—अन्य को कुशिक्षा देकर कुमार्ग पर चलाया हो, गुरु के, पिता के हितकारी वचन नहीं सुने हो, शिक्षक की हँसी की हो, ऐसे कार्यो के कर्म बन्ध से हितोपदेश भी प्रतिकूल ही अनुभव होता है।

(९२) प्रश्न—जाति स्मरण ज्ञान और अवधि ज्ञान किन कारणों से हुआ करता है ?

उत्तर—तप-सयम के पालन से, ज्ञानियों की सेवा करने से,ज्ञान की महिमा करने से ज्ञान सामग्री का बहुमान करने से इन ज्ञानों की प्राप्ति का बंध पड़ा करता है।

(९३) प्रश्न—व्रत-प्रत्याख्यान क्यों नहीं ग्रहण किये जा सकते ?

उत्तर—दूसरों के ग्रहीत व्रतों को भग कराने से, शुद्ध व्रती के आचरण में दोष लगाने से, दूसरों के व्रत भंग होते हुए देखकर प्रसन्न होने से, व्रत ग्रहण करने के पश्चात् सकल्प-विकल्प करने से, बार बार व्रतों के भग करने से, इत्यादि कारणों से व्रत-प्रत्याख्यान नहीं ग्रहण किये जा सकते हैं ।

(९४) प्रश्न—कसाइयों के हाथ से काटा जाय, इसमें किस पाप का उदय है ?

उत्तर—कसाइयों के साथ व्यापार करने से, कसाइयों को पशु देने से, कसाई जैसे कृत्य करने से, कपट पूर्वक घात करने से, वन चरों की शिकार खेलने से, माँस खाने से, इत्यादि कार्यों के कर्म-वध से ही पशु गति प्राप्त होकर कसाइयों के हाथो में पड़कर कटनो पड़ता है।

(९५) प्रश्न—पाप काम को भी धर्म-रूप माने, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—भ्रष्टाचारी की सगति करने से, पाप को धर्म का रूप वतलाने से, सुदेव-सुगुरु सुधर्म की निंदा करने से ऐसे कार्यों के परिणाम से पाप में भी धर्म-बुद्धि ही उत्पन्न होती है।

(९६) प्रश्न—व्यभिचारी क्यों होता है ?

उत्तर—वेश्या के साथ सभोग करने से, वेश्या की सगति करने से, कुशील वालो की प्रशंसा करने से, पशुओं के लिये व्यभिचार का सयोग मिलाने से, मैथुन-क्रिया करते हुए देखकर प्रसन्न होने से, व्यभिचारी हुआ करता है।

(९७) प्रश्न—ब्रह्मचारी कैसे होता है ?

उत्तर—शील पालने से, शीलवान की प्रशसा महिमा करने से, शीलवान की सहायता करने से, शील से भ्रष्ट लोगो की सगति से दूर रहने से, ब्रह्मचारी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ करता है।*

(९८) प्रश्न—ऋद्धि शील होने का क्या कारण है ?

उत्तर—सुपात्र दान देने का फल है।

(९९) प्रश्न—मांगने पर भी वस्तु क्यों नहीं मिला करती है ?

उत्तर—धनवान होकर भी दान नहीं देवे तथा आश्रितों को ललचावे, तो आगामी जन्मों में मागने पर भी प्राप्ति नहीं होती है।

(१००) प्रश्न—भिक्षुक कौन होता है ?

उत्तर—छल छिद्र देखने वाला और निंदक बहुधा भिखारी हुआ करता है।

(१०१) प्रश्न—विवाहित स्त्रियाँ क्यों मरा करती है ?

उत्तर—अनेक स्त्रियों का स्वामी होकर उन्हें मारे, दु:ख देवे, तो आगामी जन्म में स्त्री होकर अकाल मृत्यु प्राप्त करता है।

(१०२) प्रश्न—चित्त विभ्रम क्यों रहता है ?

उत्तर—मदिरा, भग अफीम आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करने से।

(१०३) प्रश्न—दाह ज्वर क्यों होता है ?

उत्तर—मनुष्य, पशु पर अधिक बोझा लादने से।

(१०४) प्रश्न—बाल विधवा क्यों होती है ?

उत्तर—पति की घात करके व्यभिचार सेवन करने से, पति का अपमान करने से।

(१०५) प्रश्न—अकाल मृत्यु क्यों होती है ?

उत्तर—पशु पक्षी के बच्चे एव अडे मारने से, लोखों को फोड़ने से, पैदा हुई वनस्पति के अङ्कुर को तोड़ने से, खडित करने से।

---

* ये ६७ प्रश्नोत्तर सुदृष्ट तरगिनी नामक दिगम्बर ग्रन्थ के अनुसार हैं।

(१४०) प्रश्न--बिल्ली क्यो बनना पड़ता है ?
उत्तर--कपट करने से।
(१४१) प्रश्न--नेवला, सर्प योनि किस कर्म का फल है ?
उत्तर--लोभ का परिणाम है।
(१४२) प्रश्न--नाहरु (वाला रोग) क्यों होता है ?
उत्तर--विना छना हुआ पानी पीने से, जीवाणी (पानी छानने के वाद कपडे में बचे हुए जीव समूह) का यत्न नहीं करने से विवेक पूर्वक उन्हें यथा स्थान पर नहीं डालने से।
(१४३) प्रश्न--मनुष्ययोनि कैसे मिलती है ?
उत्तर--क्षमा, दया, नम्रता से।
(१४४) प्रश्न--स्त्री मर कर के पुरुष कैसे हो सकती है ?
उत्तर--सत्य, शील, सन्तोष, विनय, आदि गुणो के धारण करने से।
(१४५) प्रश्न--देवता कौन हो सकता है ?
उत्तर--साधु, श्रावक, और अकाम निर्जरा करने वाला।
(१४६) प्रश्न--लक्ष्मी स्थिर कैसे रह सकती है ?
उत्तर--साधुओ को दान देकर किसी भी प्रकार का पश्चात्ताप नहीं करने से।
(१४७) प्रश्न--काणा (एक आँख वाला) क्यो होता है ?
उत्तर--बीज, फल, फूल आदि को छेदने से तथा हार, गजरे आदि बनाने से।
(१४८) प्रश्न--गलित कोढ़ क्यों होता है ?
उत्तर--सुवर्ण, चादी, लोहा, ताबा, आदि धातुओं की खानों को खोदने से।
(१४९) प्रश्न--यश का काम करते हुए भी अपयश क्यों होता है ?
उत्तर--सचित्त औषधि करने से, अन्य द्वारा कृत उपकार को नहीं मानने से।
(१५०) प्रश्न--आँख में वामणी (फुन्सी विशेष) क्यों होती है ?
उत्तर--नमक के समूह को खोदने से।
(१५१) प्रश्न--आँख मजारी (बिल्ली की आंखों जैसी) क्यों होती है ?
उत्तर--सम्यक् दृष्टि होते हुए भी मिथ्यात्वियों के जैसे अथवा अनार्यों के जैसे कामों को करने से।
(१५२) प्रश्न--रुण्ड-मुण्ड शरीर क्यों मिला करता है ?
उत्तर--न्यायाधीश होकर कठिन दण्ड देने से।
(१५३) प्रश्न--कठमाल का रोग क्यों होता है ?
उत्तर--मछलियों का आहार करने से।
(१५४) प्रश्न--बाह्यरूप से स्वस्थ दिखलाई पड़ने पर भी आंतरिक रूप से रोगी क्यों होता है ?
उत्तर--रिश्वत लेकर झूठा न्याय करने से।
(१५५) प्रश्न--सयोग होकर भी पुन उसका वियोग शीघ्रता पूर्वक क्यों होता है ?
उत्तर--कृतघ्नता, मित्र द्रोह और विश्वासघात करने से।
(१५६) प्रश्न--डरपोक स्वभाव क्यों होता है ?
उत्तर--कठोर दण्ड देने वाला कोतवाल होने से एवं अन्य को डराने से।
(१५७) प्रश्न--खुजली का रोग क्यों होता है ?
उत्तर--तेइन्द्रियजीवों को, जूँ, लीख, खटमल, पिस्सू, दीमक आदि जानवरों को मारने से।

(१५८) प्रश्न—जूँएँ अधिक क्यों उत्पन्न होती हैं ?
उत्तर—मछलियों का आहार करने से तथा जूँओं को अग्नि आदि में डालकर मारने से ।
(१५६) प्रश्न—तपस्या क्यों नहीं की जा सके ?
उत्तर—तप, जप का अभिमान करने से, एव तपस्या करने वाले के लिये अतराय पैदा करने से ।
(१६०) प्रश्न—अशोभनीय वाणी क्यों मालूम पड़े ?
उत्तर—वाक्य-चतुराई का अभिमान करने से, तथा कठोर वचन बोलने से ।
(१६१) प्रश्न—अपयश वाला क्यों होवे ?
उत्तर—सासू, ननद, देवरानी, जेठानी, भाई भोजाई के प्रति ईर्षाभाव रखने से ।
(१६२) प्रश्न—युवास्था में ही स्त्री क्यों मर जाय ?
उत्तर—भोगों की तीव्र अभिलाषा रखने से, अमर्यादित रूप से विषय सेवन से ।
(१६३) प्रश्न—समूर्च्छिम मनुष्य कौन प्राणी हुआ करता है ?
उत्तर—गंदे नालों का, गटरों का निर्माण करने वाला एव समूर्च्छिम मनुष्यों की हत्या करने वाला ।
(१६४) प्रश्न—अधिक भूख क्यों लगा करती है ?
उत्तर—खेती का काम करने से, शक्ति शील आश्रितों को भूख की वेदना उत्पन्न करने से ।
(१६५) प्रश्न -मृगी रोग यानी अपस्मार की बीमारी क्यों हुआ करती है ?
उत्तर—लोहार की धमनी धमने से, मृगी रोग वाले को सताने से ।
(१६६) प्रश्न—बोलते समय उबासी क्यों आवे ?
उत्तर—रगार के काम करने से और तोतले को चिढ़ाने से ।
(१६७) प्रश्न—बोलते समय थूक क्यों उड़ता है ?
उत्तर—गोबर को सड़ाने से ।
(१६८) प्रश्न—जहाज क्यों डूब जाय ?
उत्तर—टट्टियों में टट्टी जाने से, मूत्र-नालियों में पेशाव करने से, और सारी रात्रि तक मूत्र को एक ही वर्तन में सग्रहीत रखने से ।
(१६९) प्रश्न—खोजा यानी नपुंसक क्यों होता है ?
उत्तर—जगलो की कटाई करने से तथा खोजो के साथ क्रीड़ा करने से ।
(१७०) प्रश्न—यौवन अवस्था में ही दांत क्यो गिर जाते हैं ? तथा बाल भी श्वेत-सफेद क्यो हो जाते हैं ?
उत्तर—कोमल वनस्पति का छेदन भेदन करने से, एव इनकी चटनी कचूमर करने से ।
(१७१) प्रश्न—निरन्तर पीप बहने वाला फोड़ा क्यों होता है ?
उत्तर—फलों को चीर कर उनमें मसाला भरने से ।
(१७२) प्रश्न—शरीर में कीड़े क्यों उत्पन्न हुआ करते हैं ?
उत्तर—दूसरों पर पेशाब आदि घृणित पदार्थों के फेंकने से, एवं सड़ी वस्तुओं के खाने से ।
(१७३) प्रश्न—एक साथ ही अनेकानेक रोग क्यों हुआ करते हैं ?
उत्तर—ग्रामों को उजाड़ कर लूटने से, डाका डालने से ।
(१७४) प्रश्न—आश्रित पुरुष विद्रोही क्यों हो जाते हैं ?
उत्तर—भोजनालय चलाने से अच्छी वस्तु वतला कर खोटी वस्तु देने से ।
(१७५) प्रश्न—बारह वर्ष तक गर्भ में मूढ गर्भ ही क्यों रहे ?
उत्तर—पेशाव इकट्ठा करके रात्रि भर तक उसे पड़ा रहने देने से ।

(१४०) प्रश्न--बिल्ली क्यों बनना पड़ता है ?

उत्तर--कपट करने से।

(१४१) प्रश्न--नेवला, सर्प योनि किस कर्म का फल है ?

उत्तर--लोभ का परिणाम है।

(१४२) प्रश्न--नाहरु (बाला रोग) क्यों होता है ?

उत्तर--बिना छना हुआ पानी पीने से, जीवाणी (पानी छानने के बाद कपडे में बचे हुए जीव समूह) का यत्न नहीं करने से विवेक पूर्वक उन्हे यथा स्थान पर नहीं डालने से।

(१४३) प्रश्न--मनुष्ययोनि कैसे मिलती है ?

उत्तर—क्षमा, दया, नम्रता से।

(१४४) प्रश्न—स्त्री मर कर के पुरुष कैसे हो सकती है ?

उत्तर—सत्य, शील, सन्तोष, विनय, आदि गुणो के धारण करने से।

(१४५) प्रश्न—देवता कौन हो सकता है ?

उत्तर—साधु, श्रावक, और अकाम निर्जरा करने वाला।

(१४६) प्रश्न—लक्ष्मी स्थिर कैसे रह सकती है ?

उत्तर—साधुओ को दान देकर किसी भी प्रकार का पश्चात्ताप नहीं करने से।

(१४७) प्रश्न—काणा (एक आँख वाला) क्यो होता है ?

उत्तर—बीज, फल, फूल आदि को छेदने से तथा हार, गजरे आदि बनाने से।

(१४८) प्रश्न—गलित कोढ़ क्यो होता है ?

उत्तर—सुवर्ण, चादी, लोहा, तावा, आदि धातुओं की खानों को खोदने से।

(१४९) प्रश्न—यश का काम करते हुए भी अपयश क्यों होता है ?

उत्तर—सचित्त औषधि करने से, अन्य द्वारा कृत उपकार को नहीं मानने से।

(१५०) प्रश्न—आँख में वामणी (फुन्सी विशेष) क्यों होती है ?

उत्तर—नमक के समूह को खोदने से।

(१५१) प्रश्न—आँख मजारी (बिल्ली की आखों जैसी) क्यों होती है ?

उत्तर—सम्यक् दृष्टि होते हुए भी मिथ्यात्वियों के जैसे अथवा अनार्यों के जैसे कामों को करने से।

(१५२) प्रश्न—रुण्ड-मुण्ड शरीर क्यों मिला करता है ?

उत्तर—न्यायाधीश होकर कठिन दण्ड देने से।

(१५३) प्रश्न—कठमाल का रोग क्यों होता है ?

उत्तर—मछलियों का आहार करने से।

(१५४) प्रश्न—बाह्यरूप से स्वस्थ दिखलाई पड़ने पर भी आंतरिक रूप से रोगी क्यों होता है ?

उत्तर—रिश्वत लेकर झूठा न्याय करने से।

(१५५) प्रश्न—सयोग होकर भी पुन: उसका वियोग शीघ्रता पूर्वक क्यों होता है ?

उत्तर—कृतघ्नता, मित्र द्रोह और विश्वासघात करने से।

(१५६) प्रश्न—डरपोक स्वभाव क्यों होता है ?

उत्तर—कठोर दण्ड देने वाला कोतवाल होने से एवं अन्य को डराने से।

(१५७) प्रश्न—खुजली का रोग क्यों होता है ?

उत्तर—तेइन्द्रियजीवों को, जूँ, लीख, खटमल, पिस्सू, दीमक आदि जानवरों को मारने से।

(१५८) प्रश्न—जूँएँ अधिक क्यों उत्पन्न होती हैं ?
उत्तर—मछलियों का आहार करने से तथा जूँओं को अग्नि आदि में डालकर मारने से ।
(१५६) प्रश्न—तपस्या क्यों नहीं की जा सके ?
उत्तर—तप, जप का अभिमान करने से, एव तपस्या करने वाले के लिये अतराय पैदा करने से ।
(१६०) प्रश्न—अशोभनीय वाणी क्यों मालूम पड़े ?
उत्तर—वाक्य-चतुराई का अभिमान करने से, तथा कठोर वचन बोलने से ।
(१६१) प्रश्न—अपयश वाला क्यों होवे ?
उत्तर—सासू, ननद, देवरानी, जेठानी, भाई भोजाई के प्रति ईर्षाभाव रखने से ।
(१६२) प्रश्न—युवावस्था में ही स्त्री क्यों मर जाय ?
उत्तर—भोगों की तीव्र अभिलाषा रखने से, अमर्यादित रूप से विषय सेवन से ।
(१६३) प्रश्न—समूर्च्छिम मनुष्य कौन प्राणी हुआ करता है ?
उत्तर—गंदे नालों का, गटरों का निर्माण करने वाला एव समूर्च्छिम मनुष्यों की हत्या करने वाला ।
(१६४) प्रश्न—अधिक भूख क्योंलगा करती है ?
उत्तर—खेती का काम करने से, शक्ति शील आश्रितों को भूख की वेदना उत्पन्न करने से ।
(१६५) प्रश्न -मृगी रोग यानी अपस्मार की बीमारी क्यों हुआ करती है ?
उत्तर—लोहार की धमनी धमने से, मृगी रोग वाले को सताने से ।
(१६६) प्रश्न—बोलते समय उबासी क्यों आवे ?
उत्तर—रगार के काम करने से और तोतले को चिढ़ाने से ।
(१६७) प्रश्न—बोलते समय थूक क्यों उड़ता है ?
उत्तर—गोबर को सड़ाने से ।
(१६८) प्रश्न—जहाज क्यों डूब जाय ?
उत्तर—टट्टियों में टट्टी जाने से, मूत्र-नालियों में पेशाब करने से, और सारी रात्रि तक मूत्र को एक ही वर्तन में सग्रहीत रखने से ।
(१६६) प्रश्न—खोजा यानी नपुंसक क्यों होता है ?
उत्तर—जगलो की कटाई करने से तथा खोजो के साथ क्रीड़ा करने से ।
(१७०) प्रश्न—यौवन अवस्था में ही दांत क्यो गिर जाते हैं ? तथा बाल भी श्वेत-सफेद क्यो हो जाते हैं ?
उत्तर—कोमल वनस्पति का छेदन भेदन करने से, एवं इनकी चटनी कचूमर करने से ।
(१७१) प्रश्न—निरन्तर पीप वहने वाला फोड़ा क्यों होता है ?
उत्तर—फलों को चीर कर उनमें मसाला भरने से ।
(१७२) प्रश्न—शरीर में कीड़े क्यों उत्पन्न हुआ करते हैं ?
उत्तर—दूसरों पर पेशाव आदि घृणित पदार्थों के फेंकने से, एवं सड़ी वस्तुओं के खाने से ।
(१७३) प्रश्न—एक साथ ही अनेकानेक रोग क्यों हुआ करते हैं ?
उत्तर—ग्रामों को उजाड़ कर लूटने से, डाका डालने से ।
(१७४) प्रश्न—आश्रित पुरुष विद्रोही क्यों हो जाते हैं ?
उत्तर—भोजनालय चलाने से, अच्छी वस्तु वतला कर खोटी वस्तु देने से ।
(१७५) प्रश्न—वारह वर्ष तक गर्भ में मूढ गर्भ ही क्यों रहे ?
उत्तर—पेशाव इकट्ठा करके रात्रि भर तक उसे पड़ा रहने देने से ।

(१७६) प्रश्न—चौवीस वर्ष तक मूढ गर्भ क्यों रह जाय ?

उत्तर—तीव्र लालसा के साथ विषय सेवन से, गर्भ हत्या करने से।

(१७७) प्रश्न—सदा शरीर जलन क्यों अनुभव करता रहे ?

उत्तर—फूलों का मर्दन करने से, तथा बहुत इत्र उबटन आदि लगाने से।

(१७८) प्रश्न—स्त्री वाझ क्यों रह जाता है ?

उत्तर—फूलों का इत्र निकालने से, मनुष्य, पशु के बच्चों की हत्या करने से।

(१७९) प्रश्न—अनेक स्त्रियों के होने पर भी पुत्र क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—अनेकानेक वनस्पतियों का रस निकालने से।

(१८०) प्रश्न—हरामखोर क्या होता है ?

उत्तर—अनेक जलचर जीवों को मारने से, कसाई के काम करने से।

(१८१) प्रश्न—शक्तिशील क्यों नहीं होवे ?

उत्तर—मनुष्यों के रक्त से औषधि बनाने का कार्य करने से।

(१८२) प्रश्न—शरीर भारी भारी क्यों होवे ?

उत्तर—आसव, शराब, मदिरा, अधिक पीने से।

(१८३) गर्भावस्था में बच्चा टेढा क्यों हो जाय ?

उत्तर—साधु के ऊपर कलंक लगाने से, शुद्ध आहार लेने वाले साधु को अशुद्ध आहार देने से।

(१८४) प्रश्न—नरक तिर्यंचगति में रहने का परिणाम क्या होता है ?

उत्तर—अकाम निर्जरा होती है, एव मनुष्य गति की प्राप्ति का सुअवसर आता है। पहले दुःख है तो तत्पश्चात् सुख भी है। जैसे किसी कुलीन के प्रति कोई कलक आ जाय, सख्त सजा प्राप्त करे, किन्तु वाद में न्याय होने पर निर्दोष प्रमाणित हो जाय, तो परिणाम स्वरूप छुटकारा प्राप्त कर लेता है, वैसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिये।

(१८५) प्रश्न—मोक्ष कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप का सम्यक प्रकार से आचरण करने से इनकी निर्दोष रीति से आराधना और परिपालना करने से, एव स्पर्शना करने से।

इत्यादि रूप से कर्मबन्धन करने के, भोगने के और इनसे छुटकारा पाने के अनेक कारण शास्त्रों में तथा ग्रन्थों में बतलाये गये हैं। कितने ही कर्मों का बन्धन और फल जहाँ का तहाँ इसी भव में भी प्राप्त हुआ करता है। कितने ही कर्मों का बन्धन यहाँ होता है तो उनका फल किन्हीं आगामी जन्मों में भी मिलता है। अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु ने ससारी जीवों की कर्म फल से उत्पन्न होने वाली विपाकदशा को सम्यक् प्रकार से जान लिया है परन्तु वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं कर सके हैं क्योंकि सम्पूर्ण विश्व अनन्त जीवों से परिपूर्ण है। और प्रत्येक जीव के साथ अनन्तानन्त कर्म वर्गणाओं के पुद्गल लगे हुए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्गणा के वर्ण आदि सम्बन्धी पर्यायों की अनन्त व्याख्याएँ हो सकती है। ऐसा अपरपार विपाक विचय का वर्णन भाषा द्वारा कदापि नहीं हो सकता है। तथापि धर्म ध्यान की आराधक धार्मिक आत्माएँ ज्ञानी की आज्ञानुसार विपाक विचय का यथाशक्ति विचार करती हुई कर्मों की विचित्रताओं से परिचित हो सकती है। ऐसी आत्माएँ ही कर्म बन्ध के कारणों से बचती हुई और कर्म क्षय करने के मार्ग में प्रवृत्ति करती हुई अनन्त आध्यात्मिक सुख प्राप्त कर सकती हैं अथवा सुख प्राप्त करती ही हैं।



चतुर्थ-पत्र--"संस्थान-विचय"



संस्थान का अर्थ आकृति है। इस अखिल विश्व का तथा विश्व में रहने वाले पदार्थों की आकृति का विचार करना ही "संस्थान विचय" नामक धर्म ध्यान है।

अनन्त आकाश होने से क्षेत्र रूप स्थिति भी अनन्त रूप ही है इसका पार पाना अथवा इसके अंतिम छोर का पता लगाना असंभव ही है। अतः इसका एक नाम "अलोक" भी है। इस अलोक के मध्यभाग में ३४३ घनराजू जितनी लम्बाई चौड़ाई रूप जगह में जीवाजीव रूप और रूपी-अरूपी पदार्थ रूप एक पिंड है, इसे ही लोक कहा जाता है। यह लोक नीचे सातवीं नरक के पैंदे में सात राजू जितना चौड़ा है। ऊपर सात राजू की ऊँचाई तक यानी लोक के मध्य भाग में सिकुड़ता सिकुड़ता बराबर बीचो-बीच भाग में एक राजू जितना चौड़ा है। इसी प्रकार ऊपर बढ़ते बढ़ते जहाँ ऊँचाई ग्यारह राजू तक की है, वहाँ पर इस लोक की चौड़ाई पाँच राजू जितनी है, और यहीं पर पाँचवा देवलोक भी है। इसी प्रकार ऊपर ज्यों ज्यों लम्बाई चलती जाती है, त्यों त्यों यह पुन सिकुड़ता हुआ अंतिम चौदह राजू की ऊँचाई पर यानी लोक के अग्र भाग पर पुन एक राजू जितना ही चौड़ा रह जाता है। यहीं पर मोक्ष स्थान है। इसका उदाहरण यों दिया जाता है कि—मिट्टी के छोटे छोटे बनाये जाने वाले जो दीपक होते हैं, उनमें से सर्व-प्रथम एक दीपक को उल्टा रखना, उसके ऊपर दूसरे दीपक को सीधा रखना, और पुन' सीधे दीपक पर एक और उल्टा दीपक रखना, यों तीन दीपकों की स्थापना आकृति के समान ही लोक का नक्शा समझना चाहिये। अथवा जैसे कोई आदमी अपने पैरों को पसार कर एवं कमर के स्थान पर हाथ लगा कर खड़ा रहे, ऐसी ही आकृति वाला यह लोक है। ऐसा उल्लेख भी भगवती आदि शास्त्रों में है।

इस लोक के मध्य भाग में एक निसेनी (सीढियों का ढाँचा) जैसी एक राजू जितनी चौड़ी एवं सातवीं नारकी से लगाकर ठेठ मोक्ष पर्यंत तक चौदह राजू जितनी लम्बी एक त्रस नाल है, इसमें त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीव हैं। इस त्रस नाल के बाहिर के क्षेत्र में केवल स्थावर जीव ही हैं। त्रस-नाल के आधे नीचे के भाग में सात राजू जितने स्थान में सात प्रकार के नरक स्थान हैं, जहाँ पर केवल वे ही प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं, जो पाप के भयंकर बोझे से लदे हुए हैं एवं जो घोरातिघोर पापी हैं। ये अपने कृत कर्मों का अशुभ फल भोगते हुए महा दुःखी होते हैं। यह स्थान उल्टे दीपक जितना समझना चाहिये। इस नाल के मध्यभाग में जहाँ पर दो दीपकों का सम्मेलन सा प्रतीत होता है, वहाँ पर गोलाकार रूप से १८०० योजन जितना ऊँचाई वाला क्षेत्र है, उसे ही मध्यलोक अथवा तिरछा लोक कहा जाता है। इसके ठीक मध्य में एक लाख योजन जितना ऊँचा और नीचे के भाग में दश हजार योजन जितना चौड़ा एवं सर्वोपरि भाग पर एक हजार योजन जितना चौड़ा मल्लस्तम्भ जैसा मेरुपर्वत है। इसी पर्वत के चारों ओर चूड़ी के आकार जैसा गोल एक लाख योजन जितना लम्बा चौड़ा जम्बूद्वीप है। इस द्वीप के बाहिर चारों ओर चूड़ी रूप से घेरा डालने वाला दो लाख योजन जितनी चौड़ाई वाला लवणसमुद्र है। पुन इसके चारों ओर फिरता हुआ चार लाख योजन जितनी चौड़ाई वाला धातकी खण्ड द्वीप है। पुनः इसके चारों ओर आठ लाख योजन जितनी चौड़ाई वाला कालोदधि समुद्र है। इसके भी चारों ओर गोलाकार

रूप में सोलह लाख योजन जितनी चौडाई वाला पुष्कर द्वीप* है। यों एक के बाद दूसरे एक दूसरे को चूड़ी के आकार में घेरते हुए क्षेत्रफल में दो दो गुणे बड़े बड़े होते हुए असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। सबकी आकृति अथवा संस्थान चूड़ी के समान ही समझना।

मेरुपर्वत के मूल में सम भूमि है। वहाँ से ७९० योजन ऊपर तारा मंडल है। वहाँ से १० योजन ऊपर सूर्य का विमान है। इससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा का विमान है। इसके बाद बीस योजन ऊपर के क्षेत्र में शेष सभी ज्योतिष देवताओं के विमान आगये हैं।

ढाईद्वीप के अन्तर्गत जो ज्योतिषी देवताओं के विमान हैं, उनका संस्थान यानी आकार आधे कवीठ के समान है। और बाह्य रूप से ईंट जैसे हैं। आगे ऊपर मृदंग के संस्थान जैसी आकृति वाले सात राजू से कुछ कम जितनी ऊँचाई तक ऊँचा लोक कहा जाता है। यहाँ पर बारह देवलोक, नौ लोकान्तिक देव नौ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान, इन देवताओं के विमान हैं। इनमें सभी विमानों की संख्या ८४९७०२३ है। इनमें से कितने ही चार कोण वाले, कितने ही तीन कोण वाले, और कई एक गोलाकार हैं। जो जीव पुण्य प्रवृत्तिमय होता है, वही इन देवलोक रूप स्थानों में जन्म ग्रहण कर सकता है, एवं स्वकृत पुण्य कर्म के फलानुसार सुखों का उपभोग कर सकता है। इन देवताओं का सर्वोच्च और अंतिम स्थान सर्वार्थ सिद्ध विमान है, इसी से बारह योजन की ऊँचाई पर मोक्ष स्थान है। इसे सिद्ध शिला भी कहा जाता है। वह खुले हुए छत्र के आकार की है और क्षेत्रफल में पैंतालीस लाख योजन की लम्बाई चौडाई वाली है। इसके सर्वोपरि भाग के एक योजन के चौवीसवें भाग में अनन्तानन्त सिद्ध भगवान् स्थित हैं। जो अरूपी और अनन्तज्ञानशाली हैं। इनका स्थिति-स्थान अलोक से स्पर्श करता हुआ है। इस प्रकार संक्षेप में लोक का और लोक में स्थित स्थूल पदार्थों के संस्थान का यानी आकृति का वर्णन हुआ।

संसारी जीवों के शरीर की आकृति अथवा संस्थान छः प्रकार का कहा गया है। (१) समचतुरस्र संस्थान, (२) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, (३) स्वाति संस्थान, (४) कुब्जक संस्थान, (५) वामन संस्थान, (६) हुँडक संस्थान। इनकी परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

(१) जिस शरीर की रचना चारों ओर से समान हो, यानी पद्मासन रूप से बैठने पर दोनों घुटनों की लम्बाई दोनों कंधों के बराबर हो, वैसे ही बायें कंधे से बायें घुटने तक की लम्बाई दाहिने कंधे और दाहिने घुटने की लम्बाई के बराबर हो, तात्पर्य यही है कि शरीर की आकृति ऊपर नीचे तथा बीच में समभाग से हो। जैसी कि कितनी ही जैन मूर्तियों की बनावट इसी प्रकार की देखी जाती है। यही सम चतुरस्र संस्थान है।

(२) जिस शरीर की रचना बड़ वृक्ष के समान हो जिसमें उक्त वृक्ष के समान नीचे तो केवल ठूंठ जैसा हो, और ऊपर से शाखाओं एवं प्रतिशाखाओं से शोभायमान हो वैसे ही कमर के नीचे का भाग तो अशोभनीय हो, और ऊपर से शोभा वाला हो ऐसी शरीर की रचना न्यग्रोध परिमण्डल है।

(३) जिस शरीर की रचना खुरसानी (¹) इमली के समान हो, याने ऊपर का भाग तो ठूंठ के समान होता हुआ अशोभनीय हो, और नीचे का भाग शोभायमान हो, ऐसी शरीर की रचना स्वाति संस्थान कही जाती है।

---

* इस पुष्कर द्वीप के बिलकुल बीचोबीच में चूड़ी के आकार सा गोलाकार रूप से मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे इस द्वीप के दो भाग हो गये हैं। प्रथम भाग में तो मनुष्यों की बस्ती है, किन्तु दूसरे में नहीं। इस प्रकार जम्बूद्वीप, धातकी खंड और आधा पुष्करद्वीप, यों कुल ढाई द्वीप में ही मनुष्यों का निवास स्थान है। ढाई द्वीप में इन्हीं की गिनती की जाती है।

(४) बौना रूप शरीर रचना वामन सस्थान है।

(५) पीठ पर अथवा छाती पर कुबड होना, यही कुब्जक सस्थान है।

(६) शरीर के अगोपाग किसी खास शकल के नहीं होकर आधे जले हुए शव के जैसे प्रतीत होने वाले हो, ऐसी खराब शरीर रचना हुँडक सस्थान कही जाती है।

इन छ सस्थानो में से नरक पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, और असन्नी तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवों के केवल एक यही हुँडक सस्थान होता है। सन्नी मनुष्य और सन्नी तिर्यंच जीवो के छ ही सस्थान हो सकते हैं। सभी देवता, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, आदि उत्तम पुरुषो केवल एक ही समचतुरस्र सस्थान होता है।

अजीव रूपी पुद्गलों के सस्थान पाँच प्रकार के कहे गये हैं—(१) परिमडल, (२) वट्ट, (३) तस, (४) चउरस, और (५) आयत। (१ परिमडल यानी गोल, चूड़ी के आकार जैसा, (२) वट्ट यानी मोदक के आकार का, (३) तस अर्थात तीन कोण वाला, सिंघाड़े के जैसा, (४) चउरस का अर्थ चार कोण वाला है, जैसे कि चौकी (बाजोट), (५) आयत का मतलब है जिसकी चौड़ाई और लम्बाई समान न हो, जैसे कि साधारण लकड़ी के समान। इन पाँचों ही आकृति वाले अनेक रूपी पदार्थ इस ससार में है। देवताओं के विमान, द्वीप, समुद्र आदि अनेक सांसारिक पदार्थ इन्हीं पाँचों आकृतियों में से किसी एक आकृति जैसे ही हैं।

इन शारीरिक अथवा पौद्गलिक आकृतियो वाले शरीरों को इस जीव ने ससार में परिभ्रमण करते समय अनन्त बार धारण किया है। यह जीव सब प्रकार से उच्चनीच सस्थानमय वस्तुओं का स्वामी अनेक बार बना है। इनका उपभोग किया है। इसलिये विचारणीय है कि "हे जीव! पुण्योदय से यहाँ पर सुन्दर शरीर और मनोहर स्त्री आदि तुझे मिली है, और शयन, आसन, वसन, वस्त्र, आभूषण, वाहन, आदि इष्ट ऋद्धि की भी तुझे प्राप्ति हुई है, किन्तु फिर भी गत जन्मों के अनुसार इनकी अनित्यता का विचार क्यों नहीं करता है? और क्यों इनमें इतनी अधिक ममता अथवा आसक्ति रखता है। इनके फ़दे में क्यों फँसा हुआ है? क्या मृत्यु प्राप्त करके पुन चारों गतियों में चक्कर लगाना है?

कहा गया है कि—"जहाँ आसा वहाँ वासा" अर्थात् जहाँ पर आशा अथवा आसक्ति है, वहीं पर जन्म मरण का चक्कर भी रहा हुआ है। ऐसा जान करके अच्छे सस्थान वाले पदार्थों पर से भी ममत्व भावना का परित्याग करना चाहिये। और यदि किसी समय अशुभ कर्मों के उदय से अमनोरम सस्थान वाले पदार्थों का शरीर का या स्त्री आदि कुटुम्ब परिवार का सयोग मिल जाय, अथवा अमनोज्ञ शयन—आसन का योग हो जाय, तो भी मन म खेद नहीं लाना चाहिये। क्योंकि बाह्य सस्थान अथवा आकृति तो केवल व्यावहारिक रूप है इससे अपनी आतरिक आत्मिक स्थिति पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है और न अपनी ऋद्धि में ही कोई अन्तर आने वाला है। अत सारांश यही है कि जिससे कोई हानि लाभ नहीं होता हो, उस पर अकारण ही रुष्ट होना अथवा सतुष्ट होना अज्ञानता ही कही जायगी। इसी प्रकार और भी विचार करना चाहिये कि "हे जीव! तू ज्ञानी है, तो फिर व्यर्थ की बातों पर रागद्वेष करके कर्मों का बन्धन क्यों करता रहता है। फिर ज्ञानशील होने पर तुझे क्या लाभ पहुँचा?" इत्यादि रूप से गम्भीर विचारणा करके अच्छे अथवा बुरे सस्थान वाले पदार्थों पर उत्पन्न होने वाले राग द्वेष मय भावों को कम करना चाहिये। तथा सदा एक ही आकार में रहने वाला जो निज आत्मा सम्बन्धी गुण और परमात्मा का स्वरूप है, उसी में अपनी विचार-धारा को सयोजित करना चाहिये।

इस प्रकार धर्म ध्यान के चार पायों का सक्षिप्त स्वरूप कहा गया है। धर्म ध्यानी यथा बुद्धि अनुसार इनका विचार करके अपनी आत्मा को धर्म-ध्यान में स्थापित करे।

द्वितीय प्रति शाखा-"धर्म-ध्यानी के लक्षण"



धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तंजहा-आणारुई, निसग्गरुई, उवएसरुई, सुत्तरुई।

उववाइ—सूत्र

धर्म—ध्यान के ध्याता को पहिचानने के चार लक्षण बतलाये गये हैं। (१) जिनराज की आज्ञा के प्रति रुचि होना, वह आज्ञा-रुचि लक्षण है। (२) जिनराज द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का अभ्यास करने के प्रति रुचि होना, वह निसर्ग रुचि है। (३) सद्बोध श्रवण करने की रुचि होना, यह उपदेश रुचि है। (४) जिनागम को श्रवण करने की रुचि होना, यह सूत्र रुचि है।

रुचि का अर्थ उत्कृष्ट इच्छा है। जैसे कामी को काम की, लालची को धन की, यश-कीर्ति के इच्छुक को यश-कीर्ति की, भूख से पीड़ित को अन्न की, प्यास वाले को जल की, समुद्र में पतित को जहाज की, रोगी को औषधि की मार्ग को भूले हुए को सही मार्ग की, इत्यादि रूप से जो जिस कार्य का अर्थी या आकांक्षी होता है, उसे उस कार्य को परिपूर्ण करने की स्वाभाविक इच्छा होती है। और जहाँ तक वह कार्य परिपूर्ण नहीं हो, वहाँ तक उसके मन में उत्कंठामय बेचैनी सी रहती है, और यदि पुनः उनका वियोग हो जाय, तो उनकी प्राप्ति के लिये पुनः वैसी ही उत्कंठा जागृत हो जाती है, ऐसी मन की स्थिति का नाम ही रुचि है।

सांसारिक जीवों की जैसी रुचि व्यावहारिक और पौद्गलिक कामों के प्रति होती है, वैसी ही रुचि धर्म-ध्यानी की भी आत्म साधक कामों के प्रति हुआ करती है। इस प्रकार आत्म-साधना सम्बन्धी पारमार्थिक कामों के ये मुख्य चार भेद कहे गये हैं।

प्रथम-पत्र--आज्ञा-रुचि

अनादि काल से ही इस जीव ने जिनाज्ञा का उल्लंघन किया है, और स्वच्छन्द आचरणशील रहा है, इसी कारण से यह जीव इतने समय से संसार में परिभ्रमण करता रहा है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि—

अपनी इच्छाओं का निरोध करने से और जिनाज्ञा में प्रवृत्ति करने से मोक्ष की प्राप्ति हुआ करती है अतएव मुमुक्षु को चाहिये कि वह अपनी इच्छा को रोक करके वीतराग की आज्ञा में प्रवृत्ति करने का प्रयत्न करे।

अब यह सोचना है कि वीतराग की आज्ञा क्या है? राग और द्वेष को आत्यन्तिक रूप से और समूलतया नष्ट करने वाले को ही "वीतराग" कहा जाता है। जिन्होंने राग और द्वेष के क्षय करने में ही एकान्त रूप से लाभ जाना है, वे निश्चय ही राग और द्वेष को क्षय करने की ही आज्ञा प्रदान करेंगे। यह संशय से रहित बात है। ऐसा जान करके वीतराग की आज्ञा का इच्छुक सदैव मध्यस्थ परिणामों वाला ही बना रहे। एवं सभी प्रकार के प्रति बन्धों से परे रहे।

प्रतिबन्ध चार प्रकार के कहे गये हैं.—(१) द्रव्य से-सजीव, अजीव और मिश्र तीन प्रकार के हैं। सजीव का तात्पर्य द्विपद रूप मनुष्य पक्षी आदि और चतुष्पद रूप पशु गाय आदि है। अजीव का तात्पर्य वस्त्र, पात्र, धन, मकान आदि हैं। और मिश्र का तात्पर्य वस्त्र, आभूषण, आदि से अलंकृत मनुष्य, पशु आदि का है।

(२) क्षेत्र से—ग्राम, नगर, घर, खेत आदि हैं। (३) काल से—घड़ी, पहर, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि हैं। और (४) भाव से--क्रोध आदि कषाय, मोह, ममता, आसक्ति आदि हैं। इन चारों ही प्रतिबन्धों से रहित होना चाहिये ।‡

मुमुक्षु क्षुधा, तृषा, शीत, ताप आदि से जनित कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करता रहे। मीठे अथवा कडुवे वचनों के प्रति निरपेक्ष रहे। निद्रा, प्रमाद और आहार परिमित एवं सयमित ही रक्खे। सदैव ज्ञान, ध्यान, तप, और सयम में आत्मा को सयोजित करते हुए ही समय व्यतीत करता रहे। इस "आज्ञारुचि" नामक विषय का पहले आज्ञा विचय नामक अध्ययन में विस्तार पूर्वक विवेचन कर दिया गया है, अत पूर्व वर्णन तो विचार रूप समझना और इस समय किया गया यह वर्णन प्रवृत्ति की इच्छा रूप समझना।

द्वितीय-पत्र--निसर्ग रुचि

(२) निसर्ग रुचि—धर्म ध्यानी पुरुष के लिये इस विश्व के सभी पदार्थ ऐसे मालूम होते हैं कि मानों वे सब धर्म ध्यान के ध्याता को सदुपदेश दे रहे हों। श्रीआचारागजी शास्त्र के आदेश अनुसार ज्ञानी महात्मा आस्रव के स्थान पर भी सवर उत्पन्न कर लिया करते हैं। जैसे कि नमिराज ऋषि ने *महिलाओं की चूड़ियों की ध्वनि सुन करके वैराग्य प्राप्त किया, जब कि अन्य साधारण पुरुषों को तो ऐसी ध्वनि से काम भावनाएँ ही उत्पन्न हुआ करती हैं। इसी प्रकार से भव्य जीवों के लिये वृक्ष, पर्वत, खान, पान, वस्त्र, आभूषण, ग्राम, श्मशान, रोग, हर्ष, शोक, बादल, विद्युत सयोग, वियोग निवृत्ति भाव आदि वस्तुएँ वैराग्य उत्पन्न करती है। ऐसे सयोगों से स्वभावत जो वैराग्य उत्पन्न हुआ करता है, उसे ही निसर्ग रुचि कहा जाता है। कितने ही मनुष्यों को जाति स्मरण ज्ञान के बल से अपने पूर्वकाल के ९०० भवों का (यदि लगातार रूप से सज्ञी पचेन्द्रिय रूप से ही उत्पन्न हुए हों तो) ज्ञान होने पर एव गतजन्मों में कृतकर्मों के भोगे हुए फलों को देख करके वैराग्य उत्पन्न हुआ करता है। इस ढग से विविध कारणों द्वारा स्वभावत तत्त्वज्ञान की ओर जो रुचि उत्पन्न होती है, उसे ही निसर्ग रुचि कहना चाहिये। कभी कभी

‡ आजकल ऐसी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति फैल गई है कि—"ये श्रावक हमारे और यह क्षेत्र हमारा, इस प्रकार के प्रतिबधनों में बधने से ही इस समय वीतराग देव के अनुयायियों में धर्म-ध्यान की हानि और क्लेश की वृद्धि होती हुई दिखलाई पड़ रही है। आत्मार्थियों को इन झगड़ों से बच करके अप्रतिबध विहार करते रहना चाहिये, जिससे कि धर्म-ध्यान का अखड और निराबाध प्रचार होता रहे।

* मिथिला नगरी के नमिराय राजर्षि के शरीर में एक बार दाह ज्वर की उत्पत्ति हुई थी, उस समय रोग शांति के उपचार के लिये वैद्यों के कथनानुसार रानियों ने "बावन-चदन" घिसना प्रारम्भ किया, तो उनके हाथों में रही हुई चूड़ियों से कुछ विशेष आवाज होने लगी, उस समय श्रीराजर्षि बोले कि "मुझे यह ध्वनि अच्छी नहीं लग रही है, "इस पर सभी रानियों ने केवल सौभाग्य स्वरूप एक एक चूड़ी ही हाथ में रख कर शेष सभी चूड़ियाँ उतार कर अलग रख दीं।" ऐसा करते ही ध्वनि के बन्द हो जाने के कारण से राजर्षि को विचार हुआ कि "अनेक चूड़ियों के होने पर तो ध्वनि उठ रही थी, परन्तु एक के होने ही शान्ति हो गई, उसी प्रकार मैं भी अनेक पारिवारिक जनों के मध्य में रहने से ही अशांति अनुभव कर रहा हूँ। और यदि इनके बन्धनों से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से अकेला ही विचरूँ, तो परिपूर्ण शान्ति का अनुभव कर सकता हूँ।" इतना विचार करते ही रोग भी शान्त हो गया, तथा वे अपने विचार के अनुसार दीक्षा ग्रहण करके अनन्त सुखी हुए।

ऐसा भी होता है कि अन्य मतावलम्बी को अज्ञान पूर्वक तपस्या का कष्ट सहन करने से, अकाम निर्जरा होने से, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से अथवा उपशम से विभंग ज्ञान की प्राप्ति हो जाया करती है, ऐसे समय में जब वह जैन मतावलम्बी साधुओं की उत्कृष्ट और शुद्ध क्रिया देखता है, तो उसे इस ओर अनुराग उत्पन्न हो जाया करता है। ऐसी स्थिति में विभंगज्ञान अवधिज्ञान के रूप में बदल जाया करता है। उसी समय तत्त्वज्ञान पर रुचि जागृत होती है तथा सम्यक्त्व भी प्राप्त हो जाया करता है। यही निसर्ग रुचि है। इस तरह से येन केन प्रकारेण तत्त्वज्ञान के प्रति आस्तिकता उत्पन्न हो तथा परिणामों में दृढता प्राप्त हो, यही सयोग धर्म ध्यान के ध्याता के लिये "निसर्ग रुचि" रूप लक्षण कहा जाता है।

तृतीय-पत्र-उपदेश-रुचि

(३) उपदेशरुचि'—श्री तीर्थंकर, केवल ज्ञानी, गणधर महाराज, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, सम्यक् दृष्टि, इत्यादि महापुरुष जब शास्त्रों के अनुसार उपदेश किया करते है, उस उपदेश से धर्मध्यान के ध्याता की जो रुचि जागृत होती है, वही उपदेशरुचि है। दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में फरमाया हुआ है कि—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

सुनने से ही मालूम हुआ करता है कि अमुक सुकृत्य करने से अपनी आतमा का कल्याण होता है और अमुक पापकृत्य करने से बुरा होता है। एवं अमुक काम करने से अच्छा और बुरा—मिश्रित—फल होगा। जैसे कि इन्द्रियों की तृप्ति में सुख तो अल्प ही रहा हुआ है, जबकि दु ख अनन्त रहा हुआ है. ऐसी दोनों बातें समझनी चाहिये। मिश्र पक्ष गृहस्थ धर्म ही है। जिसे शास्त्रों में "धम्माधम्मी" तथा "चरित्ताचरित्ते" भी कहा जाता है। गृहस्थ-अवस्था में आजीविका के लिये प्रयत्न करते समय कुछ न कुछ पाप तो अवश्य होता ही है। ऐसा समझते हुए उदासीन-वृत्ति के साथ पश्चात्ताप पूर्वक आजीविका—साध्य प्रयत्न धर्म-ध्यानी आत्मा किया करता है। एव आत्म-कल्याण का इच्छुक आत्मा जब जब अवसर मिला करता है, तब तब अत्यन्त हर्ष के साथ धर्म-क्रिया भी करता रहता है। उपरोक्त तीनों बातें—(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्ग रुचि, और (३) उपदेश-रुचि, सुनने पर ही सम्यक् प्रकार से भली प्रतीत होती हैं। मुमुक्षु इन्हें स्वीकार करके सुखी होते हैं। इस प्रकार धर्मध्यान का रहस्य व्याख्यान सुनने से ही ज्ञात हो सकता है। व्याख्यान में सदैव कुछ न कुछ नवीन अनुभव सुनने में आता ही है। और नवीन सद्बोध से स्वाभाविक तत्त्वरुचि तथा तत्त्वज्ञता प्राप्त होती ही है। ध्यानस्थ होने पर उक्त तत्त्वज्ञता हृदय में स्थायी स्थान प्राप्त करती है। उस समय में चित्त अन्य वृत्तियो से निवृत्त हो जाया करता है। और ऐसा होने पर धर्म-ध्यान की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है, जिसका परिणाम "ध्यान का सिद्धि" ही होता है। अतएव सारांश यह है कि धर्म-ध्यायी उपदेश श्रवण, मनन, निदिध्यासन, की ओर प्रवृत्त होता है, एव तदनुसार प्रवृत्ति करने की ओर अधिक रुचि उत्पन्न होती है।

चतुर्थ-पत्र--सूत्र-रुचि

(४) सुत्तरुइ—भगवान की द्वादशांगी वाणी को ही सूत्र कहा जाता है। वे इस प्रकार हैं—

(१) आचारांग—इसमें साधुओं के लिये आचरणीय व्रतों का और प्रयत्नों का विधान है।

(२) सूअगडांग सुत्त—इसमें अन्य मतावलम्बियों के धर्म का स्वरूप बतलाते हुए उनका निराकरण किया गया है।

(३) ठाणांगसुत्त—इसमें दश स्थानक के रूप में विविध ज्ञातव्य बातों का सकलन है।

(४) समवायांगसुत्त—इसमें जीवादि पदार्थों के स्वरूप को क्रमिक संख्या के रूप में समझाया है।

(५) विवाह-पन्नत्ति—व्याख्या प्रज्ञप्ति यानी भगवती सूत्र में विविध प्रकार का अधिकार है।

(६) णाया धम्म कहा यानी ज्ञाताधर्म कथांग में—धर्म कथाओं का अधिकार है।

(७) अंतगडदसाओ यानी अन्तकृत दशांग में चरम शरीरी आदर्श महापुरुषों का कथन है।

(८) उपासकदशांग में दश श्रावकों का वर्णन है।

(९) अणुत्तरोववाइअ सूत्र में अनुत्तर विमान में पैदा हुए पुण्यशाली आत्माओं का वर्णन है।

(१०) प्रश्न व्याकरण सूत्र में आस्रव और संवर का अधिकार है।

(११) विपाक सूत्र में शुभ कर्म और अशुभकर्म के परिणामों की कथाओं का उल्लेख है।

(१२) दृष्टिवादांग में—सर्वज्ञान सम्बन्धी बातों का समावेश किया गया है।

परम पिता, वीतराग देव श्रीजिनेश्वर भगवान् की यह द्वादशांगी वाणी अगाध ज्ञान के सागर रूप है। तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण है। इस वाणी के ज्ञाता के हृदय में इसके द्वारा अपूर्व चमत्कार उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है।

आत्मा के स्वरूप को बताने वाली, मिथ्या-भ्रम को नाश करने वाली, मोह रूप पिशाच को भगाने वाली, मोक्ष के पथ पर अनंत अक्षय, अव्याबाध सुख को देने वाली केवल श्रीजिनेश्वर भगवान् की वाणी है, जो कि गुणों की खान है। इसी के पठन, मनन, श्रवण, निदिध्यासन, में धर्म ध्यानी महात्मा सदैव प्रेमपूर्वक उत्सुक रहा करते हैं। इसके प्रत्येक शब्द को अत्यन्त उत्सुकता पूर्वक ग्रहण करते हैं और उसके रहस्य के प्रति अन्तःकरण को संयोजित करते हुए और एकाग्रतापूर्वक उसमें लीन होते हुए अपूर्व और अनुपम आनन्द का अनुभव किया करते हैं।

तृतीय प्रति शाखा-धर्म-ध्यानी के आलम्बन

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तंजहाः—वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, धम्मकहा।

धर्मध्यान की आराधना करने वाले के लिये चार प्रकार का आलम्बन कहा गया है—जैसे वृद्ध पुरुष के लिये मार्ग में चलते समय लकड़ी आधार भूत होती है, अथवा महल पर चढ़ते समय, सीढ़ियों को अति क्रमण करते समय रस्सी आधार भूत होती है, वैसे ही धर्मध्यान में प्रवृत्ति करने वाले महात्मा के लिये भी चार प्रकार का आधार कहा गया है। (१) वायणा=सूत्रों का वाचन, (२) पुच्छणा=संदेह के निवारण के लिये गुरु से पूछना, (३) परियट्टणा=पठित ज्ञान की बार बार आवृत्ति करना, और (४) धम्म-कहा=धर्म-कथा अथवा व्याख्यान आदि कहना, सुनना।

प्रथम पत्र-" वायणा "

(१) वाचना—गीतार्थ, बहु-सूत्री, आचार्य, उपाध्याय, इत्यादि विद्वानों द्वारा पठन पाठन करना, लिखित-मुद्रित सूत्र-ग्रन्थों का वाचन करना, यह प्रवृत्ति धर्मध्यान के ध्याता के लिये प्रथम आलम्बन रूप आधार है।

चौथे आरे में बुद्धि प्रबल और तीक्ष्ण हुआ करती थी, जिससे शास्त्र आदि लिखने की न तो परिपाटी थी और न आवश्यकता ही। उस काल में शिष्य अपने गुरु की कृपा से अतिस्वल्प काल में ही अपरिमित ज्ञान कठाग्र कर लिया करते थे। कितने ही शिष्य तो ऐसे होते थे कि चौदह पूर्वों की विद्या भी—जो कि यदि लिखी जाय तो उसके लिखने में ही १६३८३ हाथी डूब जाँय, इतनी स्याही की आवश्यकता हो सकती है—इतना विशाल ज्ञान भी एक मुहूर्त्त मात्र में ही कठस्थ कर लिया करते थे।

आचार्य महाराज " उपन्ने वा, विगए वा, धुवे वा " यह त्रिपदी मात्र ही बोला करते थे, और शिष्य इन तीन पदों को सुनते ही चौदह पूर्वों जितना ज्ञान प्राप्त कर लिया करते थे। इस त्रिपदी का सक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार है कि—" विश्व का प्रत्येक द्रव्य, प्रत्यक तत्त्व उत्पत्तिशील है, नाश शील है और ध्रौव्य शील भी है। " जैसे जल से भरे हुए विशाल कूप में यदि तेल की एक सूक्ष्म बूँद डाल दी जाय तो, वह पानी क प्रत्येक अश में पहुँच जाती है, वैसे ही आचार्य महाराज द्वारा सिखाया हुआ सक्षिप्त शब्द भी विस्तृत रूपमें परिणत होकर महान् ज्ञान का रूप धारण कर लेता है। उस समय में ऐसे ऐसे महाज्ञानी विद्यमान थे कि जिनके दृष्टिवाद नामक अगज्ञान के एक कोने में ही चौदह पूर्व का ज्ञान समाविष्ट हो सकता था इतने उत्कृष्ट ज्ञान के रसानद में उनकी अन्तरात्मा इतनी विलीन अथवा सलीन हो जाया करती थी कि छः छ मास तक उनका ध्यान नहीं टूटा करता था। एव इतने समय तक उन्हे भूख प्यास, शीत, उष्णता, आदि शारीरिक और प्राकृतिक पीडाएँ भी अनुभव मे नहीं आया करती थीं। ऐसी महती और प्रबल बुद्धि उनकी हुआ करती थी। ऐसी परिस्थिति में लिखने का कष्ट क्या उठाया जा सकता है?

चौथे आरे के समाप्त होने के बाद लगभग ९७८ वर्ष व्यतीत हो जाने पर "श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमा श्रमण" नामक आचार्य हुए। एक समय रोग विशेष को शान्ति के लिये वे सूठ का एक गाठिया लाये। कुछ समय बाद उसका उपयोग करने की दृष्टि से उन्होंने उस गाठिये को कान में रख लिया, किन्तु घटना ऐसी हुई कि वे आचार्य महाराज उस गाठिये को यथा समय पर खाना भूल गये और सायकाल को देवसिअ प्रतिक्रमण करते समय आज्ञा लेने के लिये ज्यों ही वदना प्रारम्भ की कि—वह गाठिया झट से कान में से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसे देखते ही उन्हे विचार उत्पन्न हुआ कि—आजकल भी जब कि एक पूर्व जितना ज्ञान उपलब्ध है, ऐसी स्थिति में भी बुद्धि इतनी मन्द हो गई है, तो आगे क्या दशा होगी? यदि ज्ञान सर्वस्वरूप से नष्ट हो जायगा तो घोर अन्धकार फैल जायगा। इसलिये यही मार्ग हितकर होगा कि अब ज्ञान का कागज पर लिखा जाना प्रारम्भ किया जाय। ऐसा लिखित ज्ञान भव्यजीवों के लिये भविष्य में महान् हितकर सिद्ध होगा। ऐसे ही विचारों की प्रेरणा से उन्होंने सक्षेप में आगमों का लिखना प्रारम्भ किया। 'सक्षेप" शब्द यों लिखना पड़ा कि आचाराग मे मूल रूप से *१८००० पद थे, जब कि आजकल केवल २५०० श्लोक जितनी ही रचना उपलब्ध हैं।

* गाथा—सोलससय चउतीसा, कोडी तियसीदि लक्खय चेव।
सत्त सहस्साट्ठसया, अट्ठासीदी य पदवण्णा ॥ ३३५ ॥ गोम्मटसार
अर्थ—१६३४८३०७८८८ अक्षर वाले शब्द को ही एक पद "आगम" मे कहा गया है।

इस प्रकार देवर्द्धि गणि क्षमा श्रमण के काल में दृष्टिवादांग को छोड़ कर के ग्यारह अंग आदि ७२ सूत्रों की संक्षेप में ही लिखावट हो सकी। जिनके नामों का उल्लेख श्री समवायांग और नन्दी सूत्रों में है। शेष सम्पूर्ण ज्ञान यहीं से अस्त हो गया।

आज कल वर्त्तमान इस पंचम आरे में तीर्थंकर केवली, गणधर, द्वादशांग के पाठी, और पूर्व धर आदि अपार ज्ञान के धारक कोई नहीं रहे। श्री उत्तराध्ययनजी के दशवें अध्ययन में कहा गया है कि —

न हु जिणे अज्ज दिस्सइ, बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए।
सपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम! मा पमायए॥ ३१॥

अर्थात्—अभी इस पंचम काल में तीर्थंकर भगवान नहीं दीखते हैं, किन्तु मोक्षमार्ग का उपदेश बताने वाले बहुमत सद्गुरु दिखलाई देते हैं। हे गौतम! उनके बतलाये न्याययुक्त पथ को प्राप्त करने में समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

इस प्रकार आज कल तो भव्य और मुमुक्षु जीवों के लिये केवल जिनोक्त शास्त्र और सद्बोध के कर्त्ता सद्गुरु मात्र ही आधार है। मोक्षार्थियों की इच्छा तृप्ति करने वाला केवल सत् शास्त्रीय ज्ञान मात्र ही है। यह ज्ञान सूत्रों में अथवा ग्रन्थों में सन्निहित है। इनका रहस्य गीतार्थ, बहुसूत्री, औत्पातिकी बुद्धिवाले और दीर्घ दृष्टि वालों के पास से प्राप्त किया जा सकता है।

जिन सत् पुरुषों ने अपने गुरुओं की सत्संगति में रह कर शास्त्रीय ज्ञान को यथाविधि से ग्रहण किया है, जो न्याय-मार्ग के पथिक होते हुए लौकिक और लोकोत्तर दृष्टि से शुद्ध प्रवृत्ति में प्रवृत्त हैं, जो क्षमा शील, संयमी, निरारंभ वाले, और निष्परिग्रही है, ऐसे ही महात्माओं के चरणों की सेवा करते हुए शास्त्रों का अभ्यास करते रहना चाहिये। शास्त्र समुद्र अतिगहन गूढार्थों से परिपूर्ण है। उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने पर ही आत्म-कल्याण की संभावना है।

आज कल कितने ही मूर्ख अभिमान-वश होकर बिना गुरुजनों की सहायता लिये ही साधारण कोटि की पुस्तकों का केवल वाचन करके अपने आपको पंडित मानने लगते हैं। ऐसे मूर्खों ने ही अनेक स्थानों पर

गाथा—अट्ठारस छत्तीस बादाल, अडकडी अडवि छप्पण्णं॥
सत्तरि अट्ठावीस चउदाल, सोलस सहस्सा॥ ३५७॥ गोम्मटसार
इगि दुग पंचेयार तिवीस दुतिणउ दिलक्ख तुरियादी।
चुलसीदि लक्खमेया कोडी य विवागसुत्तम्हि॥ ३५८॥ गोम्मटसार

अर्थ—पूर्व गाथा में वर्णित पद मर्यादा के अनुसार ऐसे पद बारह अंगों में इस प्रकार थे—आचारांग में अठारह हजार पद थे, सूयगडांग में छत्तीस हजार थे, ठाणांग में बियालीस हजार थे, समवायांग में एक लाख चौंसठ हजार पद थे, भगवतीजी में दो लाख अट्ठाइस हजार थे, ज्ञाताजी में पांच लाख छप्पन हजार थे, उपासक दशांगजी में ग्यारह लाख सत्तर हजार थे, अन्तगडांगजी में तेईस लाख अट्ठाइस हजार थे, अणुत्तरोववाई में बानवे लाख चवालीस हजार थे, प्रश्न व्याकरण में तिरानवे लाख सोलह हजार पद थे, और विपाक सूत्र में एक करोड़ चौरासी लाख पद थे, इस प्रकार ग्यारह अंगों के पदों की जोड चार करोड़ पन्द्रह लाख ०२ हजार पदों जितनी है। दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में एक अरब आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पांच पद थे, यह भी ध्यान में रहे कि यहां पर जो अक्षर तथा पदों का प्रमाण बताया है, वह अपुनरुक्त अक्षर तथा पदों का प्रमाण समझना। विशेष गोम्मटसार जीव कांड से जानना।

अर्थ का अनर्थ करते हुए शास्त्र को शस्त्र बना दिया है। जो अहिंसा मय परम धर्म अनन्त भवों के परिभ्रमण को मिटाने वाला है, जो परम पवित्र है, उसे ही हिंसा का रूप दे दिया है, और अनन्त भवों को बढ़ाने वाला बना दिया है। इसलिये कहना पड़ता है कि मुमुक्षुओं को सर्व प्रथम शास्त्र की विधि के अनुसार ज्ञान-दाता गुरु के गुणों की परीक्षा करनी चाहिये। तत्पश्चात उनके चरणों में रहते हुए विनय पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

श्री सूयगडांगजी सूत्र के ११ वें अध्ययन में धर्मोपदेशक के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं—

आयगुत्त सयादंते छिन्नसोए अणासवे। जे धम्मं सुद्धमक्खाइ, पडिपुण्णमणालिसं॥

अर्थात्—मन, वचन, और काया रूप आत्मा को पाप-मार्ग में जाने से जो रोकते हैं, जो अपनी वृत्तियों को वश में करने वाले हों, जो अपनी आत्मा को कुमार्ग में नहीं जाने देते हों जो सदैव पाँचों इन्द्रियों को और मन को विषयो से निवृत्त करके ध्यान की ओर लगाने वाले हैं। जिन्हों ने सांसारिक आरम्भ परिग्रह रूप प्रवाह को बन्द कर दिया है। जो मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग रूप पाँचों आस्रवो से रहित हैं। जिन्हों ने 'अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य, और निष्परिग्रहत्व" रूप पाँचो महाव्रतों को धारण किया है, और जो अन्य अनेक गुणो से युक्त हैं, वे ही 'सत्य, शुद्ध तथा तथ्य" रूप से श्री वीतराग प्रभु द्वारा उपदिष्ट धर्म का कथन कर सकते हैं। इनके कथन में ही 'देश व्रत धर्म, और सर्व व्रत धर्म" का परिपूर्णतया वर्णन पाया जा सकता है। जो कि अनुपमेय ही है। तदनुसार ऐसे गुणज्ञों की सेवा में रहते हुए ही ज्ञान सपादन करना चाहिए। व्यवहार में यह देखा जाता है कि दातार से अन्न, वस्त्र द्रव्य आदि ग्रहण करते समय लघुता प्रदर्शित की जाती है, एवं तालाव आदि से जल ग्रहण करते समय भी झुकना पड़ता है, ऐसी स्थिति में ज्ञान जैसे सर्व श्रेष्ठ पदार्थ को ग्रहण करने के लिये कितनी नम्रता चाहिये? इसी दृष्टि कोण से ज्ञान प्राप्त करने की विधि श्रीउत्तराध्ययनजी सूत्र के प्रथम अध्ययन में इस प्रकार फरमाई गई है—

आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सिज्जागओ कयाइ वि।
आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छेज्जा पंजलीउडो॥ २२॥
एवं विणयजुत्तस्स, सुत्तं अत्थं च तदुभयं।
पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरेज्ज जहासुयं॥ २३॥

अर्थात्—अपने आसन पर बैठा हुआ ही अथवा शय्या पर सोता हुआ ही प्रश्न आदि ज्ञान—विचारणा नहीं पूछे, क्योंकि ऐसा आसन अभिमान वाला है। अभिमान ज्ञान का शत्रु है। सोते सोते ही ज्ञान ग्रहण करने से अविनय और प्रमाद होता है। प्रमाद ज्ञान का नाशक है। अतएव जब प्रश्न पूछने की अथवा ज्ञान ग्रहण करने की इच्छा हो, तब आसन से उठकर अविनय, मान और प्रमाद का परित्याग करते हुए जहाँ गुरु महाराज विराजमान हों, उनके सम्मुख नम्रता पूर्वक उपस्थित होकर, दोनों घुटने पृथ्वी पर स्थापित करके, दोनों हाथ जोड़ करके, नम्रता प्रदर्शित करते हुए सम्मुख रहते हुए सन्मान गर्भित वचनों द्वारा प्रश्न अथवा शंका एवं सूत्रार्थ जिज्ञासा प्रदर्शित करे। 'क्या उत्तर प्राप्त होता है?" ऐसी उत्कंठा रखते हुए एकाग्रता पूर्वक उनके प्रति "जी, तहेत" (शुद्ध रूप तहेति) द्वारा उच्चारण करते हुए उसका समर्थन करे। जितना याद रह सके, उतना ही ग्रहण करे। अधिक याद नहीं रहने की स्थिति में एक ही साथ अधिक ज्ञान प्राप्ति का मोह नहीं रक्खे। इस प्रकार विनय पूर्वक पूछने से गुरु महाराज जो कुछ भी जानते हैं, उसे अपने विनीत शिष्य को यथा विधि प्रदान करने का प्रयत्न करेंगे।

द्वितीय पत्र-पृच्छना (पुच्छणा)

सद्गुरु की उपासना करके जो ज्ञान ग्रहण किया है, उसकी पुनरावृत्ति करते समय किसी प्रकार की शंका उत्पन्न हो जाय, किसी शब्द या अर्थ का विस्मरण हो जाय अथवा किसी के प्रश्न पूछने पर उत्तर न आवे, तब पूर्वोक्त विधि के अनुसार गुरु महाराज के सम्मुख आकर पृच्छा या पृच्छना की जाती है।

पृच्छना का अर्थ है प्रश्न करना या पूछना। विनीत शिष्य इस प्रकार प्रश्न करता है—'हे कृपालो ! आपने अनुग्रह करके मुझे अमुक वस्तु पढ़ाई थी। उसमें मुझे इस प्रकार का संशय उत्पन्न हुआ है। हे पूज्य ! मैं उसका निराकरण-निवारण करने का आपको कष्ट देता हूँ। इस कष्ट के लिए क्षमा कीजिए और मार्ग बतलाइए।'

इस प्रकार नम्रता भरे वाक्य कह कर अपने मन की शंका स्पष्ट रूप से गुरुजी के सामने प्रकाशित करे।

गुरु महाराज जो उत्तर दें, उसे एकाग्रतापूर्वक, उत्सुक भाव से सुने और 'जी, तहत्ति' इत्यादि कोमल और मीठे वचनो से वधाता हुए ग्रहण करे। जहाँ तक मन का पूरी तरह समाधान न हो जाय वहाँ तक तर्क उठा-उठा कर पूछता ही जाय, न लज्जा का अनुभव करे, न भयभीत हो, न घबरावे। * निश्चल चित्त से पूरा समाधान प्राप्त करके संदेहरहित होवे। पूछे हुए विषय को इतनी अच्छी तरह समझ ले कि कालान्तर में कोई वह बात उससे पूछे तो उसे पूरी तरह समझा सके।

तृतीय पत्र-परिवर्त्तना (परियट्टणा)

इस प्रकार अभ्यास करके निश्चित और निस्सन्देह किये ज्ञान की परियट्टणा करनी चाहिए, अर्थात उसे बार-बार फेरना चाहिए, पुनरावृत्ति करनी चाहिए। क्योंकि इस काल में बुद्धि इतनी तीव्र नहीं है कि जो एक बार पढ लिया, उसे फिर न फेरने पर भी वह विस्मृत न हो जाय। बार-बार फेरे विना उसमें भूल पड ही जाती है। बार-बार फेरने से और भी अनेक लाभ होते हैं। भगवान् ने श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में फर्माया है—

'परियट्टणाए वंजणाइं जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ।'

अर्थात् ज्ञान की बार-बार आवृत्ति करने से अक्षरानुसारिणी लब्धि उत्पन्न हो जाती है, जिसके प्रभाव से एक अक्षर या पद का अनुसरण करने से आगे पीछे के दूसरे अक्षरों और पदों का ज्ञान हो जाता है। इस लब्धि को प्राप्त करने वाला अपनी विना पढ़ी विद्या में से भी दूसरे के भूले हुए अक्षरों को बता सकता है।

सीखे हुए ज्ञान की आवृत्ति करे तो ऐसी न करे जैसे बच्चे 'गुणनी' किया करते हैं कि जो याद कर रक्खा है उसे तोते की तरह विना समझे बूझे बोल दिया ! मतलब कुछ समझ में न आया, ध्यान कहीं

* तर्क-वितर्क और शंका-प्रशंका करने से ज्ञानी जन नाराज नहीं होते, बल्कि प्रसन्न होते हैं और शान्ति से साथ समाधान करते हैं।

अन्यत्र रहा। आवृत्ति करते समय अणुप्पेहा (अनुप्रेक्षा) अर्थात उपयोग रखना चाहिए। मुख से जिन-जिन शब्दों को बोले, उनका अर्थ अपने मन में विचारता जाय। ऐसा करने से अनेक लाभ होते हैं। शास्त्र में कहा है.—

प्रश्न—अणुप्पेहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर—अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिल-बंधणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। आउयं च कम्मं सिया बन्धइ, सिया नो बन्धइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तं संसारकान्तारं खिप्पामेव वीइवयइ॥

—श्रीउत्तराध्ययन, अ २९,२२

अर्थात्—उपयोग के साथ ज्ञान को फेरने से या शब्द का अर्थ परमार्थदृष्टि से विचारने से जीव आठ कर्मों में से, आयुष्य कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों को, जो पहले निबिड (मजबूत) बंधे हों उन्हें शिथिल करता है, बहुत काल तक भोगने योग्य कर्मप्रकृतियाँ बाँधी हों तो थोड़े समय में भोगने योग्य बना लेता है। तीव्र फल देने वाली बाँधी हों तो मंद फल देने वाली बना लेता है। बहुत प्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्पप्रदेश वाली कर लेता है। आयु कर्म कदाचित् बाँधता है और कदाचित नहीं भी बाँधता है। असाता-वेदनीय (रोग और दुःख देने वाले) कर्म को बार-बार नहीं बाँधता है। और अनादि तथा कठिनाई से पार होने योग्य संसार रूपी कान्तार (जंगल) के लम्बे मार्ग को शीघ्र ही पार कर जाता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

श्री वर्द्धमान महावीर स्वामी ने अपने मुखारविन्द से अनुप्रेक्षा (चिन्तन-मनन) का कितने विस्तार से गुणानुवाद किया है। अनुप्रेक्षा की शक्ति इतनी उत्तम और महान है। ऐसा जान कर खूब उपयोग लगा कर बार-बार ज्ञान को फेरना चाहिए।

चतुर्थ-पत्र--धर्मकथा (धम्मकहा)

इस प्रकार बार-बार जो ज्ञान पक्का किया है, वह अन्तरात्मा में रम गया, उसका हूबहू रस परिणत हो गया। अब उसका दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए धर्मकथा करनी चाहिए। धर्मकथा का अर्थ है व्याख्यान करना। श्रीठाणांगसूत्र में धर्मकथा के चार भेद बतलाये हैं और फिर एक-एक भेद के चार-चार प्रभेद बतलाये हैं। अतएव धर्मकथा के सोलह भेद होते हैं। वह इस प्रकार हैं—

(१) आक्षेपिणी कथा—श्रोता को रागद्वेष और मोह आदि से हटाकर तत्त्व की ओर आकर्षित करने वाली कथा आक्षेपिणी कथा कहलाती है। यह कथा इस प्रकार से करना चाहिए कि श्रोता के मन में हूबहू चित्र अंकित हो जाय और उसका असर जल्दी खतम न हो जाय। तत्त्व हृदय में पक्का ठँस जाय, रुच जाय और पच जाय।

इस कथा के चार भेद हैं—(१) प्रथम साधु के धर्म का अर्थात् पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति, इस प्रकार १३ तरह के चारित्र आदि का कथन करना। जो साधु धर्म पालने में समर्थ न हों, उनके लिए श्रावक के बारह व्रत[१] आदि का उपदेश करना अथवा यथाशक्ति व्रत नियम आदि धारण करने

(१) त्रस जीव की हिंसा न करना और स्थावर जीवों की मर्यादा करना। (२) स्थूल असत्य न बोलना

की सूचना करना। (२) स्याद्वादशैली से निश्चयनय और व्यवहारनय के अनुसार प्रवृत्ति करने की रीति की प्ररूपणा करना। जैसे निश्चयनय के अनुसार ज्ञानादि रत्नत्रय की आराधना से और व्यवहारनय के अनुसार रजोहरण मुख वस्त्रिका आदि साधु के लिंग को धारण करके शुद्ध क्रिया करने से मोक्ष प्राप्त होता है। निश्चय के बिना व्यवहार और व्यवहार के बिना निश्चय की सिद्धि होना कठिन है। व्यवहार में शुद्ध प्रवृत्ति करके निश्चय की आराधना करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है। (३) श्रोताओं के सशय को निवारण करने के लिए अपने मन से ही प्रश्न उठा कर आप ही उनका समाधान करे जिससे इष्ट अर्थ की सिद्धि हो। प्रश्नों का उत्तर मार्मिक तथा प्रभावशाली शब्दों में देकर समाधान करे। (४) सब को रुचिकर, सरल और सत्य सद्बोध देवे किन्तु ऐसा उपदेश न करे जिससे पक्षपात या द्वेष बढे, आत्मश्लाघा हो या पर-निन्दा हो। पाप की निन्दा करे, पापी की नहीं।

(२) विक्षेपणी कथा—श्रोता को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लाने का उपदेश विक्षेपणी कथा कहलाता है। जो श्रद्धा से या चारित्र से चलित परिणाम वाला हो, उसे पुन सद्बोध देकर श्रद्धा और सयम में स्थिर करने के लिए या कुमार्ग में स्थित को सुमार्ग में लाने के लिए यह कथा की जाती है। इस कथा के भी चार भेद हैं—(१) मिथ्यात्वियों के परिचय से अथवा ग्रंथावलोकन से किसी की श्रद्धा भ्रष्ट हो गई हो तो उसे जैनमत का गहन और सूक्ष्म ज्ञान बतला कर, अन्यमतों के साथ तुलना करके, दोनों में प्रत्यक्ष फर्क बतलाना, जिससे उसकी बुद्धि तत्काल ठिकाने आ जाय। (२) एकान्त अन्य मत में ही किसी का मन लगा हो तो उसे उसी के मत के शास्त्रों में बतलाई हुई साधु की कठिन क्रिया तथा जैनमत से मिलती हुई बातें बतलाकर उससे पूछे कि इस प्रकार की क्रिया करने वाले जैन साधु हैं या दूसरे ? इस प्रकार सत्य दृष्टि से बताकर वीतराग धर्म में दृढ श्रद्धालु बनाना। (३) जब उनकी श्रद्धा जैनमत पर जम जाय, तब उनके हृदय के मिथ्यात्व को दूर करने के लिए, न्यायशास्त्रों का आश्रय लेकर खुल्लमखुल्ला मिथ्यात्व का स्वरूप बतलाना और उनके हृदय के शल्य का उद्धार करना। (४) जिनका हृदय निर्मल निश्शल्य हो चुका है उन्हें ऐसा उपदेश देकर दृढ श्रद्धालु बनाना कि जिससे फिर मिथ्यात्व का प्रवेश न हो सके। उन्हें सम्यक्त्व का विस्तार से यथातथ्य, रुचिजनक स्वरूप बताना तथा अनेक प्रश्नोत्तर करके ऐसा पक्का करना कि किसी के डिगाने पर भी वह डिग न सके।

(३) सवेगनी कथा—स अर्थात सीधा और अच्छा वेग उत्पन्न करने वाली अर्थात् श्रोता को वैराग्य की ओर बढाने वाली कथा सवेगनी कथा कहलाती है। इसके भी चार भेद हैं—(१) इस लोक सम्बन्धी जिन-जिन वस्तुओं पर सरागी जीवों का प्रेम है, उनकी अनित्यता और असारता आदि बतलाना जैसे-देखते-देखते वस्तुओं के स्वभाव में, स्वरूप में कैसा अन्तर पड जाता है। ताजा वस्तु और बासी वस्तु को देखने से मालूम होता है कि वस्तु का स्वभाव क्षणभगुर है, अर्थात पल-पल में पलटता रहता है। जो गुण और जो स्वाद गर्म वस्तु में था, वह ठढी होने पर नहीं रहा। इसी प्रकार इस शरीर को देखो। जन्म होने के बाद जवानी तक इसकी सुन्दरता में कैसी वृद्धि होती है। फिर वृद्धावस्था में कितनी हीनता आती जाती है और अन्त में तो नष्ट ही हो जाता है। जो इस शरीर का हाल है वही ससार की सब वस्तुओं का हाल समझना चाहिए। क्षण क्षण में नये नये पुद्गल पर्याय उत्पन्न होते है और पुराने नष्ट होते रहते हैं।

(३) बडी चोरी न करना (४) परस्त्री का त्याग करना (५) परिग्रह की मर्यादा करना (६) दिशा की मर्यादा करना (७) उपभोग परिभोग की मर्यादा करना (८) अनर्थदण्ड का त्याग करना (९) सामायिक करना (१०) देशावकाशिक व्रत धारण करना (११) पोषा करना (१२) मुनिराज आदि सुपात्र को यथायोग्य सयम में सहायक दान देना।

सब पदार्थों में एकदम ही बड़ा अन्तर नहीं पड़ता है, किन्तु पड़ते पड़ते ही पड़ता है, अन्त में वे पानी के बुलबुले के समान विनाश को प्राप्त होते हैं। पुद्गलों का ऐसा स्वभाव जानकर ममत्व का त्याग करना चाहिए फिर मनुष्य जन्म आदि सामग्री प्राप्त हुई है, उसकी अनित्यता बतलाकर उसके सदुपयोग का उपदेश देना चाहिए। जैसे चौरासी लाख ❀जीवयोनियों में अनन्त काल परिभ्रमण करते-करते, महान् पुण्य के उदय से समस्त भवभ्रमण का अन्त करने वाला मनुष्यजन्म शास्त्र श्रवण, शुद्ध-श्रद्धा और धर्म पालन आदि की सामग्री अत्यन्त कठिनाई से मिली है। जो मनुष्य इसे व्यर्थ गँवा देगा, उसे कितना पश्चात्ताप करना पड़ेगा? और यह सब सामग्री पाकर जो काम करना चाहिए, उसे जो कर लेगा उसे कैसा आनन्द प्राप्त होगा। इत्यादि कथन करके वैराग्य प्राप्ति करा कर धर्म में सलग्न करना।

(२) अल्पज्ञ जीव लालच में आकर धर्मवृद्धि करेंगे, ऐसा विचार कर देवों की ऋद्धि का भोगों का, वैक्रिय आदि शक्तियों का, दीर्घ आयु का, नीरोगता का तथा आहार आदि का वर्णन करना। जैसे जो विशेष और निर्दोष धर्म का आचरण करते हैं उनको उत्तमोत्तम सुख मिलते हैं और जो संसार के काम-भोगों में आसक्त रहते हैं, पापारम्भ करते हैं, वे नरक में जाकर दुःख भोगते हैं। इत्यादि कह कर नरक की क्षेत्रवेदना, परमाधामी जनित वेदना आदि का वर्णन करना। हे जीव! क्षणिक सुख के लिए क्यों सागरोपम तक दुःख भोगने का काम करता है। इत्यादि रूप से समझने से श्रोता पाप को छोड़ कर धर्म-मार्ग में उद्यमवान् होता है।

(३) 'न पेमरागा परमत्थि बन्धो' अर्थात् जगत् में प्रेमराग (स्नेह के पास) के समान और कोई बन्धन नहीं है। प्रेम के पाश में फँसे जीव अपने सुख दुःख और भले बुरे का विचार नहीं करते। अपने स्वजन मित्र आदि का पोषण करने के लिए अनेक आरम्भ करते हैं। किन्तु उनकी स्वार्थ परायणता को नहीं पहिचानते हैं। जब कुकुमपत्री देते हो तो कितना परिवार इकट्ठा होता है। परन्तु जब सकट पड़े तब स्वजनों की सहायता लेने के लिए 'सकटपत्री' लिखो तो कितने स्वजन आयेंगे?× अजी, आना तो दूर रहा, माल खाने वाले ही कहेंगे कि—क्या लड्डू बनाये बिना नाक जाती थी? इत्यादि कह कर उसका अपमान करते हैं। ऐसे स्वार्थियों का पालन पोषण करके, सिर पर पाप का भार लाद कर, नरक तिर्यंच गति में, अकेले ही अपने किये कर्मों का फल भोगा है। पाप में कोई भी हिस्सेदार नहीं बन सकता। इसी लोक में देख लीजिए। चोर को ही सजा मिलती है, चोरी का माल खाने वाले कुटुम्बियों को नहीं। ऐसा जानकर कर्म-बन्धन से डरना चाहिए, धर्म का आचरण करना चाहिए। जो ऐसा करता है वह सुखी होता है। इत्यादि समझाने से श्रोता का मोह कम होता है। वह धर्म में सलग्न होता है।

❀ णिच्चेदरधातुसत्तय, तरुदस वेइन्दियासु छच्चेव।
सुरणिरय तिरिय चउरो, चउदस मणुएसु सदसहस्सा॥

अर्थात्—नित्यनिगोद की ७ लाख, इतरनिगोद की ७ लाख, पृथ्वीकाय की ७ लाख, अप्काय की ७ लाख, अग्निकाय की ७ लाख, वायुकाय की ७ लाख, प्रत्येक वनस्पति की १० लाख, द्वीन्द्रिय की २ लाख, त्रीन्द्रिय की २ लाख, चतुरिन्द्रिय की २ लाख, नारकों की ४ लाख, तिर्यंच पंचेन्द्रिय की ४ लाख और मनुष्य की १४ लाख, यह ८४ लाख जीवयोनियाँ हैं।

× एक मराठी कवि ने कहा है—

सम्पदा बहु आलीयावरी, सोयरे जमा होती त्या घरी।
गेलीयास ती रुष्ट होउनी बन्धु सोयरे जाती सोडूनी॥

(४) कुटुम्ब पर से ममत्व कम होने के बाद सर्व पुद्गलों पर से ममत्व कम करने का बोध दे। जैसे यह जीव अनादिकाल से मोह मदिरा के नशे में बेसुध होकर अपने निज स्वरूप को भूल कर, पर पुद्गलों को त्रियोग से रमणीय समझ कर सेवन कर रहे हैं। ये यह नहीं सोचते कि पराये अपने कब होंगे!* इस ससार व्यवहार मे अभी जो एक बार धोखा देता है, चतुर मनुष्य दूसरी बार उसकी छाया में भी खड़ा नहीं रहता है। परन्तु इन पुद्गलों ने तो अनन्त-अनन्त वार अपने को धोखा दिया है! कभी शुभ इष्ट सयोग हुआ तो हँसा दिया, कभी अनिष्ट सयोग हुआ तो रुला दिया। कभी नौ ग्रैवेयकतक ऊँचा चढाया और कभी सातवें नरक के नीचे निगोद में लेजाकर दवा दिया। कभी सब के लिए मनोज्ञ बनाया तो कभी विष्ठा के समान सबकी घृणा का पात्र बनाया। ऐसा बना दिया कि सब थूकने लगे। इन पुद्गलों ने अनत वार ऐसी अनन्त विडम्बनाएँ की हैं। आगे भी जब तक इनका ससर्ग नहीं छूटेगा, तब तक ये अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ेंगे। फिर इनकी सगति में पड़ कर कौन मूर्ख बने! कौन अपनी फजीहत करावे। ऐसा समझ कर अपनी आत्मा का सुख चाहो तो पुद्गलों के ममत्व को त्यागो। सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र, यह रत्नत्रय हैं। इनके स्वभाव में कभी फर्क नहीं पड़ता है। आत्मा के गुण स्थिर स्वभाव वाले हैं। इनको पहचान कर अखण्ड प्रीति धारण करो जिससे आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप होकर अनन्त अक्षय अव्याबाध सुख का भोक्ता बने।

इस प्रकार का बोध देकर श्रोताओं का मन मोक्ष की ओर खींचना सवेगनी कथा कहलाती है।

(४) निर्वेदनी कथा—ससार से उदासीन बनाने वाली कथा निर्वेदनी कथा कहलाती है। सवेगनी कथा में ससार का यथार्थ स्वरूप दर्शाया था। और निर्वेदनी में ससार से निवृत्त होने की प्रेरणा की जाती है। इनके भी चार भेद हैं—

(१) ससार में भ्रमण कराने वाले कर्म ही हैं। कभी कभी इस भव में किये कर्म इसी भव में भोगने पड़ते हैं। जैसे-हिंसा से शूली पर चढ़ना पड़ता है, झूठ बोलने से अप्रतीति का भाजन बनना पड़ता है कारागार का दण्ड सहना पड़ता है, चोरी करने से कैद, खोड़ा, हथकड़ी बेड़ी आदि फल भोगने पड़ते हैं, व्यभिचार करने से बदनामी होती है, गर्मी, सुजाक आदि भयानक और घृणित रोगों का शिकार बन कर सड़ सड़ कर मरना पड़ता है आदि आदि।

जगत् के जीव जितने भी कर्म करते हैं, सुख के लिए ही करते हैं। परन्तु सुखी बहुत थोड़े ही दीखते हैं। इससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि जिस उपाय से सुख होता है, उसे जीव नहीं समझते हैं और दु:ख का उपाय करके सुख चाहते हैं। फिर उन्हें सुख की प्राप्ति हो तो कैसे हो? अग्नि से शीतलता कदापि नहीं मिल सकती। इसी प्रकार लोग धन से सुख चाहते हैं मगर धन में सुख कहाँ है? जरा विचार

---

* दो भाइयों का आपस में बहुत प्रेम था। एक को नेरू (बाले) का रोग हुआ। दूसरे ने जमींकन्द और हरितकाय का आरम्भ करके औषधोपचार किया। वह मर कर नरक में नारक हुआ। दूसरा भाई, जो रोगी था, रोग का अकाम कष्ट सहन करके परमाधामी देव हुआ। वह नरक म अपने भाइ को मारने लगा। बोला—तूने मेरे प्रेम के वशीभूत होकर जमीकन्द का बहुत आरम्भ किया है। ले उसका फल भोग।

नारक ने कहा—मैंने तो तेरे लिए ही पाप किया था और तू ही मुझे मारता है। यह कैसा अन्याय है?

परमाधामी ने कहा—हम न्याय अन्याय कुछ नहीं जानते। तेरे किये कर्म तुझे ही भोगने पड़ेंगे। "जो करेगा सो पावेगा।"

कीजिए * धन उपार्जन करते (कमाते) समय शीत, ताप, क्षुधा, तृषा आदि अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। ज्यों-ज्यों धन बढता जाता है, त्यों-त्यों तृष्णा भी अधिक बढ़ती जाती है। और 'तृष्णायां परम दुःखम्' अर्थात् तृष्णा ही सब से बड़ा दुःख है। धन की वृद्धि हुई तो उसकी रक्षा करने की चिन्ता लग जाती है।

कहीं मेरा धन राजा, चोर, अग्नि पानी, पृथ्वी, कुटुम्बी और देवता आदि के निमित्त से नष्ट न हो जाय! व्यय (खर्च) हो जाय और रोकड़ में एक पाई भी घट जाय तो सेठजी को चैन नहीं पड़ता! फिर सब का सब नष्ट हो जाय तब तो कहना ही क्या है? इत्यादि विचार करने से दुःख का ही साधन दिखाई पड़ता है।

कितनेक लोग स्त्री में सुख मानते हैं। परन्तु इस काल में पूर्ण पतिव्रता स्त्री मिलना बड़ा कठिन है। हाँ, कुभार्या अनेक मिलती हैं। वे उत्तम जाति की होकर भी पति का अपमान करती हैं। पति के सन्मुख अनाचार करती हैं। पति को अपने हुक्म में चलाती हैं। इतने पर भी दूसरे के घर में चली जाती हैं और पति के नाम को तथ कुल को बट्टा लगाती हैं। क्या ऐसी ही स्त्रियों में सुख समझते हो?

कुछ लोग पुत्र से सुख मानते हैं। पुत्र के लिए सम्यक्त्वरत्न में भी बट्टा लगा कर कुदेवों के तथा ढेड़-चमारों के पाँवों में पड़ते हैं और धर्मभ्रष्ट होते हैं। कदाचित पुत्र मिल भी गया तो इस काल में सपूत मिलना मुश्किल है। हाँ, कपूत बहुत दिखाई देते हैं जो अपने वृद्ध माता-पिता पर वचनों और लाठियों के प्रहार करते हैं। घर पर और धन पर अपना अधिकार करके अदालत के दर्वाजे खटखटाते हैं और झगड़ा करके फजीहत करते हैं! इस प्रकार पुत्र का सुख तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

कहाँ तक कहा जाय? 'संसारम्मि दुक्खपउराए' अर्थात् इस संसार में दुःखों की ही प्रचुरता है—सारा संसार दुःखों से परिपूर्ण है। इस प्रकार पाप के फल बताना पहली संवेगिनी कथा है।

(२) अब पुण्य के फल देखिए। जो किसीको दुःख नहीं देते हैं, वे हमेशा निश्चिन्त होकर आराम करते हैं। समय पड़ने पर सब मिल कर उनकी सहायता करते हैं। जो असत्य भाषण नहीं करते, उनकी पंचायत में तथा राजसभा में इज्जत होती है। चोरी न करने वाले बड़े विश्वासपात्र गिने जाते हैं। धन के भंडार में जाएँ तो भी उन्हें कोई नहीं रोकता है। जो ब्रह्मचारी होते हैं, उनका तेज, बल, बुद्धि नीरोगता अनुपम होती है। जो ममता और तृष्णा से रहित हैं वे सदा सुखी हैं। 'सन्तोषो नन्दन वनम्' अर्थात् सन्तोष नन्दन-वन के समान सुखदाता है। देखिए न, साधुजी धन के बिना ही बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं के पूज्य होते हैं। निश्चिन्त होकर सम्यग्ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा में रमण करते हैं। सीधे अन्न और वस्त्र से शरीर-निर्वाह करते हैं। सदा आनन्द में रहते हैं। शुभ कृत्यों का यह फल इसी भव में प्रत्यक्ष दीख पड़ता है।

(३) कितने कर्म ऐसे हैं जो इस भव में बाँधे जाते हैं, किन्तु उनका फल आगे चल कर मिलता है। यहाँ कितने ही जन पाप कर्म करते हुए भी सुखी दिखाई देते हैं। वह सुख उनके इन पाप कर्मों का नहीं है, पूर्वोपार्जित शुभ कृत्यों का समझना चाहिए। वर्त्तमान कालीन पाप कृत्यों के फल उन्हें भविष्य

* अर्थस्योपार्जने दुःखं समर्जितस्यापि रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

धन का उपार्जन करने में दुःख उपार्जन करके रक्षा करने में दुःख नाश होने में दुःख और व्यय करने में भी दुःख! इस दुःखदायी द्रव्य को धिक्कार है।

में भोगने पड़ेंगे। उदाहरण के रूप में समझिए कि पहले पकवान खाये जाएँ और बाद में कांदा (प्याज) खाया जाय तो खाने वाले को पहले पकवान की डकार आएगी, फिर कांदे की।

एक आदमी पालकी में बैठता है और चार पालकी उठाकर चलते हैं। पालकी मे बैठने वाला उतर कर गद्दी पर लेटता है और पालकी ढोने वाले उसके पाँव दबाते हैं। यह पाँचों मनुष्य प्रकट रूप में एक सरीखे हैं, फिर भी पुण्य-पाप के फल भोग रहे हैं। अगर कर्म का उदय बदल जाय तो पालकी उठाने वाले उसमें सवार हों और सवार होने वालों को पालकी उठानी पड़े। पाप-पुण्य की यह विचित्र रचना है। पाप पुण्य के फल कभी परभव के इस भव में, कभी इस भव के इसी भव में और कभी इस भव के परभव में और कभी परभव के परभव में भोगे जाते हैं।

(४) कितनेक कर्म ऐसे हैं कि इस भव में शुभ कृत्य करके उपार्जन किये गये हैं, किन्तु उनका फल आगामी जन्म में मिलेगा। किसी धर्मात्मा पुरुष को दुःख में देखते हैं तो लोग शका करते हैं कि धर्म करने से यदि सुख होता है तो यह दुखी क्यों है ? किन्तु इस प्रकार धर्म के फल में शका करने का कोई कारण नहीं है। प्रत्यक्ष देखिए, अभी कोई औषध ली जाती है तो लेते ही गुण नहीं करती है, किन्तु अपनी अवधि पर पथ्य का पालन करने से गुणकर्त्ता होती है। जब तक पहले के विकार का क्षय नहीं होगा, तब तक उस औषध का गुण दिखलाई नहीं देगा।

इसी प्रकार जब तक पहले के अशुभ कर्मों का बल कम नहीं होगा, तब तक धर्मक्रिया का फल दिखलाई देना कठिन है। परन्तु इतना तो निश्चय समझिए कि—

करणी तणा फल जाणज्यो, कदिय न निष्फल होय।

जो जीव जन्मते ही सुखी दृष्टिगोचर होते हैं, वे पूर्वोपार्जित पुण्य का ही फल भोग रहे हैं। इसी तरह यहाँ की करणी आगे फल देगी।

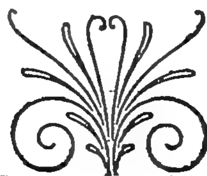
निर्वेदनी कथा का मुख्य हेतु यह है कि—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—कृत कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, चाहे वह फल इस जन्म में या आगामी में भोगा जाय। ऐसा समझकर कर्मबंध से बचने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए।

वाचना, पृच्छना और परिवर्त्तना करके जो ज्ञान पक्का किया है, उसका लाभ यह चार प्रकार की धर्मकथा करके दूसरों को भी देना चाहिए।

धर्मध्यान के यह चार आवलम्बन आधार कहे हैं। धर्मध्यानी को इन चारों कामों में मन को रमण कराना चाहिए और इन्द्रियों को विकार-मार्ग से हटा कर अच्छी तरह आतमसाधन करके इष्ट अर्थ की सिद्धि करनी चाहिए।



कीजिए * धन उपार्जन करते (कमाते) समय शीत, ताप, क्षुधा, तृषा आदि अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। ज्यों-ज्यों धन बढ़ता जाता हैं, त्यों-त्यों तृष्णा भी अधिक बढ़ती जाती है। और 'तृष्णायां परम दुःखम्' अर्थात् तृष्णा ही सब से बड़ा दुःख है। धन की वृद्धि हुई तो उसकी रक्षा करने की चिन्ता लग जाती है।

कहीं मेरा धन राजा, चोर, अग्नि पानी, पृथ्वी, कुटुम्बी और देवता आदि के निमित्त से नष्ट न हो जाय! व्यय (खर्च) हो जाय और रोकड़ में एक पाई भी घट जाय तो सेठजी को चैन नहीं पड़ता। फिर सब का सब नष्ट हो जाय तब तो कहना ही क्या है? इत्यादि विचार करने से दुःख का ही साधन दिखाई पड़ता है।

कितनेक लोग स्त्री में सुख मानते हैं। परन्तु इस काल में पूर्ण पतिव्रता स्त्री मिलना बड़ा कठिन है। हाँ, कुभार्या अनेक मिलती हैं। वे उत्तम जाति की होकर भी पति का अपमान करती हैं। पति के सन्मुख अनाचार करती हैं। पति को अपने हुक्म में चलाती हैं। इतने पर भी दूसरे के घर में चली जाती हैं और पति के नाम को तथ कुल को बट्टा लगाती हैं। क्या ऐसी ही स्त्रियों में सुख समझते हो?

कुछ लोग पुत्र से सुख मानते हैं। पुत्र के लिए सम्यक्त्वरत्न में भी बट्टा लगा कर कुदेवों के तथा ढेड़-चमारों के पाँवों में पड़ते हैं और धर्मभ्रष्ट होते हैं। कदाचित पुत्र मिल भी गया तो इस काल में सपूत मिलना मुश्किल है। हाँ, कपूत बहुत दिखाई देते हैं जो अपने वृद्ध माता-पिता पर वचनों और लाठियों के प्रहार करते हैं। घर पर और धन पर अपना अधिकार करके अदालत के दर्वाजे खटखटाते हैं और झगड़ा करके फजीहत करते हैं। इस प्रकार पुत्र का सुख तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

कहाँ तक कहा जाय? 'संसारम्मि दुक्खपउराए' अर्थात् इस संसार में दुःखों की ही प्रचुरता है— सारा संसार दुःखों से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार पाप के फल बताना पहली सवेगिनी कथा है।

(२) अब पुण्य के फल देखिए। जो किसीको दुःख नहीं देते हैं, वे हमेशा निश्चिन्त होकर आराम करते हैं। समय पड़ने पर सब मिल कर उनकी सहायता करते हैं। जो असत्य भाषण नहीं करते, उनकी पचायत में तथा राजसभा में इज्जत होती है। चोरी न करने वाले बड़े विश्वासपात्र गिने जाते हैं। धन के भंडार में जाएँ तो भी उन्हें कोई नहीं रोकता है। जो ब्रह्मचारी होते हैं, उनका तेज, बल, बुद्धि नीरोगता अनुपम होती है। जो ममता और तृष्णा से रहित हैं वे सदा सुखी हैं। 'सन्तोषा नन्दन वनम्' अर्थात सन्तोष नन्दन-वन के समान सुखदाता है। देखिए न, साधुजी धन के बिना ही बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं के पूज्य होते हैं। निश्चिन्त होकर सम्यग्ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा में रमण करते हैं। सीधे अन्न और वस्त्र से शरीर-निर्वाह करते हैं। सदा आनन्द में रहते हैं। शुभ कृत्यों का यह फल इसी भव में प्रत्यक्ष दीख पड़ता है।

(३) कितने कर्म ऐसे हैं जो इस भव में बाँधे जाते हैं, किन्तु उनका फल आगे चल कर मिलता है। यहाँ कितने ही जन पाप कर्म करते हुए भी सुखी दिखाई देते हैं। वह सुख उनके इन पाप कर्मों का नहीं है, पूर्वोपार्जित शुभ कृत्यों का समझना चाहिए। वर्तमान कालीन पाप कृत्यों के फल उन्हें भविष्य

---

* अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्यापि रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

धन का उपार्जन करने में दुःख उपार्जन करके रक्षा करने में दुःख नाश होने में दुःख और व्यय करने में भी दुःख! इस दुःखदायी द्रव्य को धिक्कार है।

घटिका (घड़ी) मोह-निद्रा में प्रस्त जीवों को ' फट-फट ' शब्द करके मानों यह चेतावनी दे रही है कि—तुम एक बजा दो बजे, आदि क्या कहते हो ? जैसे फटने से वस्तु में कमी होती है इसी प्रकार घटी-घटी (घड़ी-घड़ी) करके समस्त वस्तुओं का आयुष्य कम हो रहा है। सम्पूर्ण आयुष्य क्षय होने पर वस्तु का नाश हो जाता है। अर्थात् पहले के परमाणु विखर कर (अलग-अलग होकर) रूपान्तर प्राप्त करते हैं। भिन्न स्वभाव के बन जाते हैं।

यह अवस्था देखकर जीव विभावपरिणति के वशीभूत होते हैं। कहते हैं—हाय, मेरा अमुक नष्ट हो गया, अमुक मर गया ! यह मेरा नहीं है। हाय हाय ! यह कैसे हो गया।

ऐसे अवसर पर ज्ञानी जन चेतावनी देते हैं—हे चेतन ! इस जगत् की दशा देख कर चेतो। तुम दूसरों के लिए हाय-हाय करते हो, परन्तु तनिक अपनी ओर तो देखो। अपनी स्थिति का तो विचार करो। गत काल की सब घटिकाएँ व्यतीत हो गईं और उन्होंने तुम्हारी काया तथा संपत्ति का रूपान्तर कर दिया। रम्य को अरम्य और अरम्य को रम्य बना दिया। अब जो घटिकाएँ शेष रह गई हैं, वे जब पूर्ण होंगी तो तुम्हारी शरीर-सम्पत्ति का क्षय हो जायगा। फिर तुम कोटि-कोटि उपाय करोगे और बीती हुई घटिकाओं को बुलाना चाहोगे तो वे नहीं आने की ! + पश्चात्ताप करोगे तो भी कुछ नहीं होने का। ऐसा जान कर हे हितार्थी ! जो आयु शेष रही है उसे व्यर्थ मत गँवा। चिन्तामणि रत्न के समान इन घड़ियों को कर्मोपार्जन में व्यय मत करो। इस क्षण भंगुर संसार में प्राप्त हुए क्षणविनश्वर जीवन को पाकर जो आत्म-सुधार करना है सो कर ले और इस अमूल्य अवसर को सार्थक कर ले।

अगर तुम शरीर को नित्य समझते हो तो यह भी नित्य नहीं है। क्षण-क्षण में इसके स्वभाव में तथा रूप आदि गुणों में अन्तर पड़ रहा है। यह प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से सिद्ध है। देखिए, जीव जब पहले पहल मनुष्य पर्याय रूप में आता है, तब माता के रज और पिता के वीर्य का आहार करके माड़ (चावलों के धोवन) के समान शरीर को प्राप्त करता है। फिर काल के स्वभाव के अनुसार फर्क पड़ते-पड़ते उन पुद्गलों में कुछ कठिनता आती है तो वे रेंट (नाक के मैल), बेर और आम के रूप में परिणत हो जाते हैं। तत्पश्चात् अंगोपांगों के अंकुर फूटते हैं और इन्द्रियों के छिद्र पड़ जाते हैं। बाल आदि आ जाते हैं तब सम्पूर्ण शरीर के अवयवों का निर्माण होता है। जन्म के समय पुण्योदय हुआ तो *सीधा पड़ कर बाहर आता है। फिर अज्ञान और असमर्थ अवस्था में पराधीनता के अनेक कष्ट सहन करके ज्ञानावस्था में, विद्याभ्यास में तरुण अवस्था प्राप्त होने पर विषयभोग की सामग्रियाँ प्राप्त करने में, तरुणियों का प्यारा बनने में, तथा कुटुम्ब का भरण-पोषण करने में लगा रहता है।

वृद्धावस्था प्राप्त हुई तो काया-नगरी ऊजड़ होने लगती है। शरीर थर-थर काँपने लगता है। कानों से कम सुनाई देता है, आँखों का तेज घट जाता है, नाक झरने लगती है, दन्तावली गिर जाने से मुख पोपला हो जाता है जीभ लड़खड़ाने लगती है, स्वर मंद पड़ जाता है, जठराग्नि काम नहीं करती, पाचनशक्ति घट जाती है इस कारण अनेक व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, कमर झुक जाती है, टांगे थक जाती हैं और पैर

+ जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥

अर्थ—जो समय बीत रहा है, वह वापिस लौट कर नहीं आता। अधर्म का आचरण करने वाले का समय निष्फल होता है।

* कितनेक जीव गर्भ में आडे हो जाते हैं तो कट-कट कर निकाले जाते हैं।

चतुर्थ प्रतिशाखा

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—(१) अणिच्चाणुप्पेहा (२) असरणाणुप्पेहा (३) एगत्ताणुप्पेहा (४) संसाराणुप्पेहा।

अर्थ—भगवान ने धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) फरमाई हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अनित्यानुप्रेक्षा (२) अशरणानुप्रेक्षा (३) एकत्वानुप्रेक्षा (४) संसारानुप्रेक्षा।

धर्मध्यान करने वाले महात्मा उपयोग-युक्त होकर इन चार भावनाओं का वार-वार चिन्तन करते हैं।

प्रथम पत्र—अनित्यानुप्रेक्षा

धर्मास्तिकाय आदि षट् द्रव्यमय यह लोक द्रव्यदृष्टि से शाश्वत है। छहों द्रव्य अपने-अपने गुणों में तथा स्वरूप में नित्य हैं, परन्तु इनकी स्वभाव और विभाव रूप पर्याय (अवस्थाएँ) उत्पन्न होती हैं और विनाश को भी प्राप्त होती रहती हैं। अतएव पर्यायें अनित्य हैं। बहुत से संसारी जीवों को वस्तु के स्वरूप का किंचित् भी ज्ञान न होने से और पर्याय का परिवर्त्तन प्रत्यक्ष दिखलाई देने से, वे पर्यायों पर नित्यानित्य बुद्धि धारण कर लेते हैं। उनके प्रति ममत्व करके राग-द्वेष को प्राप्त होते हैं। इस बुद्धि की शुद्धि करने के लिए यहाँ खुलकर स्पष्टता से विचार करते हैं।

नाम	धर्मास्तिकाय	अधर्मास्तिकाय	आकाशास्तिकाय	काल	जीवास्तिकाय	पुद्‌गलास्तिकाय
द्रव्य से	एक असख्य प्रदेशी	एक असख्य प्रदेशी	एक अनन्त प्रदेशी	अनन्त असख्य प्रदेशी	अनन्त असख्य प्रदेशी	अनन्त अनन्त प्रदेशी
क्षेत्र से	लोक प्रमाण	लोक प्रमाण	लोकालोक प्रमाण	अढाई द्वीप प्र०	लोक प्र०	लोक प्रमाण
काल से	अनादि अनन्त	अनादि अनन्त	अनादि अनन्त	अनादि अनन्त	अनादि अनन्त	अनादि अनन्त
भाव से	अरूपी	अरूपी	अरूपी	अरूपी	अरूपी	रूपी
गुण से	अचेतन, अक्रिय, गति सहायक	अचेतन, अक्रिय, स्थिति सहायक	अचेतन, अक्रिय, अवगाहनादाता	अचेतन, अक्रिय, वर्त्तनादि सहायक	चेतना ज्ञान, दर्शन आदि	सक्रिय, पूरण, गलन

घटिका (घड़ी) मोह-निद्रा में प्रसुप्त जीवों को 'कट-कट' शब्द करके मानो यह चेतावनी दे रही है कि—तुम एक बजा दो बजे, आदि क्या कहते हो? जैसे कटने से वस्तु में कमी होती है इसी प्रकार घटी-घटी (घड़ी-घड़ी) करके समस्त वस्तुओं का आयुष्य कम हो रहा है। सम्पूर्ण आयुष्य क्षय होने पर वस्तु का नाश हो जाता है। अर्थात् पहले के परमाणु बिखर कर (अलग-अलग होकर) रूपान्तर प्राप्त करते हैं। भिन्न स्वभाव के बन जाते हैं।

यह अवस्था देखकर जीव विभावपरिणति के वशीभूत होते हैं। कहते हैं—हाय, मेरा अमुक नष्ट हो गया, अमुक मर गया! यह मेरा नहीं है। हाय हाय! यह कैसे हो गया।

ऐसे अवसर पर ज्ञानी जन चेतावनी देते हैं—हे चेतन! इस जगत् की दशा देख कर चेतो। तुम दूसरों के लिए हाय-हाय करते हो, परन्तु तनिक अपनी ओर तो देखो। अपनी स्थिति का तो विचार करो। गत काल की सब घटिकाएँ व्यतीत हो गईं और उन्होंने तुम्हारी काया तथा सम्पत्ति का रूपान्तर कर दिया। रम्य को अरम्य और अरम्य को रम्य बना दिया। अब जो घटिकाएँ शेष रह गई हैं, वे जब पूर्ण होंगी तो तुम्हारी शरीर-सम्पत्ति का क्षय हो जायगा। फिर तुम कोटि-कोटि उपाय करोगे और बीती हुई घटिकाओं को बुलाना चाहोगे तो वे नहीं आने की! +पश्चात्ताप करोगे तो भी कुछ नहीं होने का। ऐसा जान कर हे हितार्थी! जो आयु शेष रही है उसे व्यर्थ मत गँवा। चिन्तामणि रत्न के समान इन घड़ियों को कर्मोपार्जन में व्यय मत करो। इस क्षण भंगुर संसार में प्राप्त हुए क्षणविनश्वर जीवन को पाकर जो आत्म-सुधार करना है सो कर ले और इस अमूल्य अवसर को सार्थक कर ले।

अगर तुम शरीर को नित्य समझते हो तो यह भी नित्य नहीं है। क्षण-क्षण में इसके स्वभाव में तथा रूप आदि गुणों में अन्तर पड़ रहा है। यह प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से सिद्ध है। देखिए, जीव जब पहले पहल मनुष्य पर्याय रूप में आता है, तब माता के रज और पिता के वीर्य का आहार करके मांड़ (चावलों के धोवन) के समान शरीर को प्राप्त करता है। फिर काल के स्वभाव के अनुसार फर्क पड़ते-पड़ते उन पुद्गलों में कुछ कठिनता आती है तो वे रेंट (नाक के मैल), बेर और आम के रूप में परिणत हो जाते हैं। तत्पश्चात् अंगोपांगों के अंकुर फूटते हैं और इन्द्रियों के छिद्र पड़ जाते हैं। बाल आदि आ जाते हैं तब सम्पूर्ण शरीर के अवयवों का निर्माण होता है। जन्म के समय पुण्योदय हुआ तो ❀सीधा पड़ कर बाहर आता है। फिर अज्ञान और असमर्थ अवस्था में पराधीनता के अनेक कष्ट सहन करके ज्ञानावस्था में, विद्याभ्यास में तरुण अवस्था प्राप्त होने पर विषयभोग की सामग्रियाँ प्राप्त करने में, तरुणियों का प्यारा बनने में, तथा कुटुम्ब का भरण-पोषण करने में लगा रहता है।

वृद्धावस्था प्राप्त हुई तो काया-नगरी ऊजड़ होने लगती है। शरीर थर-थर काँपने लगता है। कानों से कम सुनाई देता है, आँखों का तेज घट जाता है, नाक झरने लगती है, दन्तावली गिर जाने से मुख पोपला हो जाता है जीभ लड़खड़ाने लगती है, स्वर मंद पड़ जाता है, जठराग्नि काम नहीं करती, पाचनशक्ति घट जाती है इस कारण अनेक व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, कमर झुक जाती है, टांगे थक जाती हैं और पैर

\+ जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥

अर्थ—जो समय बीत रहा है, वह वापिस लौट कर नहीं आता। अधर्म का आचरण करने वाले का समय निष्फल होता है।

❀ कितनेक जीव गर्भ में आड़े हो जाते हैं तो कट-कट कर निकाले जाते हैं।

काँपने लगते हैं। इस प्रकार शरीर की शक्ति हीन और निकम्मी हो जाने पर जिनको प्यारे लगते थे, उन्हीं को खारे (कटुक) लगने लगे। *

और अन्त में ? एक दिन वह आया कि सारी आयु क्षीण हो गई तो सब स्वजनों ने मिल कर उसी शरीर को चिता में जला कर भस्म कर दिया ! सारा खेल खत्म हो गया।

यही इस शरीर की कहानी है। स्पष्ट है कि यह शरीर क्षण-क्षण में अपनी दशाएँ पलटता रहता है, निरन्तर नये-नये रूप धारण करता रहता है। बाल्यावस्था को तरुणावस्था निगल जाती है और तरुणावस्था को बुढ़ापा निगल जाता है। अन्त में मौत आकर वृद्धावस्था को भी डकार जाती है। इस तरह मच्छ गलागल लग रही है।

हाँ यह न समझिए कि बाल्यावस्था से तरुणावस्था और तरुणावस्था से वृद्धावस्था अवश्य आएगी। यह भरोसा नहीं है। काल को 'समदर्शी' कहते हैं। उसे बालक, युवा या वृद्ध का कुछ भी विचार नहीं है। सब उसके लिए समान हैं। वह किसी को भी और कभी भी निगल सकता है।

चन्द्र और सूर्य काल की चक्की को चला रहे हैं। जैसे चक्की के दो पाट होते हैं, वैसे ही काल-चक्की के भी दो पाट हैं। इसका भूतकाल रूप एक पाट तो स्थिर है और भविष्यकाल रूप पट चलायमान रहता है। जो आयु रूपी कील से सट कर स्थित हैं, वे बचे हैं। खूंटा छूटा कि आटा बना ! अपने देखते-देखते बहुतों का आटा बन गया, जो बाकी बचे हैं उनका भी एक दिन होने वाला है।

देह की यह दशा देख करके भी जो इसे नित्य जान कर मोह में आसक्त हो रहे हैं, उनकी बुद्धि पर आश्चर्य होता है।

इस शरीर का नाम 'औदारिक' है। इसके दो अर्थ किये जाते हैं—(१) उदार अर्थात् प्रधान और (२) उदार-उधार अर्थात माँग कर लिया हुआ। जैसे करियावर करने के लिए पचायती जगह पचों से माँग कर उदार-उधार ली जाती है। उसे सिंगार कर, सजा कर जो कृत्य करना होता है, वह कर लिया जाता है। फिर उस जगह को छोड़ने में पश्चात्ताप नहीं होता है। और यदि करियावर करने से पहले, अवधि पूरी होने पर, पचों के सिपाही मकान खाली करवा लेते हैं तो रोना पड़ता है कि हाय, कुछ भी इसका उपयोग न कर पाया !

इसी प्रकार यह शरीर (पचभूतवादी के कथनानुसार) पृथिवी आदि पंचभूतों का बना है। यह शरीर रूप बाड़ा कियावर (अच्छी क्रिया-धर्मकरनी) करने को मिला है। इसे पाकर जो धर्म क्रिया कर लेते हैं, उन्हें मरते समय पश्चात्ताप नहीं होता है। जिन्होंने धर्म क्रिया नहीं की है, उनके शरीर को जब काल छुड़ाएगा तो उन्हें पश्चात्ताप के साथ छोड़ना पड़ेगा।

ऐसा जानकर इस क्षणभङ्गुर शरीर से जितना धर्माचरण हो सके, शीघ्र कर लीजिए, जिससे कि इसे छोड़ते समय पश्चात्ताप न करना पड़े।

---

* छप्पय— मनुष्य तणो अवतार वर्ष चालीसे मीठो,
कड़वो होय पचास साठे ओष पईठो।
सत्तर सगो न कोय असीए नाहिं सगाई।
नव्वे नगो होय हँसे सब लोग लुगाई॥
वर्ष आया जब सैकड़ा तन हुआ सब खोंकरा,
पतिव्रता पति को कहे अब मरे न छूटे डोकरा॥

जैसे शरीर की अनित्यता है उसी प्रकार कुटुम्ब की भी समझिए। क्योंकि माता पिता आदि स्वजन भी औदारिक शरीरी ही हैं। अपने से पहले आए माता पिता, मामा, काका, आदि, अपने साथ आये भाई, बहिन स्त्री, मित्र आदि और अपने बाद में आये पुत्र पौत्र आदि, तथा और भी जगत के जीव देखते देखते आयु समाप्त करके चले गये। कुछ चले जा रहे हैं और जो रहे हैं वे भी सब एक दिन चले जाएँगे। जिसने जन्म लिया है वह अवश्य मरेगा। अतएव कुटुम्ब-परिवार को भी अनित्य ही समझिए।

जैसे कुटुम्ब अनित्य है वैसे धन भी अनित्य है। धन को 'दौलत' भी कहते हैं। अर्थात इसको दो लत (आदतें) हैं—आना और जाना। तथा अपने पोषक स्वामी-को क्षण भर में हँसाना और क्षण भर में रुलाना। दौलत किसी के पास स्थिर नहीं रहती है। कहावत है—'जर जोरू और जमीन, किसी की न हुई यह तीन।' जर्मनी की तिजोरियों में, खूब गहरे गड्ढे में और नगी तलवारों के पहरे में रक्खी जाय तो भी वह नहीं रहने की। पुण्य क्षीण होने पर हाथ से रक्खा हुआ धन भी रूपान्तर पाकर कंकर, कोयला, पानी, सांप या बिच्छू जैसा दीखने लगता है। लक्ष्मी ऐसी अनित्य है।

घर भी इसी प्रकार अनित्य है। लकडी और मिट्टी के संयोग से बने घर को मनुष्य नित्य समझ बैठता है, परन्तु वह जीर्ण होकर बिखर जाएगा। कितने ही घर और ग्राम आदि नवीन बसते हैं और उजड जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार इनकी अनित्यता प्रत्यक्ष दीखती है।

इसी भांति उपभोग (एक बार भोगने योग्य अन्न और पुष्प आदि) और परिभोग (बार-बार भोगने योग्य वस्त्र, आभूषण आदि) भी अनित्य हैं। क्षणिक हैं। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति के साथ ही साथ उसकी पर्यायों में फर्क पडना आरम्भ हो जाता है। विनाश-काल तक फर्क पडते-पडते उसका स्वरूप ही और का और हो जाता है। यह अनित्यता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब जीव आता है तब बाह्य रूप में कुछ भी साथ लेकर नहीं आता है। उत्पन्न होने के बाद ही शरीर सम्पत्ति आदि का संयोग मिलता है। फिर वह भी *पंचसमवाय के अनुसार हीन होते होते सारा का सारा यहीं प्रलय को प्राप्त हो जाता है या रह जाता है। और जीव जैसा आया वैसा ही अकेला आगे चला जाता है। यह तमाशा एक ही बार में पूरा नहीं हो जाता, अनादिकाल से यही रीति चली आ रही है और चलती जाएगी। मिलना और बिछुड़ना ही पुद्गलों का धर्म है और यह धर्म सदा बना रहेगा। अच्छे का बुरा और बुरे का अच्छा नये का पुराना और पुराने का नया, प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से होना पुद्गलों का जो स्वभाव है, वह तो सदैव होता ही रहता है। इस तमाशे को देखते हुए भी पुद्गलों को नित्य मान कर मनुष्य उन पर लुब्ध हो रहे हैं। इससे अधिक विस्मय की बात और क्या हो सकती है।

मूढ़ प्राणी की आयु ज्यों-ज्यों हीन स्थिति को प्राप्त होती है त्यों त्यों वह ममत्व और पाप की वृद्धि करता जाता है और उनका फल भुगतने के लिए आप भी रूपान्तर पाकर रौरव नरक में गिरता है। वहाँ असह्य यातनाओं का पात्र बन कर रोता है।

अग्नि स्नान से शीतलता चाहना और विष भक्षण करके अमरत्व की आशा करना जैसी मूढ़ता है, वैसी ही पुद्गलों के संयोग से सुख की अभिलाषा करना भी है। फिर भी आत्मद्रोही जन ऐसी ही इच्छा करते हैं। ऐसे अज्ञानजनों को समझाएँ तो कैसे समझाएँ?

* काल, स्वभाव, भवितव्य, कर्म और पुरुषार्थ इन पाच के योग से सब कार्य होते हैं।

अनित्यता को समझने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान दीजिए—

(१) प्रतिदिन सन्ध्या के समय वृक्षों की शाखाओं पर पक्षियों का समूह आ जमता है। शाखा पर एक बैठा, उस पर दूसरे को नहीं बैठने देना चाहता, क्योंकि उसे वह अपनी मान रहा है। वही पक्षी सूर्य का प्रकाश होने पर नाना दिशाओं में उड़ जाते हैं। उस वृक्ष का एक पत्ता भी उनके नहीं जाता। इसी प्रकार शरीर रूपी तरु पर प्राणी रूपी पक्षी चार गतियों में से आकर बैठे हैं। काल सूर्योदय के होते ही सब प्रयाण कर जाएँगे। देह यहीं रह जाएगा।

(२) बाजीगर की डुगडुगी का शब्द सुनते ही चहुँ दिशाओं से मनुष्यों के झुन्ड के झुन्ड पड़ते हैं और ज्यों ही बाजी समेटी कि सब इधर-उधर लौट जाते हैं और अकेला बाजीगर अपने भण्ड को लेकर अपने रास्ते लगता है। इसी प्रकार जीव रूपी बाजीगर की पुण्य-सामग्री देखने के कुटुम्बी आदि मिले हैं। पुण्य समाप्त हो जाने पर सब अपनी-अपनी राह लगेंगे और जीव अकेला रास्ते लगेगा।

(३) मेला-यात्रा आदि के अवसर पर चहुँ ओर से मनुष्यों का समागम होता है। किन्तु ही काल के पश्चात वहीं सुनसान जंगल रह जाता है।

(४) विवाह आदि के अवसर पर स्वजनों का समूह एकत्र होता है, और उत्सव समाप्त होते सब चल देते हैं, केवल घर-धनी ही रह जाता है।

(५) सन्ध्या की वेला बहुधा आकाश में सन्ध्याराग (विचित्र-रंग) का दिखाव होता है, पर क्षण भर में ही वह विलीन हो जाता है और घोर तिमिर का प्रसार हो जाता है।

इस प्रकार अनित्यता का प्रत्यक्ष भास कराने वाले अनेक दृश्य सदैव दिखाई देते रहते हैं, फिर मोह-ममता की धुन्ध में अन्ध बने जीव उन पर विचार नहीं करते।

एक जगह राज्याभिषेक-महोत्सव की धूमधाम और विवाह-समारोह का उत्साह दृष्टिगोचर होता है किन्तु उसी स्थल पर, उसी समय पुद्‌गलों का रूपान्तर होने पर मृत्यु आदि अनिष्ट प्रसंग उपस्थित हो जाता है तो हाहाकार मच जाता है। श्मशान यात्रा की तैयारी होने लगती है। क्या यह प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता! इस जगत् में अनित्यता को समझने के ऐसे-ऐसे क्या थोड़े साधन हैं?

अधिक क्या कहा जाय? जिन परमाणुओं और जिन पदार्थों से तेरे शरीर की रचना हुई है और उसे पोषण मिल रहा है, वही परमाणु और पदार्थ अतीतकाल में तेरे शत्रु बने और तेरे धारण किये अनन्त शरीरों का उन्होंने विनाश किया था। फिर भी आज तू उनसे अत्यन्त प्रीति कर रहा है। समय आने पर अब भी वही तेरे शरीर के घातक बन जाएँगे। सारांश यह है कि पुद्‌गलों के संयोग से ही सम्बन्ध जुड़ता है और संयोग से ही मिटता है।

श्री भगवतीसूत्र में आवीचिमरण कहा है, जो संसार के प्राणी मात्र के आयुष्य को क्षण-क्षण में क्षीण करता है। जैसे अंजलि में लिया पानी बूँद-बूँद करके कम होता जाता है, उसी प्रकार संसार के समस्त जीवों की आयु क्षण-क्षण में घटती जा रही है।

स्वप्न का साम्राज्य मेघों का समूह, बिजली की चमक, इन्द्र धनुष और माया का ऐश्वर्य आदि अनेक पदार्थ क्षणिकता के सूचक हैं। हे भव्य! इनको आँखों से देख। चित्त में जरा सोच-विचार कर

समझ। यह पदार्थ मानो सद्बोधदाता गुरु हैं और समझा रहे हैं कि—हे चेतन! अब तो चेत, चेत! मोह के अन्धकार को दूर कर, अज्ञान का पर्दा हटा और अन्तर की ज्योति से देख। कपिल केवली ने फर्माया है—

अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए।

अर्थात यह ससार अध्रुव (अनिश्चल) अशाश्वत और दु खों से परिपूर्ण है। इसमें रह कर जो ममत्व-मूर्च्छा करते हैं, वही दुखी होते हैं। जब जीव के देखते-देखते पदार्थों का वियोग या नाश होता है, तब जीव को ही पश्चात्ताप होता है कि हाय, मेरी प्राणप्रिय वस्तु कहीं चली गई! और जब पदार्थों को छोड़ कर जीव जाता है तब भी उसी को रोना पड़ता है कि—हाय! इस ऐश्वर्य को छोड़ कर मैं जा रहा हूँ। इस प्रकार दोनों दशाओं में जीव को ही सन्ताप होता है। पदार्थ कभी नहीं रोते न सन्ताप का अनुभव करते हैं। वे नहीं सोचते कि—'हाय! मेरा मालिक कहाँ गया?' उनके मालिक बनने वाले तो बहुतेरे बैठे हैं।

ऐसा समझ कर हे सुखार्थी धर्मार्थी जावो! इस अनित्यानुप्रेक्षा का एकाग्रता के साथ विचार करके अनित्य और अशाश्वत वस्तुओं के प्रति ममता का त्याग करो। निजात्मगुण ज्ञानादि रत्नत्रय में, जो नित्य, शाश्वत, अक्षय और अनन्त हैं, रमण करो और सुखी बनो। *

द्वितीय पत्र-अशरणानुप्रेक्षा

स्याद्वादमत में सब तरफ अनेकान्त दृष्टि से देखा जाता है। निश्चयदृष्टि से देखा जाय तो कोई किसी को शरणदाता नहीं, कोई किसी को आश्रय नहीं दे सकता। सब द्रव्य अपनी-अपनी शक्ति के बल पर ही टिके हुए हैं। अतएव कोई किसी का कर्त्ता—हर्त्ता नहीं है।

व्यवहारदृष्टि से जीव दु ख या कष्ट उत्पन्न होने पर दूसरों को निमित्त मान कर उनकी शरण में जाने की अभिलाषा करते हैं। मेरी वस्तु को हानि न हो जाय, मुझ पर किसी प्रकार का कष्ट आकर न पड़ जाय, अतएव मैं किसी शरणदाता, शरणागत प्रतिपाल की शरण ग्रहण करूँ, इस प्रकार का विचार करके जीव दूसरों की शरण में जाता है। परन्तु वह यह नहीं सोचता कि मैं जिस दु ख से बचने के लिए जिसकी शरण लेने जा रहा हूँ, वह स्वय उस दु ख से बचा है या नहीं? स्वय बचा होगा तो दूसरे को बचाएगा। जो अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता, वह दूसरों की क्या खाक रक्षा कर सकेगा? फिर व्यर्थ ही उसकी शरण में जाने से क्या लाभ है?

इस तथ्य को सामने रखकर विचार कीजिए कि आप जिन जिनकी शरण ग्रहण करते हैं, वे वास्तव में शरण देने योग्य हैं या नहीं? उन सब पर अलग-अलग विचार कीजिए।

हे जीव! तू इस शरीर के द्वारा अपनी रक्षा चाहता है, परन्तु देख। यह शरीर पुद्गलों का पिण्ड है। क्षण-क्षण में नष्ट हो रहा है। आधि, व्याधि और उपाधि से ग्रस्त है। इसमें पुन पुन रोगों का उद्भव होता है। यह जरा से पीड़ित है और मृत्यु का भक्ष्य है। यह स्वय अपनी रक्षा नहीं कर सकता तो तेरी क्या रक्षा करेगा? अतएव शरीर को शरण मानना व्यर्थ है।

---

* बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मल्यो,
तोए अरे भवचक्रनो आटो नही एके टल्यो।
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेक ए लक्षे लहो,,
क्षण-क्षण निरन्तर भाव मरणे का अहो राची रहो॥

—कवि रायचन्द्रजी.

अगर तू अपने परिवार को और मित्रों को शरणदाता समझता हो तो भी तेरी भूल है। निर्मो बुद्धि से विचार कर। यदि तू द्रव्योपार्जन में कुशल हुआ और सब की इच्छा के अनुसार चला तो माता-पिता कहेंगे—हमारा पुत्र रत्न है। भाई कहेंगे—हमारी बाँह है। बहिन कहेगी—हमारा वीरा हीरा है स्त्री कहेगी—मेरे भरतार करतार (परमेश्वर) हैं। इस प्रकार सारा परिवार प्रशंसा करेगा और तेरे आज्ञा का वशवर्त्ती रहेगा। सब 'जी हाँ, जी हाँ' करेंगे।

इसके विपरीत तू मूर्ख और बेकमाऊ हुआ तो वही माता—पिता कहेंगे—पेट में पत्थर पड़ा होत तो नींव (मकान के पाये) में लगाने के काम आता। यह कपूत तो इस काम का भी नहीं है। भा कहेगा—मेरा वैरी है। बहिन कहेगी—भाई लाई (गरीब) है। स्त्री कहेगी—मोल्या (मोल लिया हुआ गुलाम) है। इस प्रकार सब स्वजनों से अपमान और दुःख की प्राप्ति होती है।

स्मरण करो, स्वार्थ-लुब्ध माता ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को मार डालने का उपाय किया था। कनकर राजा जन्मते ही पुत्रों को मार देता था। भरत-बाहुबली दोनों भाई आपस में लड़े। कोणिक ने अपने पित श्रेणिक राजा को पींजरे में कैद कर दिया। दुर्योधन ने सारे कुटुम्ब का संहार किया और सूर्यकान्ता रानी अपने प्रियतम पति राजा प्रदेशी के प्राण हरण कर लिए।

प्राचीन काल के ऐसे-ऐसे अनेक उदाहरण हैं। वर्त्तमान में भी ऐसी अनेक घटनाएँ घट रही हैं क्या ऐसे स्वार्थी जन कभी शरणभूत हो सकते हैं? कदापि नहीं।

शरीर, धन और परिवार आदि, जिन्हें तू प्राणों से भी अधिक प्रिय समझ रहा है और जिन लिए चिन्तामणि के सदृश मनुष्य जन्म गँवा रहा है, वह भी तेरे लिए शरणभूत नहीं होते तो अन्य की बा ही क्या है।

तात्पर्य यह है कि जो स्वयं विकराल काल रूपी वेताल के पाश में फँसे हुए हैं, वे दूसरे को उ पाश से नहीं बचा सकते। काल बली बड़ा जबर्दस्त है। सम्राट् चक्रवर्त्ती राजा, सुरेन्द्र शक्रेन्द्र आदि देव बड़े-बड़े बलिष्ठ दैत्यों के समान शस्त्रधारी क्षत्रिय, वेदपाठी ब्राह्मण, श्रीमन्त, साहूकार, जमींदार, जागीरदार सहस्र विद्याओं के साधक विद्याधर, सिंहादिक वनचर, सर्प आदि उरचर, वस्त्र, आभूषण आदि-आदि को भी सचेतन या अचेतन क्यों न हो, सभी के पीछे काल-वेताल लगा है। इस संसार में काल से अधिक बल वान् और कोई नहीं है। कोई घर, भूगृह, गुफा, पहाड़ आदि स्थान इस संसार में नहीं है जो काल से बच सके और जहाँ छिप कर मनुष्य काल से बच जाय। अमृत और अमरवेल नाम धारण करने वाला औष धियाँ और बूटियाँ भी काल रोग को मिटाने में समर्थ नहीं है, तो औरों का क्या कहना है?

रोहिणी और प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ, घंटाकर्ण आदि मंत्र, विजय और प्रताप आदि यंत्र तथा रस-सिद्धि आदि तंत्र भी काल से बचाने में समर्थ नहीं हैं।

शतघ्नी आदि कोई शस्त्र भी तो ऐसा नहीं है, जिससे काल को डराया जा सके। संसार के भयानक से भयानक शस्त्र तो काल के ही सहायक हैं। उनसे काल कैसे डरेगा?

काल की शक्ति अनूठी है। वह पानी में गलता नहीं, अग्नि में जलता नहीं, हवा में उड़ता नहीं और वज्रमय दीवारों से भी रुकता नहीं। यम जैसे पराक्रमी से भी डरता नहीं है—दबता नहीं है।

काल अत्यन्त विचारहीन है। वह किसी को नहीं गिनता। बालक, तरुण, वृद्ध, नवविवाहित, धन-वान्, निर्धन, गरीब, सुखी दुखी, अनेकों को पालने वाले, अनेकों को मारने वाले आदि-आदि किसी भी

मनुष्य की परवाह नहीं करता। काल नहीं देखता कि आज दीपावली या होली का त्यौहार है! नहीं सोचता कि इसके अनेकों काम अधूरे पड़े हैं। नहीं विचार करता कि यह उच्च कुल का है या नीच कुल का, अभी रात्रि है या दिन है। नहीं देखता कि यह भोगों में आसक्त है! नहीं खयाल करता कि यह मनुष्य है या पशु है, नारक है अथवा देवता है! उसे किसी पर दया नहीं, किसी पर करुणा नहीं। किसी के साथ रियायत करना वह जानता ही नहीं!

कोई कैसा भी क्यों न हो, काल के झपट्टे में आना चाहिए। झपट्टे में आया कि तत्काल गटक लिया। अनन्त प्राणियों को और अनन्त वस्तुओं को अनन्त-अनन्त बार भक्षण कर चुका है, फिर भी काल का पेट नहीं भरा। आग से भी अधिक अतृप्त रहने वाला, महाविकराल भयानक राक्षस के समान है! विश्व में जो महाप्रतापी और प्रचण्ड शक्तिशाली समझे जाते हैं, वे बड़े-बड़े सुरेन्द्र और नरेन्द्र भी काल की परछाई मात्र से थर-थर काँपने लगते हैं, घबरा जाते हैं, भान भूल जाते हैं और हाय-हाय करने लगते हैं। यह काल उनका भी तो मुलाहिजा नहीं करता। यह तो सिर्फ अपना मतलब साधने की ओर ही दृष्टि रखता है। ऐसे निर्दय निर्लज्ज काल-वेताल के वशीभूत हुए जीव, ऐसे ही स्वयं अशरण और निराधार दूसरे जीवों की शरण चाहते हैं और उनको शरण लेकर सुखी बनना चाहते हैं। उनकी चाह वैसी ही है जैसी मृगतृष्णा के जल से प्यास बुझाने की चाह। ऐसे लोग वन्ध्या के पुत्र को खिलाना चाहते हैं और आकाश-कुसुमों से शृङ्गार करना चाहते हैं! अगर यह सब असंभव है तो संसार में किसी वस्तु की शरण पाना भी असंभव है। ❀

जरा काल के स्वभाव का विचार तो करो! यह प्रत्येक वस्तु का एक बार आहार करके तुरन्त उसका निहार कर देता है और तुरन्त ही उसके भक्षण का लोलुपी बन कर उसके पीछे पड़ जाता है। दूसरी बार जब तक उसका भक्षण न कर ले, तब तक क्षण-क्षण में उसका क्षय करता रहता है और अवसर पाकर अनजान में ही उसे खा जाता है। फिर भी वही का वही हाल! इस प्रकार आहार-निहार करते-करते अनन्तानन्त समय व्यतीत हो गो गया। फिर भी यह तृप्त नहीं हुआ है और न होगा ही।

अपने स्वजन की मृत्यु देख कर मूढ मानव चिन्ता और शोक करता है परन्तु यह नहीं सोचता कि मैं स्वयं काल की दाढ़ों में दबा हूँ, जरा जोर लगने की देर है! फिर यही हाल मेरा भी होगा जो इसका हुआ!

एक मनुष्य वन में सो रहा। अचानक ही रात्रि के समय दावानल भड़क उठा। वह मनुष्य चारों तरफ से दावानल से घिर गया। उष्णता प्रतीत हुई तो उसकी नींद खुल गई। वह तत्काल एक वृक्ष पर चढ़ गया। चारों ओर जंगली जानवरों को जलते देख कर हँसने लगा कि—यह जला! वह मरा! उस मूढ़ को यह पता नहीं कि यह वृक्ष जला कि मेरी भी यही दशा होगी। आशय यह है कि जैसे जगत् के अन्य जीव मृत्यु के शिकार हो रहे हैं, उसी प्रकार तुझे भी एक दिन मरना होगा। इसमें सन्देह नहीं है।

बाप-दादे गये, वे भी इस धन-सम्पत्ति और कुटुम्ब-परिवार के द्वारा अपनी रक्षा नहीं कर सके तो तुम कौन-से समर्थ बली हो? तुम भी इनके द्वारा नहीं बच सकोगे।

❀ जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥ —उत्तराध्ययन,

अर्थात्—जिसकी मौत के साथ मित्रता हो, जो मौत आने पर भाग कर बच सकता हो, जो समझता हो कि मैं कभी नहीं मरूँगा, वही सोचे कि मैं आज नहीं, कल कर लूँगा।

निश्चय समझिए, अन्त काल में सब स्वजन मुँह ताकते ही खड़े रहेंगे। सारी सम्पत्ति अपने स्थान पर पड़ी रह जायगी और एक दिन सब की वही दशा होगी, जो चित्त मुनि ने कही है:—

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्त काले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मंसहारा भवन्ति॥

—उत्तराध्ययन अ. १३, २२

अर्थात्—जैसे वन में फिरने वाले मृगयूथ (हिरनों के झुण्ड) में से सिंह एक मृग को पकड़ कर ले जाता है, तब सब हिरन थर-थर काँपते हैं और अपनी-अपनी जान बचाकर भागते हैं, इसी प्रकार परिवार के समूह में से मृत्यु रूपी सिंह जब एक मनुष्य को ले जाता है, तब सब के सब मुँह ताकते ही खड़े रह जाते हैं। कोई बचा नहीं सकता। मृत्यु में या मरने वाले के पुण्य पाप में कोई हिस्सा नहीं बँटा सकता।

आगे तुम्हारी सहायता करने के लिए सम्पत्ति में से कुछ भी साथ नहीं जाएगा। कहा भी है:—

धनञ्च भूमिः पशवश्च गोष्ठे, कान्ता गृहद्वारि जनाः श्मशानम्।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

अर्थात्—धन, जमीन, पशु, घर सम्पत्ति आदि सब अपने-अपने स्थान पर रह जाएँगे। प्यारी पत्नी घर के दरवाजे तक आएगी। कुटुम्बीजन देह को श्मशान तक पहुँचाने आएँगे। देह चिता में भस्म हो जायगी। अकेले जीव को ही अपने किये शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार परलोक के मार्ग में जाना पड़ेगा। संसार की एक भी वस्तु साथ नहीं जाने वाली है।

ऐसा निश्चय करके हे सुखार्थी जनो! इस दुर्लभ मनुष्य जन्म आदि सामग्री को, अन्य के शरण के लालच में पड़ कर मत गँवाओ। निश्चय समझो कि जगत् का कोई भी पदार्थ मेरा रक्षक नहीं है, सब भक्षक हैं। ऐसा जान कर उन पर से ममता त्याग दो और तरणतारण, दुःखनिवारण, निराधार के आधार, गरीबनिवाज महाकृपालु, करुणासागर, अनन्त दुःखों से उद्धारकर्त्ता, विकराल काल-व्याल के दुःख के हर्त्ता, अनन्त अक्षय अजर अमर अविनाशी अतुल सुखस्वरूप मोक्ष स्थान के दाता श्री अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु-यह पंच परमेष्ठी ही व्यवहार में शरणभूत हैं। निश्चय में अपनी आत्मा के ज्ञानादि रत्नत्रय रूप गुण ही हैं जिनका आश्रय-शरण ग्रहण करने से आत्मा अजर-अमर और परमानन्द एवं परमसुखमय बनता है।

---

* सवैया—कंचन के आसन सुखासन कंचन के,
पलंग सब इनामत धरे रहे।
हाथी हथसालन में घोड़े घुड़सालन में,
कपड़े जामदानी में घड़ी त्रधे ही रहे।
बेटा और बेटी अरु दौलत का पार नाही,
जेवरों के डिब्बे पै तो ताले ही पड़े रहे।
देह छाड़ि डिगे जब हो चले दिगम्बर,
कुल के कुटुम्बी सब रोते ही खड़े रहे।

तृतीय पत्र-एकत्वानुप्रेक्षा

जैसे सुवर्ण और मिट्टी का अनादि सम्बन्ध होने के कारण दोनों एक ही रूप में दिखाई देते हैं। अर्थात् सुवर्ण भी लाल मिट्टी सरीखा दीखता है, परन्तु हैं तो दोनों अलग-अलग ही। अगर दोनों एक ही हों तो मिट्टी में से सुवर्ण अलग निकले नहीं। वास्तव में स्वर्ण और मिट्टी पृथक्-पृथक् हैं, सिर्फ अनादि-सम्बन्ध के कारण एक मालूम पड़ते हैं। स्वर्णकार मिट्टी से स्वर्ण को अलग करने के लिए-उसे अपने शुद्ध रूप में लाने के लिए मूस, अग्नि, सुहागा, क्षार और द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव की अनुकूलता का उपयोग करता है। तब सोना मिट्टी से अलग होकर निज रूप को प्राप्त करता है। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल का है। इस सम्बन्ध को तोड़ने के लिए चार वस्तुओं की आवश्यकता होती है।

(१) ज्ञान—जैसे स्वर्णकार मिट्टी से स्वर्ण को निकालने की विधि का ज्ञाता होता है और विधि-पूर्वक प्रयत्न करके कार्य करता है, उसी प्रकार जीव ज्ञान के द्वारा कर्म से अलग होने की विधि का ज्ञाता होता है। ज्ञान से उसमें कर्त्तव्यपरायण होने की शक्ति आती है।

(२) दर्शन—सम्यग्दर्शन मूल के समान है, क्योंकि श्रद्धा ही सद्गुणों के रहने का स्थान है।

(३) चारित्र-सयम रूपी क्षार भी आवश्यक है। चारित्र ही कर्म-मैल को फाड़ने वाला है।

(४) तप-तपस्या रूपी अग्नि भी अनिवार्य है, क्योंकि तप रूपी अग्नि ही कर्म-मैल को जलाने में समर्थ है।

इन चारों पदार्थों का योग मिलने पर और औदारिक शरीर रूप द्रव्य, आर्य क्षेत्र, चौथा आरा आदि काल और भव्यता रूप भाव का सयोग मिलने पर यथाविधि साधना करने से अनादिकालीन कर्म-मैल को नष्ट करके आत्मा अपने निज-स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

दूध में घी मिला होता है। उसे अलग करने के लिए खटाई, रवाई, भाजन और मथने वाले का सयोग चाहिए। यह सयोग मिलने पर छाछ रूप मैल को छोड़ कर घृत अपने रूप को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार इत्र और पुष्प, लोह और चुम्बक आदि दृष्टान्तों के द्वारा जीव और कर्म का अनादि सबध समझना चाहिए। जैसे इनके अनादि सबध को छुड़ाने के लिए और निज रूप में लाने के लिए विविध उपाय किये जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी अनादि कर्म-सबध से पृथक् करने के लिए उपर्युक्त ज्ञान आदि चार साहित्यों का सयोग अकसीर उपाय है।

बड़ा विद्वान और सदा शुचि-पवित्र-रहने वाला पुरुष वारुणी (मदिरा) के नशे में उन्मत्त होकर, अशुचिमय उकरड़े में लोटने में ऐसा आनन्द मानता है जैसे मुलायम गद्दी-तकिये पर लोटने में माना जाता है। और गटरों को हवा को सुगधमय बगीचे की सैर के समान समझता है। कोई इस गदगी से हटने को कहे तो कहने वाले को मूर्ख समझ कर गालियाँ देने लगता है किन्तु वही शराबी जब नशे से मुक्त होता है तो अपनी दुर्दशा देख कर लज्जित होता है और किसी के कहे बिना ही उकरड़े को त्याग कर चला जाता है। इसी प्रकार जीव रूप पवित्र और ज्ञानी पुरुष मोह रूपी मदिरा के नशे के वशीभूत होकर भोग (विषय) रूप अशुचि से परिपूर्ण कर्म रूप उकरड़े पर लोटता हुआ आनन्द मानता है। वह विषयों से विरक्त और सद्बोध के दाता को मूर्ख मानकर उसके उपदेश का अनादर करता है। किन्तु जब उसका मोह का नशा उतर जाता है तो वही जीव सतसमागम आदि प्रसग पाकर सुध (होश) में आ जाता है और अज्ञानावस्था में किये कर्मों के लिए पश्चात्ताप करके तत्काल विषयों से विरक्त होकर एकीभाव को अगीकार करता है।

जैसे बचपन से बकरियों में पला हुआ सिंह का बच्चा, अपनी जाति को भूल कर अपने आपको बकरा ही मान रहा था, किन्तु वन में सच्चे सिंह को देख कर बकरियों का संग छोड़ कर एकाकी स्वच्छन्द विचरण करने वाला बना। इसी प्रकार जीव अनादि कर्म संबंध से निज स्वरूप को भूल कर कर्मजनित उपाधि को अर्थात् शरीर सम्पत्ति आदि को अपनी समझ रहा है। जब सद्‌गुरु के बोध से उसे आत्मा के असली स्वरूप का भान होता है, तब वह समझने लगता है कि-मैं चेतनस्वरूप हूं। सब प्रकार की आधियों, व्याधियों और उपाधियों से रहित हूँ। यह शरीर और सम्पत्ति विपत्तियों का घर है। मैं निराकार हूँ, यह साकार है। मैं शुद्ध और शुचि हूँ, यह अशुद्ध और अशुचि है। मैं अजर-अमर हूँ, यह क्षण भंगुर है। मैं अनन्त ज्ञानादि गुणों से समृद्ध सिद्ध बुद्ध स्वरूप हूं, यह जड़ है। इस प्रकार इनका और मेरा किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है। इनके संसर्ग से मैं ने चार गतियों में, चौवीस दंडकों में और चौरासी लाख योनियों में, उच्च-नीच आदि जातियों में अनन्त-अनन्त विडंबनाएँ भोगी हैं। अब इनका संग त्याग कर एकत्व भाव धारण करना ही मेरे लिए योग्य है। इस प्रकार विचार करके संसार के समस्त संबंधों का परित्याग करके वीतराग दशा का अवलम्बन करना चाहिए।

जैसे बादलों के फट जाने पर सूर्य अपने स्वाभाविक प्रकाश से देदीप्यमान हो उठता है, उसी प्रकार कर्मपटल के हटने पर आत्मा के निज गुण ज्ञानादिक प्रकाशित होने लगते हैं और आत्मा स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

एकत्वभावना का चिन्तन करने वाला विचार करे कि—मैं कौन हूँ? एक हूँ या अनेक हूँ? दीखने में तो एक ही शरीर का धारक हूँ, परन्तु जो एक मानूँ तो अनेकता* कैसे बने? माता पिता कहते हैं—मेरा पुत्र है, तो क्या मैं पुत्र हूँ? बहिन कहती है—मेरा भाई है, तो क्या मैं भाई हूँ? स्त्री कहती है—मेरा भर्त्तार है, तो क्या मैं भर्त्तार हूँ? पुत्र-पुत्री कहते हैं—मेरा पिता है, तो क्या मैं पिता हूँ? इसी प्रकार कोई काका, कोई बाबा, कोई मामा, कोई मौसा, कोई ब्याई, कोई जमाई आदि-आदि कह कर मुझे बुलाते हैं। अब विचार होता है कि वास्तव में मैं क्या हूँ! कौन हूँ? और किसका हूँ? अहा, आश्चर्य है कि मेरा पता लगाना मुझे ही मुश्किल हो रहा है। मैं स्वयं को ही नहीं समझ पाता हूँ। मैं एक होकर भी कितने नामों का धारक बना फिरता हूँ।

मैं निश्चय से विचार करता हूँ तो प्रतीत होता है कि यह सब कर्मों के खेल हैं। परमार्थ दृष्टि से न मैं पुत्र हूं न पिता हूँ न कोई अन्य हूँ। न कोई मेरा है, न मैं किसी का हूँ। अगर मैं इन नामों वाला होता तो सदा इसी रूप में बना रहता।

मैं पुरुष हूँ? यदि मैं पुरुष होने का निश्चय करूँ तो भी नहीं बनता। ऐसा हो तो अन्य अनेक जन्मों में स्त्री, पर्याय धारण करके पुरुष की इच्छा क्यों की? इसी प्रकार मैं स्त्री होता तो दूसरे जन्मों में पुरुष होकर स्त्री का संसर्ग क्यों चाहता?

---

*एगया खत्तिओ होई, तओ चंडाल-बुक्कसो।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथुपिवीलिया॥
एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिब्बिसा।
न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया॥ —उत्तराध्ययन, अ. ३ गा ४५

जैसे क्षत्रिय राजा महापरिश्रम से पूरा राज्य प्राप्त करके भी तृप्त नहीं होता है, इसी प्रकार यह जीव भी कभी क्षत्रिय हुआ, कभी चांडाल हुआ, कभी बुक्कस (वर्णसंकर) हुआ, कभी कीड़ा तो कभी पतंग हुआ। इस प्रकार नाना योनियों में परिभ्रमण करता हुआ और अनेक रूप धारण करता हुआ भी कृतार्थ नहीं हुआ। खेद और आश्चर्य!

इस प्रकार विचार करने से यह सब भाव मिथ्या प्रतीत होते हैं। मैं मोह के उन्माद में बेसुध होकर कर्म सयोग से विकल हो रहा हू। राह भूला हू। जैसे नट नाट्यशाला में स्त्री का भी रूप बना लेता है और पुरुष का भी रूप बना लेता है, और जैसा रूप बनाता है वैसा ही अभिनय करता है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से देखा जाय तो वह नट वैसा नहीं है। न राजा है, न रानी है, न संयोगी है, न वियोगी है। वह इन सब भावों से अलग है। केवल दर्शकों को दिखाने, हँसाने, रुलाने और फँसाने के लिए अनेक भावों को दर्शाता है। अन्तर में वह उन सब से अलग है।

इसी प्रकार ससार रूपी नाट्यशाला में, चैतन्य रूपी नट ने, कर्मों के निमित्त से उच्च, नीच, एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक, चाण्डाल से चक्रवर्ती तक के रूप धारण करके, उस-उस पर्याय के अनुरूप कार्य किये हैं, किन्तु अन्त में एक भी रूप कायम नहीं रहा। सब अपने-अपने स्थान और समय पर समाप्त हो गए। चैतन्य उन सब से अलग ही रहा।

यह है कर्मों का तमाशा! अब जरा कर्मों के नशे का उतार आया दीखता है। इस कारण किंचित् भान हुआ है और इस प्रकार का विचार आने से कर्मों की विचित्रता समझ कर भेद-विज्ञानी बना है। हे जीव! अब विभाव को त्याग कर स्वभाव में रमण कर।

देख चेतन! जब तू आया था, माता के उदर से बाहर निकला था, तब अकेला ही था। तेरे देखते-देखते अनेक जन गये हैं वे सब अकेले ही अकेले गए हैं। इसी प्रकार तू भी अकेला ही जायगा। अशुभ कर्मों के फल भोगने के लिए नरक में और शुभ कर्मों के फल भोगने के लिए स्वर्ग में गया तो अकेला ही गया। धन, वस्त्र, मकान, भोजन, भूषण आदि में भाग लेने वाले अनेक स्वजन हैं, परन्तु कृत कर्मों में भागीदार बनने वाला कोई नहीं है।

इस जगत् में परिभ्रमण करते हुए अनन्त जीवों में से, रास्ते चलते-चलते, थोड़े दिनों के लिए कोई स्त्री बन जाता है और कोई पुत्र हो जाता है। ऐसे-ऐसे अनेक सम्बन्ध स्थापित करके पुद्गलपरावर्त्तन के फेर में पड़कर वे किधर के किधर चले जाते हैं। फिर उनका पता लगना ही मुश्किल हो जाता है।

हे जीव! तू भी कई का पिता, कई का पुत्र, कई की स्त्री आदि बना चुका है और छोड़ चुका है। अब न वे तुझे पहचानते हैं, न तू उन्हें पहचानता है। ऐसे-ऐसे विचार तेरे सामने उपस्थित होते हैं, फिर भी तुझे अपना एकत्व नहीं मालूम होता, यही आश्चर्य है।

हे आत्मन्! जगत के समस्त पदार्थ तुझसे भिन्न हैं और तू उनसे भिन्न है। तेरा उनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है*। अतएव तू अपने निज स्वरूप को पहिचान। तू शुद्ध है, सत् है, चिदानन्द है, सिद्ध के समान है। तू सदैव इसी स्वरूप का ध्यान किया कर, जिससे तेरा सच्चा स्वरूप तुझे प्राप्त हो जाय!

* यह अभिन्न काया नही, साथ जायगी भ्रात।
तो वैभव परिवार की, रही दूर ही बात॥
कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार।
देख भोगते स्वर्गसुख, वे ही अपरम्पार॥
दुनिया के बाजार में, चल कर आया एक।
मिले बहुत पर अन्त में, रहे न हाय अनेक॥
तेरे अनुगामी स्वजन, गये कौन-सी बाट?
तू रोता ही रह गया, पकडे-पकडे खाट॥

चतुर्थ पत्र-संसारानुप्रेक्षा

ससार के स्वरूप का विचार करना ससारानुप्रेक्षा है । 'संसरन्ति अस्मिन् इति संसारः' अ जिसमें जीव परिभ्रमण करते हैं वह समार कहलाता है । ससार चार प्रकार है और वह चार गतियों के से प्रसिद्ध है । चार गतियाँ निम्नलिखित हैं —

(१) नरकगति—' नरान् कायन्ते इति नरक. ' यह नरक शब्द की व्युत्पत्ति है । यह अधकार परिपूर्ण तमोमय गति है । नरकगति के सात स्थान अधोलोक में एक दूसरे के नीचे हैं —(१) रत्नप्रभ श्यामवर्ण के रत्नमय भयकर स्थान वाली भूमि । (२) शर्कराप्रभा—जहाँ तलवार से भी अधिक ती स्थान है । (३) वालुकाप्रभा-वह भूमि जो भड़भू जे के भाड से भी अधिक उष्ण वालू (रेती) वाली है (४) पकप्रभा—जहाँ समस्त स्थान रक्त, मास, पीव आदि से परिपूर्ण हो । (५) धूमप्रभा—जहाँ राई मिर्च के धूम्र से अधिक दारुण धूम्रमय स्थान हो । (६) तम प्रभा—भादवा महीने म, सघन मेघों की घ छाई हो और अमावस्या की रात्रि हो, तब जैसा अधकार होता है, उससे भी अधिक अधकारपूर्ण भूमि (७) तमस्तम.प्रभा—घोर अत्यन्त घोर तिमिर से व्याप्त स्थान ।

यह सात नरक के गुणनिष्पन्न नाम (गोत्र) हैं । इन नरकों में ४२ अन्तर (खाली जगह) और ४६ पाथडे (प्रस्तर) अर्थात नारक जीवों के रहने के स्थान हैं । चौरासी लाख नारकावास हैं ।

इन नरकों में रहने वाले सम्यग्दृष्टि जीव तो अपने किये कर्मों का फल जान कर समभाव से दुः भोगते हैं । मिथ्यादृष्टि हाय-हाय और त्राहि-त्राहि करके यातनाएँ भुगतते हैं । नरक में तीन प्रकार क वेदना है—परमाधामी (यमदेवों) द्वारा दी जाने वाली वेदना (२) आपस में एक दूसरे को उत्पन्न क जाने वाली वेदना और (३) क्षेत्र वेदना ।

परमाधामी देव पन्द्रह प्रकार के हैं—(१) अम्ब-नारकियों को आकाश में उछाल कर एकदम छोड़ देते हैं ।

(२) अम्बरीष—नारकी जीवों के छुरी वगैरह से छोटे-छोटे टुकड़े करके भाड़ में पकने योग्य बनाते हैं ।

(३) श्याम—लातों, घूंसों और कोड़ों वगैरह से नारकियों को पीटते हैं, भयानक स्थानों में पटक देते हैं और काले रग के होते हैं ।

(४) शवल—शरीर की आँतों को, नसों को और कलेजे आदि को वाहर निकाल डालते हैं और चितकवरे रग के होते हैं ।

(५) रौद्र—नारकी जीवों को शक्ति और भाले आदि की नौंक में पिरो देते हैं ।

(६) उपरौद्र—अगोपांगों को तोड़-फोड़ देते हैं ।

(७) काल—आग में कढ़ाई आदि में डाल कर पकाते हैं ।

(८) महाकाल—चिमटे आदि से चमड़ी और मांस आदि नोंचते हैं और नारकिया को जवर्दस्ती खिलाते हैं ।

(९) असिपत्र—शस्त्रों से काटते हैं ।

(१०) धनु – शिकारी की तरह धनुष-बाण से भेदते हैं—नारकियों के कान आदि काट लेते हैं ।

(११) कुम्भ– कुंभियों में पकाने वाले।

(१२) वालुक—भड़भूजे की तरह अत्यन्त तप्त वालू में नारकी जीवों को चनों की तरह भूनने वाले।

(१३) वैतरणी—मांस, रुधिर तांबा, शीशा आदि अत्युष्ण पदार्थों से उबलती हुई नदी में नारकियों को फैंक कर तैराने वाले।

(१४) खरस्वर—शस्त्र की अपेक्षा भी अधिक तीक्ष्ण पत्तों वाले शाल्मलि वृक्ष के नीचे बैठा कर पत्ते गिराने वाले।

(१५) महाघोष—भयभीत नारकों को पशुओं की तरह बाड़े में या अंधेरी कोठरियों में बन्द कर देने वाले और जोर से चिल्ला कर उन्हें वहीं रोक रखने वाले देव।

परमाधामी देवों के यह सामान्य काम बतलाये हैं। इनके सिवाय वे और भी अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। पूर्वजन्म में जिन्होंने जैसे पापकर्म किये हैं, उन्हें वैसा ही फल देते हैं। जैसे मांसभक्षी को उसी का मांस नोंच-नोंच कर खिलाते हैं। मदिरा पीने वालों को रांगा उबाल कर पिलाते हैं। परस्त्रीगामी को लोहे की उष्ण पुतली का आलिंगन कराते हैं। हिंसक जिस प्रकार की हिंसा करते हैं, उन्हें उसी प्रकार मारते हैं। इस प्रकार परमाधामी देव नाना प्रकार की दुस्सह वेदनाएँ देते हैं और नारक जीव बेचारे पराधीन होकर आक्रन्द करते हैं और विवश होकर वेदनाएँ भोगते हैं।

(२) नरक में दूसरी वेदना आपस की है। तीसरे नरक से आगे परमाधामी देव नहीं जाते, किन्तु वहां के नारकी तरह-तरह के विकराल भयकर रूप बना कर परस्पर लड़ते हैं, मारते हैं और हाय-हाय करते रहते हैं। जैसे नये आये कुत्ते पर पुराने कुत्ते टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार एक दूसरे पर सदैव टूटते रहते हैं।

(३) नरक की तीसरी क्षेत्रजनित वेदना है। यह वेदना प्रधान रूप से दस प्रकार की है:—

(१) अनन्त क्षुधा—नारकी जीव को इतनी भूख लगती है कि तीन लोक के समस्त भक्ष्य पदार्थ एक को खिला दिये जाएँ तो भी तृप्ति न हो, परन्तु जीवन पर्यन्त एक दाना भी खाने को नहीं मिलता।

(२) अनन्त तृषा—इतनी प्यास सताती है कि ससार भर का पानी पी लेने पर भी न बुझे, परन्तु एक बूंद भी कभी नसीब नहीं होती।

(३) अनन्त शीत—शीत योनि वाले नरकों में इतनी सर्दी पड़ती है कि लाख मन का लोहे का गोला भी बिखर जाय।

(४) अनन्त उष्णता—उष्णयोनि वाले नरकों में इतनी गर्मी पड़ती है कि लाख मन का लोहे का गोला भी गल कर पानी हो जाय। *

(५) अनन्त दाहज्वर।

(६) अनन्त रोग—नारकों का शरीर सभी महान् रोगों से व्याप्त रहता है।

(७) अनन्त खाज (खुजली)

(८) अनन्त निराधारता—नारकियों के लिए कोई शरण नहीं।

(९) अनन्त शोक (चिन्ता)

(१०) अनन्त भय—सदैव भयभीत रहते हैं।

* पहले के चार नरक उष्णयोनि वाले हैं। पांचवें से सातवें तक शीतयोनि वाले हैं।

यह दस प्रकार की वेदना स्वभाव से ही सब नरकों में सदैव बनी रहती है। इन दुःखमय नरक स्थानों में यह जीव अनन्त वार उत्पन्न होकर दु ख भोग आया है। +

(२) तिर्यञ्चगति—तिर्छे बहुत बढने से तिर्यञ्च (पशु) कहलाते हैं। तिर्यञ्च के ४८ भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के सूक्ष्म[1] और बादर[2] के भेद से आठ भेद, इन आठों के पर्याप्त[3] और अपर्याप्त[4] के भेद से सोलह भेद हुए। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म साधारण[5] और प्रत्येक,[6] यह तीन भेद हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद करने पर छह भेद हो जाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त-अपर्याप्त करने से भी छह भेद होते हैं।

पचेन्द्रिय तिर्यञ्च पाँच प्रकार के हैं-जलचर,[7] स्थलचर,[8] खेचर,[9] उरपरिसर्प[10] और भुजपरिसर्प[11]। इनके सज्ञी (मन वाले) और असज्ञी (बिना मन के) भेद से दस भेद और दसों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से बीस भेद हैं। इस प्रकार तिर्यंचों के सब मिल कर ४८ भेद होते हैं।

यह बेचारे कर्माधीन हो परवश में पड़े हैं। पृथ्वी खोदी जाती है, फोड़ी जाती है, गोबर आदि मिलाकर निर्जीव की जाती है। पानी गर्म किया जाता है। नहाने धोने-वगैरह गृहकार्यों में ढोला जाता है। क्षार आदि मिला कर निर्जीव किया जाता है। अग्नि प्रज्वलित की जाती है, बुझाई जाती है, पानी मिट्टी आदि से मारते हैं। वायु को पखा, झाड़ आदि से खाडने झटकने फटकने और उघाड़े मुख बोलने आदि से मारते हैं। वनस्पति को छेदन भेदन, पीडन, गालन, अग्नि और मसाला आदि से निर्जीव करते हैं।

मिट्टी, पानी, हरित वनस्पति, ईंधन, अनाज वस्त्र पात्र आदि के आश्रय में रहने वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव गमनागमन आरम्भ-समारम्भ, धूम्र आदि का प्रयोग शीत, उष्ण आदि के द्वारा अनेक प्रकार से उपजते भी हैं और मरते भी हैं। जलचर जीव पानी समाप्त होने से और नया पानी आने से मरते हैं तथा धीवर आदि उन्हें मारते हैं। बेचारे स्थलचर या वनचर पशु शीत, ताप, वर्षा, भूख, प्यास आदि के कष्ट सहन करते हैं और काटे, कंकर, कीचड़ एव कीड़ों वाली भूमि में पडे पडे जन्म पूरा करते हैं। गृहहीन, वस्त्रहीन, दीन, गरीब, अनाथ और घास-फूस आदि निर्माल्य तथा जितना मिले उतना ही खाकर सतोष करते हैं। ऐसे निरपराध जीवों को भी रसगृद्ध निर्दय लोग मार डालते हैं। कोई बन्धन में डाल देते हैं। इसी प्रकार ग्रामवासी पालतू गाय, भैंस आदि पशु भी निर्माल्य वस्तु खाकर अपना जीवननिर्वाह करते हैं, वह भी जितनी मिल जाय उतनी ही खाकर सन्तोष कर लेते हैं। फिर भी खेती आदि अनेकानेक कामों में सहायक होते हैं और दूध आदि जैसे उत्तम पदार्थ देते हैं। अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार चलते हैं। ऐसे बेचारे गरीब पशुओं पर असह्य भार लाद देते हैं। कठिन बधनों से बाँध देते हैं। कठोर प्रहार करके मारते हैं। थक जाने पर भी मार-मार कर जबर्दस्ती चलाते हैं। जब पशु दु ख से, रोग से अथवा थकावट से मूर्छित हो जाते हैं और गिर कर पड जाते हैं, तो उसे श्वास रोक कर उठाते हैं। खाना-पीना भी पूरा नहीं देते हैं, मगर काम पूरा लेते हैं। अपना मतलब पूरा होने पर वह निर्दय कृतघ्न लोग उन्हें कसाई

+ घम्मा, वशा, शीला, अ जना, अरिष्टा, मघा और माघवती, यह सात नरकों के सात नाम हैं। रत्नप्रभा आदि पूर्वोक्त इनके गोत्र हैं।

१ जो दृष्टि में आ सकें। २ जो दिखाई दे सकें। ३ जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ सभव हैं, उन्हें पूर्ण करने वाला जीव। ४ जिसकी पर्याप्तियाँ अधूरी हों। ५ एक शरीर के आश्रित रहने वाले अनन्त जीव। ६ एक शरीर का एक ही स्वामी हो। ७ पानी में रहने वाले मत्स्य आदि। ८ पृथ्वी पर रहने वाले गाय आदि। ९ आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि। १० पेट रगड़ कर चलने वाले सर्प आदि। ११ भुजाओं से चलने वाले चूहे आदि।

आदि के हाथ बेच देते हैं। कसाई उन्हें शस्त्र से रिवा-रिवा कर मारता है। इन दीनों और अनाथों पर करुणा करने वाला कौन है? ऐसी तिर्यञ्च-गति में अपना जीव अनन्त वार उत्पन्न हुआ है और भयकर दुःख भोग चुका है।

(३) मनुष्यगति—जो मन चाही साधना कर सके वह मनुष्य कहलाता है। मनुष्य के ३०३ भेद हैं।

असि (शस्त्र-हथियार) से, मषि (लेखन) से और कृषि (खेती) से जहाँ आजीविका चलती हो वह कर्मभूमि कहलाती है। कर्मभूमि के पन्द्रह क्षेत्र हैं—५ भरत, ५ ऐरवत और ५ महाविदेह। यह तीनो क्षेत्र जम्बूद्वीप में एक-एक, धातकीखण्ड द्वीप में दो-दो और पुष्करार्ध क्षेत्र में दो-दो हैं। इस प्रकार पाँच २ होने से तीनों के पन्द्रह भेद हैं। इन पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य कर्मभूमिज मनुष्य कहलाते हैं।

जहाँ उपर्युक्त असि, मषि और कृषि कर्म नहीं होते, किन्तु दस प्रकार के कल्पवृक्षों* से जीवन-निर्वाह होता है, उसे अकर्मभूमि कहते हैं। अकर्मभूमि के तीस क्षेत्र हैं—हैमवत, एरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यक-वर्ष, देवकुरु और उत्तरकुरु, इन छह क्षेत्रों के पूर्वोक्त रीति से पाँच-पाँच भेद होते हैं—एक-एक जम्बूद्वीप में, दो-दो धातकीखण्ड में और दो-दो पुष्करार्ध में,। इस प्रकार ६×५=३० भेद अकर्मभूमि के हैं। इन अकर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अकर्मभूमिज कहलाते हैं।

जम्बूद्वीप के चुल्ल हेमवन और शिखरि पर्वत में से आठ दाढे (कोने) लवणसमुद्र में गई हैं। इन सातों दाढों पर आठ-आठ द्वीप हैं। यह ७×८=५६ अन्तर्द्वीप कहलाते हैं। समुद्र के अन्दर होने से इनका नाम अन्तर्द्वीप है। इनमें अकर्मभूमि की तरह ही मनुष्य रहते हैं।

यह १५+३०+५६—१०१ मनुष्य हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से २०२ भेद होते हैं।

+चौदह स्थानों में सम्मूर्छिम मनुष्य स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। वे अपर्याप्त दशा में ही मर जाते हैं। अतएव १०१ क्षेत्रों के भेद से उनके भी १०१ भेद होते हैं। पूर्वोक्त २०२ भेदों में यह १०१ भेद मिला देने से मनुष्यों के सब भेद ३०३ हो जाते हैं।

कर्मभूमि में महाविदेह को छोड़कर शेष सब क्षेत्रों में छह आरों की प्रवृत्ति होती रहती है। इस कारण कभी पौद्गलिक सुखों की वृद्धि और कभी हानि होती है। सदा एक-सी परिस्थिति न रहना भी दुःख का कारण है। महाविदेह क्षेत्र में सदा चौथे आरे की सी स्थिति रहती है फिर भी वहाँ नाना प्रकार के मनुष्य होते हैं।

---

*दस प्रकार के कल्पवृक्ष—(१) मत्तांग (मधुर रस देने वाले)। (२) भृंगार—वर्त्तन देने वाले। (३) तुडियग—बाजे देने वाले। (४) दीपकाग—दीपक जैसा प्रकाश देने वाले। (५) ज्योतिरग—सूर्य के समान प्रकाश देने वाले। (६) चित्राग—विचित्र रगों के पुष्प देने वाले। (७) चित्ररस—इच्छित भोजन देने वाले। (८) मनोवेग—रत्न-जटित आभूषण देने वाले। (९) गेहागार—रहने को मकान देने वाले। (१०) अनियाग—श्रेष्ठ वस्त्र देने वाले। ३० अकर्मभूमियों और ५६ अन्तर्द्वीपो में रहने वाले मनुष्यों की इन दस प्रकार के कल्पवृक्षों से इच्छापूर्ति होती है।

+ (१) उच्चार (विष्ठा) में (२) प्रस्रवण (मूत्र) में (३) कफ में (४) रैंट (नाक के मैल) में (५) वमन म (६) पित्त में (७) रक्त में (८) पीष में (९) शुक्र (वीर्य) में (१०) शुक्र के सूखे पुद्गल पुनः भींगने से (११) मृतकलेवर—पचेन्द्रिय के मृतक शरीर में (१२) स्त्री पुरुष के सयोग में (१३) नगर की नालियों में और (१४) लोक के सर्व अशुचि स्थानों में (शीतल होते ही तत्काल असख्य मनुष्य उत्पन्न हो जाते है।

तात्पर्य यह है कि कर्मभूमि में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। असि (हथियारों) से आजीविका करने वाले अनेक गरीब, विवश और निरपराध जीवों की घात करते हैं और घोर पाप का उपार्जन करते हैं। सिपाही होकर अपराधियों और निरपराधों को बिना कारण भी मारते हैं। कितने ही राजा आदिक संग्राम करते हैं। कोई-कोई अपने ही कुटुम्ब का संहार कर डालते हैं, तो बेचारे एकेन्द्रिय आदि की तो बात ही क्या है।

शस्त्र अनर्थ का कारण है। शस्त्र हाथ में आया कि परिणाम हिंसामय हुए।

मषि (लिखाई) की आजीविका करने वाले वणिक् आदि, कसाई, कूजड़े, कलाल आदि आदि का अयोग्य व्यापार करके, अपने सामर्थ्य से अधिक वजन उठाये, गाँवड़े-गाँवड़े में भटकते हैं, गुलामी करते हैं और घोर कष्ट सहन करते हैं।

कृषि के कर्म में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीवों की हिंसा करते हैं और शीत, ताप, क्षुधा, तृषा आदि महान् कष्ट सहन करते हैं। उनकी तीनों ही ऋतुएँ घोर परिश्रम करते-करते व्यतीत होती हैं।

अभी वर्त्तमान स्थिति पर ही दृष्टिपात कीजिए। स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक को कोई न कोई दुःख सताता ही रहता है। द्रव्य है तो प्रायः कुटुम्ब का अन्तराय होता है और कुटुम्ब लम्बा-चौड़ा है तो दरिद्रता रहती है। धन और कुटुम्ब दोनों हैं तो परस्पर में प्रीति नहीं है। शरीर रोगग्रस्त है। सदा क्लेश बना रहता है। लेन-देन का और इज्जत-आबरू वगैरह का अनेक प्रकार का दुःख सदैव दुखी बनाता रहता है। बहुत-से बेचारे गरीब हैं, उन्हें अपना पेट भरने में ही महा मुसीबत का सामना करना पड़ता है, तो परिवार का भरणपोषण तो दूर रहा!

कोई अंगोपाँगहीन, लूले, लंगडे, अन्धे, बहिरे होते हैं। कितनेक अनार्य देश में उत्पन्न हुए हैं। वे नाम मात्र के मनुष्य हैं। उनके कर्म पशुओं से भी गये-बीते हैं। धर्म का नाम तक नहीं समझते। मनुष्य का भी आहार करते हैं। वस्त्रहीन-नंगे फिरते हैं। माता, बहिन और पुत्री का समागम करने में भी लज्जित नहीं होते। जंगल में भटकते-भटकते जिन्दगी पूरी कर देते हैं।

अकर्मभूमि में उत्पन्न होने वालों को सांसारिक सुख की उत्कृष्टता प्राप्त होती है। हरिवर्ष और रम्यकवर्ष में सुख की मध्यमता है तथा हैमवत और ऐरण्यवत में सुख की कनिष्ठता है। वहाँ के सब मनुष्य भद्रपरिणामी हैं, परन्तु धर्महीन जीवन यापन करते हैं, अतएव पशु के समान हैं। पूर्वार्जित पुण्य से प्राप्त हुए दशविध कल्पवृक्षों के योग से सुख भोगते हैं और अन्त में मर जाते हैं।

अन्तर्द्वीपों में रहने वाले मनुष्य भी नाम मात्र के हैं। पानी पर, पहाड़ों में और वन में वास करते हैं। उनका शरीर तो मनुष्य जैसा ही होता है, किन्तु किसी का मुख हाथी जैसा किसी का घोड़े जैसा, किसी का सिंह या गाय जैसा होता है। यह मिथ्यादृष्टि होते हैं। पुण्योदय से इनकी भी इच्छा कल्पवृक्षों से पूर्ण होती है।

सम्मूर्छिम मनुष्य केवल मनुष्य के मल-मूत्र आदि में उत्पन्न होते हैं, जिससे वह मनुष्य कहलाते हैं, परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। सूक्ष्म रूप में, एक स्थान पर असंख्यात जन्मते हैं और तुरन्त मर जाते हैं। विष्ठा पर विष्ठा और मूत्र पर मूत्र त्यागने वगैरह से हर समय इनकी हिंसा होती रहती है।

ऐसे दुःखमयी स्थानों में जन्म लेकर यह जीव अनन्त-अनन्त विडंबनाएँ भोग आया है। (फिर भी मनुष्य जन्म को श्रेष्ठ गिनने का कारण यही है कि तीर्थंकर, साधु और बारह व्रतधारी श्रावक वगैरह इसी जन्म में होते हैं। मनुष्य जन्म के बिना मुक्ति भी प्राप्त नहीं हो सकती।

(४) देवगति-दिव्य-उच्च गति वाले जीव देवता कहलाते हैं। देवताओं के १६८ भेद हैं। मूल में देवता चार प्रकार के हैं—(१) भवनपति, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

असुरकुमार, नागकुमार सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, द्वीपकुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार, यह दस तथा पूर्वोक्त १५ परमाधामी मिलकर २५ प्रकार के भवनपति देवता हैं। यह नरक के प्रथम अन्तर में निवास करते हैं।

पिशाच, भूत यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, इसिवाई, भूईवाई, आनपन्नी, पानपन्नी, कदिय, महाकदिय, कोहंड और पहदेव, यह सोलह व्यन्तर तथा अन्नजृम्भक, पानजृम्भक, लयनजृम्भक, शयनजृम्भक, वस्त्रजृम्भक पत्रजृम्भक, पुष्पजृम्भक, फल जृम्भक, बीजजृम्भक और अग्निपत्रजृम्भक, यह दस जृम्भक देव मिल कर कुल २६ भेद गिने जाते हैं। यह पहले नरक के ऊपर पृथ्वी के नीचे रहते हैं।

चन्द्र सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे, यह पाँच अढ़ाई द्वीप में चलते-फिरते हैं और अढ़ाई द्वीप से बाहर स्थिर हैं। इस प्रकार चर-अचर के भेद से ज्योतिष्क देव दस प्रकार के गिने जाते हैं।

तीन पल्योपमिक, तीन सागरोपमिक और तेरह सागरोपमिक, यह तीन नीच जाति के किल्विषी देव हैं। ❀

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र ब्रह्म, लान्तक महाशुक्र सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, यह बारह देवलोक (स्वर्ग) हैं। सारस्वत, आदित्य, वरुण, वह्नि, गर्दतोय, तुषित, अरिष्ठ, अग्निदेव और अव्याबाध, यह नौ लौकान्तिक उच्च देव हैं, जो पांचवें देवलोक में रहते हैं।

भद्र, सुभद्र, सुजात, सुमानस, सुदर्शन, प्रियदर्शन, आमोह, सुप्रविभद्र और यशोधर यह नौ ग्रैवेयक हैं।

विजय, वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्ध, यह पाच अनुत्तर विमान हैं। विमानों के भेद के अनुसार देवों के भी भेद होते हैं। अतएव २५+२६+१०+३+१२+९+९+५=९९ भेद हुए। इन सब के पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से १९८ देवों के भेद होते हैं।

अन्य तीन गतियों की अपेक्षा देवगति में सुख की अधिकता है। सब वैक्रिय शरीर के धारक हैं। मन चाहे जैसे और मन चाहे जितने रूप बना सकते हैं। देवता निरोगी, महादिव्य एव सदा तरुण शरीर वाले होते हैं। इनकी जघन्य (कम से कम) आयु दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम की होती है। सैकड़ों-हजारों वर्षों में क्षुधा लगी कि तत्काल सर्व दिशाओं में से, रोम-रोम से, शुभ पुद्गलों का आहार करके तृप्त हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार से अनन्योपम विषयसुख भोगते हैं। इनके सामान्य नाटक में दो हजार वर्ष और बड़े नाटक में दस हजार वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। वहाँ रात्रि नहीं होती। सदा महाप्रकाश बना रहता है।

देव इतने सुखों के भोक्ता होने पर भी दुखी हैं, क्योंकि आखिर तो क्षुधावेदनीय उन्हें भी लगी है! फिर सब देवताओं का दर्जा एक-सा नहीं है। कितनेक इन्द्र (राजा के समान) हैं तो कितनेक सामानिक

❀ तीन पल्योपमिक देव ज्योतिषचक्र के ऊपर रहते हैं। तीन सागरिक दूसरे देवलोक के ऊपर और तीसरे के नीचे रहते हैं। तेरह सागरिक छठे देवलोक के पास रहते हैं। यह विद्रूप और हीन स्थिति वाले हैं। चार तीर्थ का निन्दक, धर्मद्रोही और निह्नव इस देवयोनि में जन्म लेता है।

(इन्द्र की बराबरी के होने पर भी प्रभुता से रहित) है । कोई-कोई त्रायस्त्रिंशक है अर्थात् पुरोहित आदि के समान हैं । कोई-कोई आत्मरक्षक (पहरेदार) है । कोई-कोई पारिषद्य है तो कोई-कोई अनीक (सैनिक) हैं । कोई गाने वाले हैं तो कोई नाचने वाले भी हैं । कोई आभियोग्य (नौकर) है तो कोई प्रजा के समान है । कोई लोकपाल है तो और किल्विषी है । यह दस प्रकार का श्रेणीभेद बारह देवलोकों तक है। इनमें जो अधिक ऋद्धि वाले देव हैं, उन्हें देखकर कम ऋद्धि वाले देव लज्जित होते हैं और पश्चात्ताप करते हैं कि मैं ऐसा क्यों नहीं हुआ ! कोई-कोई व्यभिचारी देव अन्य देवों की सुरूपा देवी का अपहरण करते हैं अथवा वस्त्राभूषण का अपहरण करते हैं, तो इन्द्र उन्हें दण्ड देता है, वज्र का प्रहार करता है। इससे उन्हें छह महीनों तक महावेदना भोगनी पड़ती है।

सब से बड़ा दुःख मृत्यु का है। देव इस दुःख से बचे नहीं है। मृत्यु से छह महीने पहले उन्हें आलस्य आने लगता है, चित्त में भ्रम पड़ने लगता है और माला कुम्हलाने लगती है। महल, वस्त्रों और आभूषणों की ज्योति मन्द प्रतीत होने लगती है, वह अच्छे नहीं लगते। इत्यादि चिह्नों से देवता अपना मृत्यु सन्निकट जान कर चिन्ता और शोक में डूब जाते हैं कि—हाय ! ऐसे सुख को छोड़ कर अब अशुचि स्थान में उत्पन्न होना पड़ेगा। इस प्रकार महाशोक के सागर में डूबे हुए वे आयुष्य समाप्त करते हैं।

बारहवें देवलोक से ऊपर के देवता अहमिन्द्र हैं, उन पर कोई मालिक नहीं है। परन्तु वे भी क्षुधा और मृत्यु की पीडा तथा मानसिक पीडा का अनुभव करते हैं। पाँच अनुत्तर विमानों को छोड कर बाकी सब जगह यह जीव अनन्त बार उपज कर मर चुका है। संसार की कोई ऐसी विडम्बना नहीं है जो इस आत्मा ने अनन्त बार न भोगी हो।

चार गतियों के दुःखों का यहाँ संक्षेप में वर्णन किया गया है। नरक और निगोद के दुःख अपार हैं। यों सारा संसार दुःखों से भरा है।

> थी धी धी संसारे, देवो मरिऊण जं तिरिय होइ ।
> मरिऊण रायराया परिपच्चइ निरयजालाए ॥
>
> —जैन वैराग्यशतक

अर्थात्—किसी को एक बार और किसी को दो बार धिक्कार दिया जाता है, परन्तु इस संसार को तीन बार धिक्कार है, क्योंकि देवता जैसे महाऋद्धिशाली और महान् सुख के भोक्ता भी मर कर पृथ्वीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय आदि एकेन्द्रिय तिर्यंच जाति में उत्पन्न हो जाते हैं और राजाओं के राजा अर्थात् चक्रवर्ती भी मर कर नरक में चले जाते हैं।

जरा आश्चर्य की बात तो देखिए। चक्रवर्ती का जीव मर कर नरक में गया है और उसका शरीर यहाँ पड़ा है। यहाँ उसके शरीर का संस्कार, अर्चना, शृंगार आदि किया जाता है और वहाँ परमाधामी देव उस जीव को मारते हैं, दुस्सह यातनाएँ पहुँचाते हैं। देखिए क्या शरीर के हाल और क्या जीव के हाल !

हे जीव ! महान् पुण्योदय से प्राप्त मनुष्य जन्म आदि सामग्री का लाभ ले। भवभ्रमण से छूटने का उपाय कर। अनन्त, अक्षय, अव्याबाध मोक्षसुख को प्राप्त कर।

धर्मध्यान के ध्याता की चार अनुप्रेक्षाओं (विचारणाओं) का स्वरूप कहा। इन भावनाओं में रमण करने से धर्मध्यान में एकाग्रता प्राप्त होती है।

धर्म ध्यान का फल

इस धर्म ध्यान में एकान्त एकाग्रता न होने से अर्थात् पुद्गल-परिणति से मिश्रित विचार और प्रवृत्ति होने से एकान्त रूप से कर्मनिर्जरा न होकर पुण्य की अधिकता होती है। इस पुण्यफल को भोगने के लिए ध्यान की अधिकता एवं गंभीरता के अनुरूप उच्च या उच्चतर देव गति प्राप्त होती है।

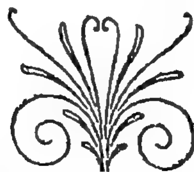
स्वर्गलोक में उत्पन्न होने की शय्या है। उस पर एक देवदूष्य नामक वस्त्र ढँका हुआ होता है। धर्मध्यानी का जीव यहाँ से शरीर त्याग करके उस शय्या में जाकर उत्पन्न होता है। एक मुहूर्त्त के पश्चात् पर्याप्तियाँ पूर्ण करके उस वस्त्र को ओढ़ कर (शरीर को ढँक कर) बैठ जाता है। उसी समय उसके आज्ञांकित देव और देवियाँ ❋ अत्यन्त हर्ष के साथ वहाँ एकत्र होते हैं और हाथ जोड़ कर अत्यन्त नम्रता-पूर्वक पूछते हैं—आपने क्या करनी की थी, जिससे आप हमारे नाथ बने?

देवों में जन्मते ही स्वाभाविक रूप से अवधिज्ञान होता है। नवोत्पन्न देव यह प्रश्न सुनकर अवधि-ज्ञान के प्रयोग से अपने पूर्वभव का हाल जानता है और देवलोक की ऋद्धि से चकित होकर अपने पूर्वभव के सम्बन्धियों को चेतावनी देने के लिए तैयार होता है। तब वहां के देव कहते हैं—एक मुहूर्त्त मात्र हमारा नाटक देखकर जो आपकी इच्छा हो सो कीजिए।

यह कहकर वे देव सामान्य नाटक करते हैं। उस नाटक के अभिनय में यहां के दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। तब तक यहाँ के सम्बन्धी मर-खप जाते हैं और वह देवता भी स्वर्गीय सुखों में लुब्ध हो जाता है।

बारह देवलोक के ऊपर के सब देव अहमिन्द्र हैं, अर्थात् सब बराबरी के हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं है। इस कारण वहाँ नाटक आदि करने वाला कोई नहीं है। किन्तु बारहवें स्वर्ग के ऊपर अल्पमोही जीव ही उत्पन्न होते हैं। उनकी रुचि ज्ञान-ध्यान के सिवाय दूसरी तरफ मन्द ही होती है। वे सावधान होते ही पूर्वसम्पादित ज्ञान के ध्यान में तन्मय हो जाते हैं। उनका तेतीस सागरोपम का आयुष्य परमानन्द परम-सुख में व्यतीत हो जाता है।

वहां का आयुष्य पूर्ण करके वे मनुष्य होते हैं। उन्हें दस उत्कृष्ट वस्तुओं का योग मिलता है। + ऐसे मनुष्य देवता के जघन्य तीन और उत्कृष्ट १५ भव या सख्यात भव करके शुक्लध्यानी बनकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।



❋ दूसरे देवलोक से ऊपर देवियाँ उत्पन्न नहीं होतीं।

+ (१) उत्तम क्षेत्र, मकान, धन, गाय आदि पशु और नौकर-चाकर (२) सन्मित्र (३) ज्ञात-परिवार (४) उच्च गोत्र (५) सुन्दर शरीर (६) नीरोगता (७) तीव्र बुद्धि (८) यश (९) विनीतता (१०) बल-पराक्रम, इन दस बोलों का जहाँ संयोग हो, वहाँ पुण्यात्मा अवतार लेते हैं।

उपशाखा-शुद्धध्यान

गुप्तेन्द्रियमना ध्याता, ध्येयं वस्तु यथास्थितम् ।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं, फलं संवरनिर्जरे ॥

अर्थात—शुद्ध ध्यान करने वाले पाँच इन्द्रियों को और मन को अपने अधीन करके, शुद्ध वस्तु की ओर एकाग्रता-अभिन्नता-स्थापित करके निश्चल होकर ध्यान करते हैं। इस ध्यान का फल संवर (आगामी कर्मों का निरोध) और निर्जरा (पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय) होता है। इससे समस्त कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष के अनन्त अक्षय अव्याबाध सुख की प्राप्ति होती है। अतएव मुमुक्षुओं को शुद्धध्यान की विशेष आवश्यकता है। यहाँ इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है।

उल्लिखित श्लोक में शुद्धध्यान करने के लिए इन्द्रियों का और मन का निग्रह-गोपन-करने की आवश्यकता बतलाई है। परन्तु इन्द्रियाँ भी मन के अधीन हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

एगे जिए जिया पंच।

अर्थात्—एक मन को जीतने से पाँचों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं और भी कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात—कर्मबन्ध का और कर्ममुक्ति का प्रधान कारण मन ही है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि इस कथन के ज्वलन्त उदाहरण हैं। * अतएव मनको जीतने की आवश्यकता है। गीता में कहा है—

---

* राजगृह नगर के महाराजा श्रेणिक, गुणशील बाग में विराजमान भगवान् श्री महावीर के दर्शन करने जा रहे थे। मार्ग में वह प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को सूर्य के ताप में अडोल ध्यान में मग्न देख आश्चर्य चकित हो गये। भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में पहुँच कर, नमस्कार करके प्रश्न पूछा—भगवन्! प्रसन्नचन्द्र राजर्षि दुष्कर तप कर रहे हैं। वह आयुष्य पूर्ण करके कहाँ उत्पन्न होंगे ?

भगवान्—अभी मरें तो पहले नरक में।
श्रेणिक—ऐं ? पहले नरक में ?
भगवान्—नहीं दूसरे नरक में !
श्रेणिक—प्रभो! यह क्या दूसरे नरक में ?
भगवान्—नहीं तीसरे में।

इस प्रकार आश्चर्यचकित हो श्रेणिक प्रश्न करते गये और भगवान् चौथी, पाँचवीं, छठी यावत् सातवीं नरकभूमि बतलाते गए। श्रेणिक ने फिर चकित होकर पूछा—ऐसे महामुनि सातवें नरक में जाएँगे ? तब भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं छठे में। इस प्रकार श्रेणिक पूछते गये और भगवान् पाँचवीं, चौथी, तीसरी, दूसरी, प्रथम नरकभूमि और फिर भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, देवलोक, ग्रैवेयक और अनुत्तरविमान का नाम फरमाते गए। उसी समय देवदुंदुभी का निर्घोष सुनाई पड़ा। तब श्रेणिक ने पूछा—महाराज! यह देवदुंदुभी क्यों बजी ?

भगवान्—उन प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है।

यह सुनकर श्रेणिक अत्यन्त ही विस्मित होकर पूछने लगा-भंते! बड़े आश्चर्य की बात है कि अभी तो सातवाँ नरक फरमाते थे और अभी केवलज्ञान प्राप्त हो गया! इसका क्या कारण है ?

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥

—भगवद्गीता

श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! मन को वश में करना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि मन अति चपल है, किन्तु निरन्तर अभ्यास करने से और वैराग्य से वश में हो सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र भी कहते हैं —

अतिचञ्चलमतिसूक्ष्मं सुदुर्लभं वेगवत्तया चेतः ।

अर्थात् यह मन अत्यन्त चपल होते हुए अति सूक्ष्म भी है। अतएव इसकी गति को रोकना बड़ा कठिन है।

किसी से भी पूछ देखो कि—भाई, तुम मन को वश में कर सकते हो ? तो वह यही कहेगा—बहुत उपाय करते हैं, परन्तु पापी मन वश में नहीं रहता है। क्या करें ? ऐसे चपल मन को वश में करने का उपाय इस श्लोक में बतलाया है कि निरन्तर के अभ्यास से जो वैराग्य प्राप्त करता है, वह मन को वश में कर सकता है।

पाँच इन्द्रियों के छिद्रों द्वारा शब्दादिक विषयों का प्रवेश होता है। उनका ग्रहण होने से मन राग-द्वेषमय परिणत होकर सुखी या दुखी बनता है। मन की राग-द्वेष रूप परिणति को रोकना ही वैराग्य कहलाता है। राग-द्वेष रूप परिणति में परिणत होना मन का अनादि काल का स्वभाव पड़ रहा है। अतएव एकाएक उसका रुकना बहुत ही कठिन है। फिर भी रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे जोश के साथ उमड़ते आते नदी के पूर को कोई एकदम रोकना चाहे तो वह नहीं रुक सकेगा, किन्तु उसे पलटने का प्रयत्न किया जाय तो वह हो सकता है। बस, इसी प्रकार मन के वेग को पलटने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए ? जिन-जिन शब्दादिक विषय रूप पुद्गलों की ओर मन आकर्षित हो, उसी समय उन पुद्गलों के स्वभाव गुण और फल की ओर मन को फिरा दिया जाय और विचार किया जाय कि यह क्षणिक और कटुक फल देने वाले हैं। हर समय ऐसा अभ्यास रखने से मन किसी समय इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त हो जाएगा।

भगवान्—तुम्हारे साथ के एक सुभट ने उन मुनि को देख कर कहा था 'यह साधु बड़ा निर्दय है। छोटे से बच्चे पर राज्य का भार डाल कर आप साधु बन गया है और बेचारे उस बच्चे को परचक्री सता रहा है।' यह सुनते ही राजर्षि क्रोधातुर हो उस परचक्री के साथ मनोमय संग्राम करने लगे। राजन् उसी समय तुमने पृच्छा की। राजर्षि ने अनेक सैन्य सुभटों का संहार करके शत्रु को मारने के उद्देश्य से, चक्र लेने के लिए सिर पर हाथ डाला (उस समय सातवें नरक के योग्य कर्मदलिक सञ्चित किये थे) तो रुंडमुंड मस्तक पाया।

राजर्षि उसी समय चौंक उठे। उन्हें भान हुआ कि मैंने साधु होकर यह क्या पाप कर डाला ? (उसी समय संचित कर्मदलिक क्षीण होने लगे जैसे-जैसे ऊंचे चढते गये, शुद्ध विचार में एकाग्र होने से घातिया कर्म नष्ट हो गये। तब केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। (शुद्ध ध्यान की यह महिमा है !) यह सुनकर राजा श्रेणिक अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा भगवान् को एवं अन्य श्रमणों को वन्दना कर अपने स्थान की ओर गये।

और फिर मन को ध्यान में स्थिर करने के लिए एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि यकायक मन का एकाग्र होना कठिन है, तथापि अभ्यास से वह भी हो सकता है। नित्य नियम के रूप में जो क्रिया की जाती है सर्वप्रथम उसी में चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रतिक्रमण करना हो तो प्रतिक्रमण के शब्दार्थ आदि में ही मन को गड़ा देना चाहिए। उस विचार को छोड़ कर दूसरी ओर नहीं जाने देना चाहिए। इसी प्रकार स्वाध्याय करते समय स्वाध्याय में, धर्मकथा करते समय धर्मकथा में, गोचरी करते समय गोचरी में और आहार करते समय आहार में एकाग्र करना चाहिए। इस तरह समस्त दिवस एवं रात्रि सम्बन्धी कार्यों में सदा सर्वकाल, क्षण भर का व्यवधान डाले बिना मन की एकाग्रता का अभ्यास करना आवश्यक है। यों कुछ समय तक अभ्यास करते रहने से मन सहज ही एक वस्तु पर टिकने लग जाता है। फिर तो किसी भी इष्ट पदार्थ पर उसकी एकाग्रता हो सकती है। इस प्रकार अभ्यासयुक्त वैराग्य मन को अडोल ध्यानी बनाता है।

किस पर एकाग्रता की जाय और किस वस्तु का ध्यान किया जाय, यह बात आगे के प्रकरण में बतलाई जाती है।

प्रथम प्रतिशाखा

आत्मा

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।'

—श्रीमदाचारांग, अ. ३, उ. ४

अर्थ—जो एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वही एक को जानता है। ✻

सहज ही प्रश्न उठता है—वह एक पदार्थ कौन-सा है? और कैसा है कि जिसको जानने से सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है? उसी का स्वरूप यहाँ दिखलाया जाता है।

वह वस्तु आत्मा है। आत्मा के तीन भेद हैं-(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा।

✻ एको भावः सर्वथा येन दृष्टः,
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः,
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

जिसने एक पदार्थ को पूर्ण रूप से देखा, उसने समस्त पदार्थों को पूर्ण रूप से देखा और जिसने समस्त पदार्थों को पूर्ण रूप से देखा, उसने एक पदार्थ को पूर्ण रूप से देखा।

निज रूपे निज वस्तु है, पर रूपे पर वस्त।
जिसने जाण्यो पेच यह, उसने जाणा समस्त॥

प्रथम पत्र-बहिरात्मा

(१) बहिरात्मा-रक्त मास आदि धातुओं से बना हुआ, प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह हाडों का पींजरा, जो रंग-बिरंगी चमड़ी से ढँका हुआ है। मनुष्यों और तिर्यञ्चों (पशुओं) का शरीर तथा अन्य अशुभ पुद्गलों (वस्तुओं) से बना नरकनिवासी जीवों का शरीर और शुभ पुद्गलों से बना हुआ देवलोक-निवासी जीवों का शरीर। यह सब बहिरात्मा कहलाता है, क्योंकि अज्ञानी जीव इसी को आत्मा माने बैठे हैं। वे अपने शरीर को हाथ लगा कर कहते हैं—मैं गोरा हू, मैं काला हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं छोटा हूँ मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ मेरा छेदन-भेदन होता है, मेरे अंगोपांग दुखते हैं, कहीं मेरे आत्मा का विनाश न हो जाय! अज्ञानी जीव इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों के पोषण में मजा मानते हैं। मैं स्त्री हू, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ, इत्यादि विचार करके परस्पर भोग में आनन्द मानते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो शरीर को आत्मा माने, शरीर के सुख-दुःख से अपना सुख-दुःख माने, शरीर की पुष्टि से हर्ष और कष्ट से दुःख मानते हैं, वे बहिरात्मा (शरीर) को आत्मा मानने वाले+ अज्ञानी हैं।

शुद्धध्यान के ध्याता को इस अनादिकालीन भाव को मिटाने, देहाध्यास त्यागने और परिणामों की विशुद्धि करने के लिए विचार करना चाहिए कि यह शरीर पुद्गलों के संयोग से निपजा है और आत्मा अरूपी तथा अमूर्त्त है। दोनों में बड़ा अन्तर है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है —

> नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
> अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
> अज्झत्थहेऊ नियस्स बन्धो,
> संसारहेउं च वयंति बन्धं ॥

अर्थात्—मूर्तिक पदार्थ ही इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं और जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, वे जड़ होते हैं। परन्तु यह चेतन तो अमूर्तिक (अरूपी) है। उसे इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं। वह जड़ नहीं है अविनाशी और नित्य है। अनादि देहाध्यास के कारण जड़ और चेतन एक रूप प्रतीत हो रहे हैं, जैसे दूध और घृत। यह जड़ और चेतन का संबंध ही संसार का कारण है।

इस अनादि संबंध का अन्त करने के लिए श्री आचारांग सूत्र में फर्माया है —

> जे एगं णामे से बहू णामे,
> जे बहू णामे से एगं णामे।

अर्थात्—जो एक मोह (ममत्व) को नमाता है, वह बहुतों को नमाता है, अर्थात् समस्त कर्मों को नमाता है। और जो बहुत (सर्व) को नमाता है, वही एक (ममत्व) को नमाता है।

+ देहात्मबुद्धिज पाप, न तद् गोवधकोटिभि ।
आत्माऽहंबुद्धिज पुण्य, न भूतो न भविष्यति ॥
अर्थात्—जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, उन्हें करोड़ों गायों का वध करने वालों से भी अधिक पाप लगता है और मैं आत्मा हूँ ऐसे विचार वाले को जितना पुण्य होता है, उसकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती।

और भी कहा है.—

एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ,
पुढो विगिंचमाणे एगं विगिंचइ ॥

अर्थात्—जो एक (मोह) को खपाते हैं, वे सब (कर्मों) को खपाते है और जो सब को खपाते हैं, वही एक को खपाते हैं।

इस प्रकार विचार करके, शरीर में आत्मबुद्धि का परित्याग कर, ममता का त्याग करके अन्तरात्मा की ओर लक्ष्य देना चाहिए।

द्वितीय पत्र-अन्तरात्मा

अन्तरात्मा में रमण करते हुए ध्यानी विचार करते हैं—मैं जिसे 'मैं' कह कर संबोधन करता हूँ, सो केवल लौकिक व्यवहार से करता हूँ। क्योंकि आत्मा निष्कलंक है। इसे कौन संबोधन कर सकता है? आत्मा तो आत्ममय पदार्थ को ही ग्रहण करता है, अन्य को नहीं। अन्य को तो अन्य ही ग्रहण करते हैं। ऐसा भेदविज्ञान (जड़ और चेतन की भिन्नता का भान) जिसे होता है वही अन्तरात्मा (निज आत्मस्वरूप) की ओर लक्ष्य देता है।

अंधकार में स्तंभ मनुष्य के रूप में प्रतिभासित होता है, किन्तु अंधकार के नष्ट होने पर वह यथा तथ्य स्तंभ का स्तंभ ही दीखता है। प्रकाश होने पर भ्रम का विनाश हो जाता है। इसी प्रकार अनन्त सूर्य के प्रकाश से भी अधिक जाज्वल्यमान जड़-चेतन का भेदविज्ञान होने पर आत्मा का यथार्थ प्रतिभास होता है।

अन्तरात्मविज्ञानी के विचार

१—स्त्री-पुरुष आदि की जो पर्याय है, वह कर्मजनित पर्याय है। वह चेतन का स्वभाव नहीं है। चेतन तो निर्वेद और निर्विकार है। तो फिर हे आत्मन्! विकारी वस्तुओं को देखकर क्यों विकारी बनता है?

२—शत्रु-मित्र की जो भावना उत्पन्न होती है, वह भी कर्मस्वभाव है। निश्चय में तो 'अप्पा मित्त ममित्त च' अर्थात् आत्मा स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही अपना शत्रु है। अकृत्य से निवृत्त हो तो अपनी आत्मा ही मित्र है, नहीं तो शत्रु का काम करता ही है। ऐसा विचार करके शत्रु-मित्र पर तथा अच्छी-बुरी वस्तु पर समभावी बने, राग-द्वेष न करे।

३—इतने दिनों तक मैं बालक की तरह अनेक चेष्टाएँ करता रहा सो अन्य की प्रेरणा से कर रहा था, चेतन की प्रेरणा से नहीं। चेतन तो अनन्तज्ञानादिक शक्ति का धारक है। वह किसी भी प्रकार की कोई भी चेष्टा (खेल-तमाशा) नहीं करेगा।

४—इतने दिनों तक बाह्य पदार्थ सच्चे और प्रिय-अप्रिय मालूम पड़ते थे। अब वही स्वप्न और इन्द्रजाल सरीखे क्षणभंगुर और निस्सार मालूम पड़ने लगे। ऐसी स्थिति में इनका क्या भरोसा? असत्य को सत्य मानना तो मिथ्यात्व है।

५—जिस परमात्मा को अविनाशी कहा जाता है, वह मैं ही हूँ। फिर किसी भी जड़ या चेतन के द्वारा मेरा विनाश हो, यह मिथ्या भ्रम है। 'मरे सो और, और मैं और,' इस विचार से निर्भय बने।

६—अहा ! आश्चर्य है कि जिन कामों से या जिन कारणों से अज्ञानी जीव कर्म का वन्ध करते है, उन्हीं कामों एव कारणों से ज्ञानी जन कर्म-वन्धन को तोड़ कर निर्मुक्त वनते हैं। इस विचार से सब से ममत्व घटावे।

७—इतने दिनों तक मैं नाना रूप धारण करके ससार-परिभ्रमण करता रहा, इसका कारण भेद-विज्ञान का अभाव ही था। अव मैं भेदविज्ञान में ही रमण करूँगा।

८—भेदविज्ञान रूपी जगत्तारक वाहन (जहाज) सभी प्राप्त कर सकते हैं, वह सब के सामने जा रहा है, फिर भी अनन्त जाव ससार-सागर में डूब रहे हैं। इसका एक मुख्य कारण भेदविज्ञान का अज्ञान ही है। अब मैं तो इस अज्ञान से छुटकारा पाऊँ।

९—क्या मजा है ! यह आत्मा, आत्मा के द्वारा ही पहचानी जाती है। न चश्मे से और न दूरवीन से देखी जा सकती है। इसे देखने के लिए किसी भी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है।

१०—आश्चर्य की बात तो यह है कि ज्ञानी जन जिन विषयों को अप्रिय, दुःख का निमित्त एव अकल्याण कर मानते हैं, उन्हीं को अज्ञानी प्रिय और सुख का साधन समझते हैं। तप-सयम आदि ज्ञानियों को सुखदाता भासित होते हैं, उनको अज्ञानी अप्रिय और दुःखदाता समझते हैं।

११—'वही हूँ मैं वही हूँ मैं' (सोऽहम्, सोऽहम्) इस प्रकार की प्रवल एव एकनिष्ठ भावना करता हुआ यह आत्मा परमात्म-पद प्राप्त कर लेता है। कहा है—'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। इससे बढ़ कर सद्‌बोध और क्या होगा ?

१२—मैंने मेरी ही उपासना आरभ कर दी तो फिर अन्य की उपासना करने की क्या आवश्यकता ? क्योंकि मैं स्वय परमात्म स्वरूप हू। *

१३—भेदविज्ञानी को दुष्कर तप से महान् उपसर्ग भी किंचित् मात्र खिन्न नहीं कर सकते, चलित नहीं कर सकते।

१४—राग आदि शत्रुओं के क्षय से अथवा उनकी मन्दता से ही अन्तरात्मा का ध्यान होता है।

१५—जो भ्रमरहित होकर जीव और देह को अलग-अलग समझेगा, वही कर्मवन्धन से छूट कर मोक्ष प्राप्त करेगा। रागादि शत्रु शान्त हुए कि आत्मा का दर्शन होने लगा।

१६—अज्ञान और विभ्रम के हटने से ही आत्मतत्त्व का भास होता है।

१७—जिस काया को प्राणप्यारा समझ रक्खा था, ज्ञान होने पर वही काया तप सयम आदि में गला दी जाती है।

१८—आत्मज्ञान के अभाव में, कोरी तपस्या करने से दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकता।

१९—वहिरात्मा रूप, धन, वल, विषयसुख आदि का अहोनिशि ध्यान किया करता है और अन्त-रात्मा इनसे विरक्त रहता है।

२०—अज्ञानी सिर्फ बाह्य त्याग से सिद्धि मानते हैं और ज्ञानी बाह्य एव आन्तरिक—दोनों प्रकार की उपाधियों के त्याग से सिद्धि मानते हैं।

---

* य परमात्मा स एवाह, योऽह स परमस्तत ।
अहमेव मयाऽऽराध्यो, नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥

अर्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। अत मुझे अपनी ही आराधना करनी चाहिए। यही वास्तविक तथ्य है।

२१—अध्यात्मनिष्ठ ज्ञानी व्यवहार साधने के लिए वचन और काया से अन्यान्य कार्य करते; भी मन से एकान्त अन्तरात्मा में ही लीन रहते हैं।

२२—आत्मसाधना करते समय जो उपसर्ग और परीषह सहन करने पड़ते हैं, उन्हें अध्यात्मनि महात्मा दुःख रूप नहीं समझते हैं। यही नहीं, बल्कि सुख रूप समझते हैं, जैसे रोगी कटुक औषध के स्व को न देखता हुआ गुण का ही गवेषक होता है। +

२३—ज्ञानी पुरुष को आत्मसाधना के सिवाय अन्य कार्य करने का अवकाश ही नहीं मिलता है

२४—परमानन्द तो आत्मा में ही है, भोले! बाहर क्या खोजता फिरता है!

२५—इच्छा ही संसार है और इच्छा का त्याग करने से सहज ही संसार छूट जाता है।

२६—जैसे पहने हुए वस्त्र जीर्ण होते हैं, बेरंगे हो जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं, शरीर जीर्ण, बेरंग और नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार शरीर और आत्मा के विषय में भी समझो।

२७—अज्ञानी जीव परवस्तु में अज्ञान के कारण मजा मानते हैं और ज्ञानी भ्रमहीन होने से अन्त-रात्मा में ही आनन्द की अनुभूति करते हैं।

२८—स्थिर स्वभावी ही मोक्ष पाते हैं। स्थिरता ही सम्यग्दर्शन की ऋद्धि है।

२९—लौकिक प्रीति से वचनालाप, वचनालाप से चित्त विभ्रम, चित्त विभ्रम से विकलता और विकलता से चंचलता, इस प्रकार एक से दूसरा दुर्गुण बढ़ता चला जाता है। अतएव लौकिक प्रीति का त्याग करके आत्मप्रेम ही धारण करना उचित है।

३०—जब ज्ञान होता है तो जगत् बावला सा दिखाई पड़ता है और जब ध्यान होता है तब वस्तु का यथार्थ स्वरूप भासित होने लगता है। उस स्थिति में पदार्थ का जैसा स्वरूप है, वैसा ही दीखता है, अर्थात् राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं।

३१—आत्मा आत्मा के द्वारा ऐसा विचार करे कि 'मैं आत्मा ही हूँ, शरीर से न्यारा हूँ।' ऐसा दृढ़ निश्चय होने से फिर स्वप्न में भी देहाध्यास न होगा। इसी से आत्मसिद्धि प्राप्त होगी।

३२—जाति और लिंग की अहंता त्यागने से ही सिद्धि होती है।

३३—जैसे बत्ती दीपक के साथ जुड़ कर स्वयं दीपक रूप बन जाती है, उसी प्रकार आत्मा सिद्ध-स्वरूप का अनुभव करने से सिद्धरूप हो जाता है।

३४—आत्मा का आराध्य आत्मा ही है, अन्य नहीं। आत्मा आत्मा की आराधना करने से ही परमात्मा बनता है। जैसे—काष्ठ से काष्ठ रगड़ा जाने से अग्नि उत्पन्न होती है।

३५—'मैं मर गया' ऐसा स्वप्न आने से आप मरते नहीं हैं, इसी प्रकार जागृत अवस्था में भी आपके मरने से आत्मा मरती नहीं है।

३६—ज्ञानी जन अवसर, शक्ति, अभ्यास, समय, विनय, स्वसमय परसमय (स्वमत-परमत) अभिप्राय, इत्यादि का विचार करके निष्काम होकर प्रवृत्ति करते हैं।

\+ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

अर्थ—इस आत्मा को तीक्ष्ण शस्त्र भी छेद नहीं सकता, प्रचण्ड आग भी जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता! फिर डर काहे का!

३७—शरीर जैसे बाहर असार है, वैसे ही अन्दर भी।

३८—ममत्व का अभाव ही मुक्ति का मार्ग है।

३९—लोक का स्वरूप जान कर लोकमझा और लौकैषणा से दूर रहो।

४०—परमार्थदर्शी मोक्षमार्ग के सिवाय अन्यत्र रति (सुख) का अनुभव नहीं करते। वही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

४१—केवली भगवान् को न बन्ध है, न मोक्ष है।

४२—परमार्थदर्शी को कुछ भी जोखिम नहीं है।

४३—अज्ञानी सदा सोया रहता है, ज्ञानी सदैव जागृत है।

४४—जो शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श की सुन्दरता-असुन्दरता में समभाव रखते हैं, वही ज्ञान और ब्रह्म (निर्विकल्प सुख) को जानते हैं और वही लोकालोक को जानते हैं।

४५—कर्मबन्धन को काटने से ही पवित्र आत्मा के दर्शन होते हैं।

४६—जो अपनी ओर देखता है, वही सब ओर देखता है।

४७—जो क्रोध को छोड़ेंगे, वे मान को छोड़ेंगे जो मान को छोड़ेंगे वे माया को छोड़ेंगे, जो माया को छोड़ेंगे वे लोभ को छोड़ेंगे, जो लोभ को छोड़ेंगे वे राग को छोड़ेंगे, जो राग को छोड़ेंगे वे द्वेष को छोड़ेंगे, जो द्वेष को छोड़ेंगे वे मोह को छोड़ेंगे, जो मोह को छोड़ेंगे वे गर्भ से छूटेंगे, जो गर्भ से छूटेंगे वे जन्म से छूटेंगे, जो जन्म से छूटेंगे वे मरण से छूटेंगे, जो मरण से छूटेंगे वे नरक से छूटेंगे जो नरक से छूटेंगे वे तिर्यञ्चगति से छूटेंगे जो तिर्यञ्चगति से छूटेंगे वे समस्त प्रकार क दु ख से छूट जाएँगे।

४८—आत्मज्ञान के बिना शास्त्रज्ञान निकम्मा है।

४९—इन्द्रियों के सुख का त्याग कर आत्मज्ञान प्राप्त करने की साधना करते समय ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इन्द्रियों के सुख छूटने से दुखी बन जाते हैं, क्योंकि आत्मज्ञान की सिद्धि होने पर सारा जगत् अमृतमय ही बन जाता है। उस अलौकिक अमृतपान से जन्म-मरण का दु ख दूर हो जाता है और आत्मा परमसुखमय बन जाता है।

५०—हे आत्मन ! परमार्थदृष्टि खोल और निश्चय कर कि-'मैं अतीन्द्रिय हूँ अर्थात् मेरे इन्द्रियाँ नहीं हैं। मैं इन्द्रियों का गोचर भी नहीं हूँ। इन्द्रियों के विषय शब्द आदिक हैं और वे आत्मा में नहीं हैं। अतएव मैं अतीन्द्रिय हूँ और अवश्य हूँ अर्थात् वचन के द्वारा मेरा वर्णन नहीं हो सकता-वचनागोचर हूँ। मैं अमूर्त्तिक हूँ चैतन्यमय हूँ, आनन्दमय हूँ।' ऐसा विचार कर निज रूप में निमग्न होना चाहिए।

५१—हे आत्मन् अपने स्वरूप का ऐसा विशुद्ध और निर्मल अनुभव कर कि यह आत्मा समस्त लोक के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाला अद्वितीय सूर्य है। ससार में सामान्य अग्नि से दीपक का, दीपक से मसाल का ममाल से गैस का और गैस से बिजली का प्रकाश अधिक गिना जाता है। इन सब कृत्रिम प्रकाशों से चन्द्रमा का नैसर्गिक प्रकाश अधिक होता है और चन्द्रमा की अपेक्षा भी सूर्य का प्रकाश अधिक होता है, परन्तु आत्मा की ज्योति की बराबरी तो कोटि-कोटि सूर्य मिल कर भी नहीं कर सकते। दीपक आदि का प्रकाश वायु आदि विरोधी वस्तुओं के समर्ग से नष्ट हो जाता है। चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश राहू या मेघों आदि का आवरण होने पर अथवा उनके अस्त होने पर नष्ट हो जाता है। किन्तु आत्मा का प्रकाश

जब पूर्ण रूप में एक बार चमक उठता है तो फिर कभी अस्त नहीं होता। तीन लोक के सूक्ष्म, बादर, चराचर पदार्थ सब एक ही साथ प्रकाशित होने लगते हैं। उस समय आत्मा परमानन्दी बन जाता है।

इस प्रकार के विचारों से प्रवृत्ति करने वाले को अन्तरात्मा समझना चाहिए। अन्तरात्मा को प्राप्त कर लेने पर ही परमात्मा बना जा सकता है।

तृतीय पत्र-परमात्मा

समस्त कर्मों से विनिर्मुक्त, अनन्त ज्ञानादिक अष्ट गुणों से सम्पन्न, सिद्धि को प्राप्त, अजर-अमर-अविकार, अरिहन्त और सिद्ध भगवान् ही परमात्मा हैं।

पुण्यफल

इन तीनों आत्माओं का ध्यान विशेषतया अप्रमत्त मुनि को होता है। क्योंकि अप्रमत्त दशा ही ध्यान में विशुद्धता और उत्कृष्टता उत्पन्न करती है। ध्यान के बल से महामुनि उच्च से उच्चतर गुणस्थानों पर आरूढ़ होते हुए, सुख पूर्वक सर्व कर्मों का क्षय करके सिद्धि-स्थान प्राप्त करते हैं।



द्वितीय शाखा-उपध्यान चार



पिण्डस्थञ्च पदस्थञ्च, रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं, भव्यराजीवभास्करैः ॥

—ज्ञानार्णव अ. ३६

अर्थात्—(१) पिण्डस्थध्यान (२) पदस्थध्यान (३) रूपस्थध्यान और (४) रूपातीतध्यान, यह चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं इनके प्रभाव से भव्य जीवों को केवलज्ञान रूपी भास्कर (सूर्य) की प्राप्ति होती है । इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है:—

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् ।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरञ्जनम् ॥

— बृहद्द्रव्यसंग्रह ।

१—मूल मंत्राक्षरों का स्मरण करना पदस्थध्यान कहलाता है ।

२—स्व-आत्मा के पर्यायों का विचार करना पिण्डस्थध्यान है ।

३—चित्स्वरूप अर्हन्त भगवान् का ध्यान करन रूपस्थध्यान है ।

४—निरजन निराकार सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना रूपातीतध्यान है ।

आगे क्रमशः इन चारों ध्यानों का विस्तार पूर्वक स्वरूप दिखलाया जाता है ।

प्रथम पत्र-पदस्थध्यान

पदों का अर्थात् मंत्रों का ध्यान करना पदस्थध्यान है । मन को तृप्त करने वाले पद (वाक्य) मंत्र कहलाते हैं ।

जगत् में मत-मतान्तरों की विभिन्नता के कारण इष्ट देव सम्बन्धी श्रद्धा में भी भिन्नता आ गई है । अतएव भिन्न-भिन्न मतावलम्बी भिन्न-भिन्न देवों के नाम से मंत्र-रचना करके उनका स्मरण करते हैं । जैसे—ॐ नम शिवाय, ॐ नमो वासुदेवाय, आदि । इसी प्रकार जैनमत में माननीय महामहिम पचपरमेष्ठी हैं । उनका स्मरण सर्वोत्तम है । वह स्मरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है । यथा —

पणतीससोल छप्पण चतुदुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठीवायगाणं, अण्णं च गुरूवएसेणं ॥

—द्रव्यसंग्रह.

अर्थात्—पैंतीस (३५), सोलह (१६), आठ (८), पाँच (५), चार (४) दो (२) और एक (१) अक्षरों के स्मरण से पच परमेष्ठी का जप-ध्यान हो सकता है । इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी, न्यूनाधिक अक्षरों से ध्यान होता है । उसे गुरु के उपदेश के अनुसार समझ कर करना चाहिए ।

३५ अक्षरों का मूल मंत्र

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६
ण मो अ रि ह ता ण, ण मो सि द्धा ण, ण मो आ य रि या ण, ण मो उ व ज्झा या णं,
२७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५
ण मो लो ए स व्व सा हू ण,

१६ अक्षरों का मंत्र

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
अ रि ह त सि द्ध आ चा र्य उ पा ध्या य सा धु +

आठ अक्षरों का मंत्र

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
अ रि ह त सि द्ध सा हू,

पांच अक्षरों का मंत्र

१ २ ३ ४ ५
अ सि आ उ सा

चार अक्षरों का मंत्र

१ २ ३ ४
सि द्ध सा हू

दो अक्षरों का मंत्र

१ २
सि द्ध

एक अक्षर का मंत्र

ॐ *

+ इसमें पंच परमेष्ठी के नाम मात्र हैं।

* इन मंत्रों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आठ अक्षरों के मंत्र में अरिहंत और सिद्ध, यह मूल मंत्र के दो पद कायम रख कर पीछे के तीन पद 'साहू' शब्द में लिये हैं, क्योंकि आचार्य, उपाध्याय और साधु—यह तीनों साधु हैं।

पाँच अक्षरों के मंत्र में अ अरिहन्त का, सि सिद्ध का आ आचार्य का, उ उपाध्याय का और सा साहू का सूचक है। इसमें प्रत्येक परमेष्ठी का वाचक आद्य अक्षर लिया गया है।

चार अक्षरों के मंत्र में अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठी 'सिद्ध' पद में लिये गये हैं, क्योंकि अरिहंत भी निश्चय से उसी भव में सिद्ध होने वाले हैं। अतः उन्हें सिद्ध कहने में कोई हानि नहीं। बाद के तीनों पद साधु में अन्तर्गत किये हैं।

दो अक्षरों के मंत्र में आगे के चारों परमेष्ठियों को सिद्ध पद में ही गर्भित कर दिया है, क्योंकि चारों की इच्छा सिद्ध पद प्राप्त करने की है।

यह पच परमेष्ठी के जाप-स्मरण की सक्षेप में रीति बतलाई है। इनके अतिरिक्त शास्त्रों एव ग्रन्थो में और भी मत्र बतलाये हैं। उनमें से कुछ यहां दिखलाये जाते हैं —

मंगलशरणोत्तमपदनिकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया, स चापवर्गश्रिय श्रयति ॥

अर्थात—मगल, शरण और उत्तम-इन पदों का जो स्मरण करता है, वह मुनिराज मोक्ष रूपी महालक्ष्मी प्राप्त करते हैं। वह पद यह हैं —

मङ्गलपद—चत्तारि मगल, अरिहन्ता मगलं, सिद्धा मगल, साहू मगल, केवलिपएणत्ता धम्मो मगल।

उत्तमपद—चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि-पएणत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

शरणपद—चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपएणत्त धम्म सरण पवज्जामि।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

'चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ।

चतुर्विंशतिस्तव से अर्थात चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने से दर्शन (सम्यक्त्व) की विशुद्धता-निर्मलता-होती है। वह चतुर्विंशतिस्तव यह है —

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥ १ ॥
उसममजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंत, सीयलसिज्जंसवासुपुज्जं च ।
विमलमणत च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पास तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

एकाक्षर मत्र में पांचों परमेष्ठी समाविष्ट हैं। वह इस प्रकार—

अरिहता असरीरा, आयरिया पुण उवज्झया मुणिणो ।
पढमक्खरनिप्पएणो ओंकारो पच परमिट्ठी ॥

अरिहन्त की आदि का अ, अशरीर (सिद्ध) की आदि का भी अ और आचार्य की आदि का आ, यह तीना अक्षर मिल कर व्याकरण के अनुसार एक दीर्घ 'आ' बनते हैं। इस आ के साथ उपाध्याय के उ की गुणसधि होने से 'आ+उ=ओ अक्षर बन जाता है। इसमें मुनि शब्द की आदि का 'म्' मिलने से 'ओ' रूप सिद्ध होता है। इस तरह 'ओ' में पांचों परमेष्ठियों का समावेश हो जाता है।

एवं मए अभिथुया, विहूयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयतु॥ ५॥
कित्तिय-वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिन्तु॥ ६॥
चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥ ७॥

स्तव—स्तुतिमगलपाठ भी मत्र रूप है। उसके विषय में शास्त्र में कहा है—

'थवथुइमंगलेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

थवथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ। नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ॥

—उत्तराध्ययन, अ. २९-१४

यहाँ बताया गया है कि स्तव-स्तुतिमंगल अर्थात् 'नमो त्थु णं' रूप मंत्र पढने से ज्ञान की निर्मलता होती है-बुद्धि की वृद्धि और विशुद्धि होती है। सम्यक्त्व शुद्ध होता है। चारित्र की वृद्धि होती है। बोधिबीज का लाभ होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शुद्धि होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कदाचित् पुण्य की वृद्धि हो जाय तो १२ देवलोक, ९ ग्रैवेयक या ५ अनुत्तर विमान में महान् ऋद्धिधारी देव होता है।

मन्त्र इस प्रकार है:—

"नमोत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाण लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं, धम्मदयाणं धम्मदेसियाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीण धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, दीवो ताणं सरणगइपइट्ठाणं, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं वियट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोयगाण, सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं, सिव-मयल-मरुय-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमो जिणाणं जियभयाणं।"

यहाँ णमोकार, चतुर्विंशति स्तव (लोगस्स) और नमोत्थु णं, का स्मरण करना बतलाया गया है। परन्तु इनके सिवाय जिनभाषित सूत्रों का सज्झाय (मूल पाठ का पढ़ना) तथा अन्य जिनस्तवन, मुनिस्तवन, वैराग्य एव आत्मज्ञान से परिपूर्ण, अध्यात्मरस से युक्त पाठों का स्वाध्याय एव परियट्टणा आदि करना सब पदस्थध्यान कहलाता है। *

उपयोग को स्थिर करके पदस्थध्यान करने से जीव परमोत्कृष्ट रस में डूब कर महानिर्जरा करता है।

* ह्रीं यह पद पदस्थध्यान का बीजमन्त्र है।

द्वितीय पत्र-पिण्डस्थध्यान

पिण्ड अर्थात शरीर में स्थित आत्मा की भिन्नता का चिन्तन करना पिण्डस्थध्यान कहलाता है।

गर्भित पुद्गलपिण्ड में, अलख अमूर्तिक देव।
फिरे सहज भव-चक्र में, यह अनादि की टेव॥

अर्थात्—यह पिण्ड (शरीर) सप्त धातुओं से बना हुआ, महा अशुचि का भण्डार, क्षण क्षण में पलटने वाला, मृगापुत्र के शब्दों में 'वाहिरोगाण आलए' अर्थात् आधि (चिन्ता), व्याधि (रोग) और उपाधि (दुःख) का घर है। ऐसे शरीर में 'अलख निरजन' देव विराजमान है। किन्तु देहाध्यास-देह में अहबुद्धि धारण करने के कारण तथा कर्मों के सयोग से इसका स्वभाव अनादि काल से संसार-परिभ्रमण करने का हो रहा है। कहा भी है—

जो जो पुद्गल की दशा, ते निज माने हंस।
या ही भरम विभावतें, बढ़े कर्म को वंस॥

जगत् में जो पौद्गलिक पदार्थ हैं, उन्हें आत्मा अपना मान रहा है। पुद्गलों की अवस्थाओं में स्वाभाविक परिवर्त्तन आने पर अपने में परिवर्त्तन होना मानता है। पुद्गलों के सयोग-वियोग में अपना ही सयोग-वियोग समझता है। मतलब यह है कि अपना अनन्तज्ञानमय जो चैतन्य स्वरूप है, उसे कर्मों के नशे में मस्त होकर भूल गया है—भ्रम में पड़ गया है और अपने स्वभाव को त्याग कर विभाव में अनुरक्त हो रहा है। इसी से कर्मों की वृद्धि होती है और भवभ्रमण करना पड़ता है। कहा है—

कर्म-संग जिय मूढ़ है, पावे नाना रूप।
कर्म रूप मल के टले, चेतन सिद्धस्वरूप॥

यह जन्म-मरण, यह ससार परिभ्रमण, यह मूढ़ता और नशा सब कर्मों की सगति का ही परिणाम है, क्योंकि चेतन तो सिद्धस्वरूप परमात्मा है। भवभ्रमण करना इसका स्वभाव है ही नहीं, ऐसा होता तो सिद्ध भगवान को भी पुनर्जन्म लेना पड़ता। आत्मा तो कर्मों के सयोग से ही मूढ़ बन कर एकेन्द्रिय आदि योनियों में अनेक प्रकार के रूप धारण करता है। कर्म रूप मैल दूर हुआ और देहाध्यास छूटा कि वह निज रूप को-सिद्धस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

अनादि काल से ज्ञानावरण आदि कर्मों के साथ ससारी जीवों का सम्बन्ध होने से आत्मा की अनन्त ज्ञानमय शक्ति आच्छादित हो रही है। अतएव वह विभाव रूप परिणत हो रहा है। जैसे कीचड़ के सयोग से पानी की स्वच्छता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मसयोग से चैतन्य की विभाव-परिणति हो रही है। जब भवस्थिति परिपक्व होती है, तब सम्यक्त्व आदि सामग्री प्राप्त होती है। तभी कर्मों का सबंध नष्ट होता है और शुद्ध चैतन्य का अविर्भाव होता है। उसी समय आत्मा का सर्वज्ञ सर्वदर्शित्व स्वभाव प्रकाश में आता है और एक ही समय में त्रिकाल एव त्रिलोक के सर्व पदार्थ उसके ज्ञान में झलकने लगते हैं। कहा भी है—

सिद्धां जैसा जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म-मैल का आंतरा, बूझे विरला कोय ॥
कर्म पौद्गलिक रूप है, जीव रूप है ज्ञान।
दो मिल के बहु रूप हैं, बिछुड़े पद निर्वान ॥

वास्तव में जीव सिद्ध स्वरूप ही है। ऐसा न होता तो वह सिद्ध पद को कैसे प्राप्त कर सकता? जीव को ही सिद्ध पद की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं। देरी इतनी ही है कि वह कर्म और जीव के अर्थात् अपने निज के मूल स्वभाव को पहचान ले। कर्म पुद्गल रूप हैं, पुद्गल जनित निर्जीव जड़ पदार्थ हैं और जीव ज्ञानस्वरूप अरूपी और चैतन्य-चमत्कारमय है। इन दोनों के अनादि संबंध के कारण ही देहाध्यास उत्पन्न होता है और देहाध्यास के प्रभाव से भव-भव में नाना प्रकार के कायारूप धारण करता है। ऐसा जानने वाले भेदविज्ञानी जगत् में थोड़े ही हैं। जो इस मर्म को जानेंगे, वही कर्म संबंध को तोड़ कर निर्वाण प्राप्त करने का उपाय करेंगे।

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

—द्रव्यसंग्रह।

जीवो—शुद्ध निश्चयनय से यह जीव आदि मध्य और अन्त रहित, स्व तथा पर का प्रकाशक, उपाधियों से रहित, शुद्ध ज्ञान रूप निश्चय प्राण से जीता है, फिर भी अशुद्ध नय की अपेक्षा अनादि कर्मबंध के वशीभूत होकर अशुद्ध द्रव्यप्राणों और भावप्राणों से जीता है। अतएव वह जीव है।

उवओगमओ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परिपूर्ण निर्मल दो उपयोग हैं। तद्रूप ही यह जीव है। किंतु अशुद्ध नय से क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन से युक्त है।

अमुत्ति—जीव व्यवहारनय से मूर्त्तिक कर्माधीन होने से वर्ण गंध, रस और स्पर्श से युक्त मूर्त्तिक दीखता है, किन्तु निश्चयनय से अमूर्त्त, इन्द्रियों के अगोचर शुद्ध स्वरूप का धारक है।

कत्ता—जीव निश्चय नय से क्रियारहित, निरुपाधिक ज्ञायकैकस्वभाव का धारक है, फिर भी व्यवहार नय से मन वचन काय के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों से युक्त होने के कारण शुभ-अशुभ कर्मों का कर्त्ता है।

सदेहपरिमाणो—जीव निश्चय स्वभाव से शुद्ध लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों का धारक है, फिर भी शरीर नाम कर्मोदय के कारण, संकोच-विस्तार स्वरूप होकर देहपरिमाण होता है। जैसे दीपक को जिस भाजन में रख दिया जाय, उसी के बराबर परिमाण में प्रकाश करता है उसी प्रकार जीव कर्मोदय से प्राप्त छोटे या बड़े शरीर के बराबर होकर रहता है।

भोत्ता—जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से रागादि समस्त विकल्पों से रहित और उपाधियों से शून्य है, तथा आत्मस्वभाव से उत्पन्न हुए सुख रूपी अमृत का आस्वादन करने वाला है, फिर भी अशुद्ध नय से इस स्वाभाविक सुख के अभाव में शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न हुए सुख और दुःख को भोगने वाला है।

संसारत्थ—जीव शुद्ध निश्चय नय से संसार रहित, नित्यानन्द रूप एक स्वभाव का धारक है, किन्तु अशुद्ध नय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप पांच प्रकार के संसार में रहता है।

सिद्ध—जीव निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति रूप सिद्धत्व के प्रतिपक्षी कर्मोदय के कारण व्यवहार नय से असिद्ध है, किन्तु निश्चय नय से अनन्तज्ञानादि स्वभाव का धारक होने से वस्तुत सिद्ध है।

विस्ससोड्ढगई—जीव व्यवहार नय से चार गतियों में भ्रमण कराने वाले कर्मों के उदय से ऊँचो, नीची और तिर्छी दिशा में गमन करने वाला है तो भी निश्चय नय से केवलज्ञानादि अनन्त गुणो की प्राप्ति रूप मोक्ष में जाते समय स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करता है।

शुद्ध चैतन्य उज्ज्वल द्रव, रह्यो कर्म मल छाय।
तप-संयम से धोवतां, ज्ञानज्योति बढ़ जाय॥

भव्य जीवो! आत्मा-अनात्मा का समीचीन स्वरूप समझ कर आत्मा को देहपिण्ड और कर्मपिण्ड से अलग करने वाले ज्ञान से युक्त तप और सयम का आचरण करो। इससे आत्मा कर्म रहित, शुद्ध चैतन्य स्वरूप + में प्रकट हो जायगा। यह चेतन ज्ञानादि रत्नों का भाजन है। जैसे चांदी खटाई में धोने से उज्ज्वल हो जाती है, उसी प्रकार यह चेतन भी उज्ज्वल हो जाता है।

ज्ञान थकी जाणे सकल, दर्शन श्रद्धा रूप।
चारित से आवत रुके, तपस्या खपण स्वरूप॥

ज्ञान से आत्मा और कर्म की परिणति को पहचाने, दर्शन से उस पर जिनोक्त आगम के अनुसार सत्य श्रद्धा करे। चारित्र से जीव और कर्म को पृथक्-पृथक् करने के मार्ग पर लगे और तपस्या के द्वारा जीव और कर्म को पृथक्-पृथक् करे।

जीव कर्म भिन्न भिन्न करो, मनुज जनम को पाय।
ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज ध्यान जगाय॥

यह उपाय मनुष्य जन्म में ही होता है। अतएव हे मुमुक्षुओ! तुम्हें इष्टार्थ की सिद्धि का यह मनुष्य जन्म आदि अवसर प्राप्त हुआ है, तो अब वैराग्य और धैर्य के साथ, ज्ञानयुक्त होकर ध्यानस्थ बन कर जीव को कर्म से अलग करो।

जीव और कर्म की भिन्नता जानने का तथा उन्हें भिन्न-भिन्न करने का यह उपाय संक्षेप में कहा गया है। ग्रंथकारों ने इस विषय में और भी कहा है। ❀

+ जैसे स्फटिक रत्न स्वभाव से ही निर्मल-उज्ज्वल रूप होता है, परन्तु उसके नीचे रक्त आदि वर्ण का कोई अन्य पदार्थ रख देने से वह रंगमय दीखता है, वैसे ही आत्मा कर्मोदय के कारण अशुद्ध रूप ही भासित होता है। स्वभाव से वह निर्मल ही है।

❀ पिण्डस्थ ध्यान में सुस्थित होकर आत्मा की ज्ञानज्योति को प्रकाशित करने का सरल उपाय एक ग्रन्थकार ने बतलाया है। वह यह है—शुभध्यान में कहे अनुसार द्रव्य आदि शुभ सामग्री से युक्त होकर ध्यानस्थ हो। जब श्वास बाहर निकले तो अन्तःकरण में विचार करे कि मैं अपना स्थान छोड़ कर बाहर आया। और जब श्वास भीतर जाय तो सोचे कि मैं भीतर चला। इस प्रकार विचार करते करते शीर्ष स्थान से कण्ठस्थान में और कण्ठस्थान से नाभि-कमलस्थान में जाकर विराजमान हो जाय। वहाँ स्थिर होकर अन्दर की दृष्टि खोलने से ऐसा भासित होगा कि मैं नाभिकमल पर ही उपस्थित हूँ। इस प्रकार जब आत्मा के सूक्ष्म स्वरूप का भान हो तब उस सूक्ष्म स्वरूप को समझ कर नाभि के आजू बाजू चारों ओर अवलोकन करे।

इसके अतिरिक्त पिण्डस्थध्यान में सप्त भंगी न्याय से आत्मतत्त्व का विचार करे। यथा—

(१) प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र काल भाव) की अपेक्षा से अस्ति रूप है, जैसे आत्मा चेतन गुण की अपेक्षा सत् है। यह पहला 'स्यादस्ति' भंग है।

(२) जो पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति रूप है, वही परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप है, जैसे आत्मा जड़ता गुण की अपेक्षा नहीं है। यह दूसरा 'स्यान्नास्ति' भंग है।

सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हैं और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है, जैसे आत्मा चेतन गुण की अपेक्षा है और जड़ता गुण की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार क्रम से स्व-पर चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति-नास्ति रूप है। यह 'स्यादस्ति नास्ति' तीसरा भंग हुआ।

(४) अनन्त धर्ममय पदार्थ का परिपूर्ण स्वरूप एक साथ कहा नहीं जा सकता। अस्तित्व कहें तो नास्तित्व का और नास्तित्व कहे तो अस्तित्व का अभाव हो जाता है। इस प्रकार एक ही समय में दोनों गुणों का कथन नहीं किया जा सकता। केवली भगवान् भी एक समय में अनेक भावों को जान तो सकते हैं, किन्तु वाणी द्वारा कह नहीं सकते। तो फिर दूसरों का तो कहना ही क्या है। अतएव प्रत्येक पदार्थ 'स्यात् अवक्तव्य' रूप है। यह चौथा भंग है।

इस प्रकार अवलोकन करने पर यदि अन्धकार दिखाई दे तो उसी समय दृढ निश्चय से कल्पना करे कि-'इस अन्धकार का शीघ्र ही विनाश हो! और अनन्तप्रकाशमय सूर्यमण्डल का मेरे हृदय में प्रकाश हो!'

ऐसी दृढ कल्पना करके सूक्ष्म रूप से ही आकाश की ओर (ऊपर) अवलोकन करे। ऐसा करने से उसी समय सूर्य जैसा प्रकाश अन्त करण में दिखाई देने लगेगा।

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से अन्तरात्मा की ज्ञानज्योति में दिनोंदिन विशुद्धता की वृद्धि होती है। आन्तरिक गुह्य पदार्थों का ज्ञान होने लगता है और अनेक गुप्त शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं।

एक ग्रन्थकार का कथन है कि पिण्डस्थ ध्यान में पाँच तत्वों का विचार करने से ज्ञानज्योति का प्रकाश होता है। वह इस प्रकार है—ध्यानस्थ होकर, दृढतापूर्वक पहले पृथ्वीतत्व का विचार करे। गोलाकार पृथ्वी के मध्य में क्षीर-सागर की और उसके मध्य में जम्बूद्वीप का कमल कल्पित करे। मेरु पर्वत की कर्णिका स्थापित करे। उस कर्णिका पर एक सिंहासन की कल्पना करे और उस पर अपने विराजमान होने की कल्पना करे।

फिर दूसरे अग्नितत्व का चिन्तन करे। हृदय में १६ पाखुड़ी के कमल पर 'अ' स्वर से लगा कर 'अः' स्वर तक पाखुड़ी पर एक-एक स्वर की स्थापना करे। फिर उसमें से धूम्र निकलने की कल्पना करे। फिर चिन्तन करे कि उसमें से महाज्वालाएँ निकलने लगी हैं, कमल भस्म हो गया है। मद्य (ईंधन) के अभाव में अग्नि शान्त हो गई है।

तत्पश्चात् तीसरे वायुतत्व का विचार करे कि महावायु प्रकट होकर मेरु पर्वत को कम्पायमान करने लगा और पहले की पड़ी भस्म को उड़ा ले गया है, जिससे वह स्थान साफ हो गया है।

तदनन्तर जलतत्व का चिन्तन करे—आकाश में गर्जना- रव हो रहा है। बून्दें पड़ने लगी हैं। मूसलधार पानी बरसने लगा है। अब वह भस्म का स्थान धुल कर एक दम स्वच्छ हो गया है। मेघ चले गये हैं।

अन्त में आकाशतत्व का चिन्तन करे—अब मेरी आत्मा सप्त धातुमय पिंड से रहित, पूर्ण चन्द्र के समान प्रकाशमान, निर्मल, सर्वज्ञ देव के समान हो गई है। दृढ और गाढ संकल्पमय चिन्तन करने से हूबहू ऐसा चित्र अंकित हो जाना चाहिए।

(५) एक समय में आत्मा में स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व है और एक साथ स्व-पर-चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्यता है। इस प्रकार प्रथम और चतुर्थ भग के सम्मिलन से पाँचवाँ भग बनता है। 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य' यह पाँचवाँ भग है।

(६) इसी प्रकार द्वितीय और चतुर्थ भग के सयोग से 'स्यान्नस्ति अवक्तव्य' भग बनता है। यह छठा भग है।

(७) तीसरे स्यात् अस्ति-नास्ति' भग के साथ चौथे भग का सयोग करने से सातवाँ 'स्यात् अस्ति · नास्ति अवक्तव्य' रूप सातवाँ भग निष्पन्न होता है। क्योंकि वस्तु अस्ति रूप भी है, नास्ति रूप भी है और अवक्तव्य (वचनागोचर) भी है।

यह सात भग केवल अस्तित्व धर्म की अपेक्षा कहे हैं। अन्य धर्मों की अपेक्षा भी ऐसे ही सात भग होते हैं। अतएव नित्यत्व, अनित्यत्व एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों के भी यही भग बनते हैं।

आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करने में जो निमग्न है, उसे अनेक प्रकार से आत्मा का चिन्तन करना चाहिए और पुद्गलपिण्ड से आत्मा की भिन्नता की प्रतीति करनी चाहिए। आत्मा के निश्चय स्वरूप में निष्ठ बनना चाहिए।

पिण्डस्थध्यान में इस प्रकार चिन्तन करने का मुख्य हेतु यह है कि इधर-उधर सब वस्तुओं में भ्रमण करते हुए मनको रोक कर एक मात्र आत्मा की तरफ लगाया जाय। मन जब आत्मा में लीन हो जाता है तब अन्य पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता है और इससे नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता है तथा पुरातन कर्म क्षण-क्षण में क्षीण होकर अलग हो जाते हैं और आत्मिक ज्योति पूर्ण प्रकाश पाती है। उस स्थिति में आत्मा के समस्त प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

पिण्डस्थध्यान का सक्षेप में यही सार है कि—ज्ञानादि अनन्त अनन्त पर्यायों का पिण्ड एक मैं आत्मा हूँ और वर्ण आदि अनन्त पर्यायों का पिण्ड कर्म तथा उससे उत्पन्न हुआ शरीर है। अतएव दोनों के स्वभाव अलग-अलग होने से दोनों अलग-अलग हैं। ऐसा निश्चय चिन्तन करना पिण्डस्थध्यान है।

इस ध्यान से भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे आत्मा स्व स्वभाव में स्थिरतायुक्त हो जाता है। शान्त, दान्त बन जाता है। आत्मा के स्वाभाविक गुण जागृत हो जाते हैं। सब प्रकार के भयों से मुक्ति मिलती है। ऐसे भेद विज्ञानी को घोर भयानक स्थान में, हिंस्र प्राणियों के समूह में अथवा प्राणान्तिक उपसर्ग के प्रसग में भी किंचित भी क्षोभ नहीं प्राप्त होता है। अखण्डित ध्यान की एकाग्रता से वह स्वल्पकाल में ही इष्टार्थ की सिद्धि कर लेते हैं।



तृतीय पत्र-रूपस्थध्यान



रूपी परमात्मा के गुण में चित्त का स्थिर होना रूपस्थध्यान कहलाता है।

अर्हन्तपाहुड़ में कहा है:—

> जे जाणइ अरिहंते, दव्वगुणपज्जवेहिं य।
> ते जाणाइ नियप्पा, मोहो खलु जाइ य विलयं॥

अर्थात्—जो अर्हन्त भगवान् का स्वरूप द्रव्य, गुण, पर्याय के द्वारा जानेगा, वही आत्मा के निज स्वरूप को जानेगा और जो आत्मा के निज स्वरूप को जानेगा वही मोह कर्म का नाश करेगा।

रूपी परमात्मा के वाचक आपस में मिलते-जुलते तीन शब्द हैं—अर्हंत, अरिहन्त और अरुहन्त। इनका अर्थ यह है.—

(१) देवेन्द्रों और नरेन्द्रों के पूजनीय तथा अतिशय एवं अष्ट महाप्रातिहार्यों से युक्त हों सो अर्हन्त।

(२) कर्मों तथा राग-द्वेष आदि आन्तरिक शत्रुओं का नाश करने वाले अरिहन्त कहलाते हैं।

(३) जन्म के अंकुर को तथा रोग आदि दुःखों के अंकुर नष्ट करने वाले अरुहन्त कहलाते हैं। यह तीनों एक ही घाति कर्मों को नष्ट करने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जीवन्मुक्त, सशरीर परमात्मा के नाम हैं।

श्री अरिहन्त भगवन्त अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र और अनन्ततप रूप अनन्तचतुष्टय से युक्त हैं। समवसरण के मध्य में, अशोक वृक्ष के नीचे, मणि-रत्नों से जटित सिंहासन के ऊपर, चार अङ्गुल अधर, छत्र चामर एवं प्रभामण्डल की विभूति से युक्त, बारह प्रकार की परिषद् से परिवृत होकर दिव्य ध्वनि प्रकाश करते हैं। उनकी दिव्यध्वनि की आवाज भाद्रपद महीने के मेघ की गर्जना की तरह, चार-चार कोस तक चारों ओर फैलती है, जिसे श्रवण करके अच्युतेन्द्र, शक्रेन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) और बृहस्पति जैसे विद्या में पारगंत, षट् शास्त्रों के पारगामी, महातेजस्वी, वक्तृत्वकला के धारक, महाप्रवीणजन भी चकित रह जाते हैं और विचार करते हैं—अहा, कैसी अतुल और अद्भुत शक्ति है! प्रभु ज्ञान के सागर है! एक-एक वाक्य की कैसी शुद्धता, मधुरता और सरलता है! इस प्रकार गुणानुराग में अनुरक्त होकर वाह-वाह करते हुए अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। जैसे क्षुधातुर मिष्टान्न भोजन को और तृषातुर शीतोदक को ग्रहण करता है, उसी प्रकार श्रोतागण जिनेश्वर देव के एक-एक शब्द को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके अपने हृदय को शान्त करते हैं, परम वैराग्य को प्राप्त होते हैं और उस परम कल्याणी वाणी को श्रवण करके सब कामों को भूल कर एकाग्रता धारण करते हैं।

अर्हन्त भगवान की मुद्रा भी अनुपम होती है। अत्यन्त मनोहर, शान्त, गम्भीर, महान तेज से सम्पन्न, एक हजार आठ उत्तमोत्तम लक्षणों से विभूषित, देदीप्यमान-झिलमिलाती हुई, सर्वोत्तम और अत्यन्त प्यारी मुद्रा के दर्शन से देव और मानववृन्द लुब्ध होते हैं। उनका अन्तःकरण बोल उठता है—अहा! क्या स्वरूप सम्पदा है! क्या अपूर्व वैराग्य दशा है!

निष्कामी, अक्रोधी, अमानी, अमायी, अलोभी, अरागी, अद्वेषी, निर्विकार, निरहंकार, महादयालु, महामंगलमय, महारक्षपाल, अशरण शरण, तरण तारण, भवदुःख निवारण, जन्म सुधारण, जगदुद्धारण,

अचिंत्य अतुल्यशक्ति के धारक, त्रिदुःखत्रारक, अक्षोभ अनंत भावनेत्रों से शोभित, परम निर्यामक, परम वैद्य, परम गारुड़ि, परम ज्योति, परम जहाज, परम शांत परम कांत, परम दांत, परम महत, परम इष्ट, परम मिष्ट, परम ज्येष्ठ, परम श्रेष्ठ, परम पण्डित धर्म मण्डित, मिथ्यात्वखंडन, परम उपयोगी, आत्मगुणभोगी, परमयोगी, महात्यागी, महावैरागी, अचिन्त्य, अगम्य, महारम्य, अनन्त दानलब्धि अनन्तलाभलब्धि अनन्त भोगलब्धि अनन्त उपयोगलब्धि और अनन्त बल-वीर्यलब्धि के धारक, क्षायिक सम्यक्त्व यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन से सुशोभित, अष्टादश दोषों से विनिर्मुक्त, चौतीस अतिशय और पैंतीस वाणी के गुणों से मंडित, परम शुक्ललेश्यी, परम शुक्लध्यानी, एकनिष्ठभावी, परम कल्याण स्वरूप, परम शान्त रूप, परम पवित्र, विचित्र; परम दाता भोक्ता, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, सिद्ध, बुद्ध, सद्गुणवृद्ध, अचिन्त्य शक्तिसमृद्ध, परम हितैषी, महा-ऋषि, निरामय (नीरोग) महाचन्द्र महासूर्य महासागर, योगीन्द्र मुनीन्द्र, देवाधिदेव, अचल, विमल, अकलंक, अवक्र त्रिलोकतात, त्रिलोकमात त्रिलोकभ्रात त्रिलोकेश्वर, त्रिलोकपूज्य, परम प्रतापी, परमात्मा, शुद्धात्मा आनन्दकन्द, ध्वान्तनिकन्द लोकालोकावलोकी, मिथ्यात्वतिमिरतिरस्करण, सत्यस्वरूपी, सकल सुखदाता, स्याद्वाद शैली के विधाता अर्हन्त महाप्रभु देशना देते हैं—

अहो भव्यो ! बूझो, बूझते क्यों नहीं हो ? चेतो, चेतो मोहनिद्रा त्यागो। ज्ञानदृष्टि से देखो। महान्-महान् पुण्योदय से अत्युत्तम मनुष्यजन्म आदि सामग्री तुम्हें प्राप्त हुई है। इसे वृथा मत गँवाओ। अनन्तज्ञानादि त्रिरत्नों से भरा हुआ अक्षय खजाना तुम्हारे पास है। उसे देखो, पहचानो और सँभालो। उसी के रक्षक बनो। इस खजाने को लूटने वाले मोह, मद, विषय, कषाय रूप ठगोरे तुम्हारे पीछे लगे हैं। उनके फँद से बचो। इनके प्रसंग से अनन्त भवभ्रमण की परम्परा में पड़ कर जो-जो विपत्तियाँ सहन की हैं, उन्हें स्मरण करके पुनः दुःखों के सागर में पड़ने से बचो। बचने का उपाय करने का यही समुचित समय है। यह अपूर्व अवसर हाथ से चला गया तो फिर हाथ लगना अत्यन्त कठिन है। अगर इस अवसर को गँवा दोगे तो फिर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। यह अटल सत्य है। अतएव प्राप्त हुए दुर्लभ लाभ को मत गँवाओ। जो लाभ लेना है, क्षण भी प्रमाद न करके ले लो। आत्मा के शाश्वत कल्याण के पथ पर प्रयाण करो ! अक्षय और अखण्ड शान्ति प्राप्त करने का प्रयास करो। मानो, मान जाओ विकराल मायाजाल को तोड़ो, दुनिया के दंद-फंद छोड़ो, चलो हमारे साथ, हो जाओ सावधान ! हम अपने शाश्वत, अविचल परमानन्दमय, परमसुखमय मोक्ष-नगर में जाते हैं। तुम्हें आना है तो आ जाओ। वही तुम्हारा असली घर है। उस घर में एक बार प्रवेश करने पर पुनर्जन्म-मरण नहीं करना पड़ता। अनन्त-सदा काल तक वहीं असीम अव्याबाध सुख में रहना होगा। हे भव्यो, हे मुमुक्षुओ, चेतो, चेतो, चेतो !

अर्हन्त भगवान् का इस प्रकार का उपदेश सुन कर और उसके अनुसार आचरण करके भूतकाल में अनन्त जीव मोक्ष* गये हैं। वर्त्तमान में असंख्यात जीव मोक्ष जा रहे हैं और भविष्यत् काल में अनन्तानन्त जीव मोक्ष जाएँगे।

हे आत्मन् ! ऐ मेरी प्यारी आत्मा ! तूने प्रबल भाग्योदय से श्री जिनेश्वर भगवान् का मार्ग पाया है। तुझे उनके यथातथ्य गुणों की पहचान हुई है। अतएव उन जैसा बनने के लिए उनके गुणों में लौ

* अव्यवहार राशि में से ६ महीने और ८ समय में १०८ जीव निकल कर नियम से व्यवहार राशि में आते हैं—न कम और न ज्यादा। और इतने ही जीव व्यवहार राशि में से निकल कर मोक्ष में जाते हैं। फिर भी तीनों ही कालों में निगोद के एक शरीर में के जीवों की संख्या का एक अंश भी कभी खाली नहीं होता है। ऐसा सुदृष्टि तरंगिणी नामक दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ में उल्लेख है।

लगा। उन्हीं के आदेश-उपदेश का अनुसरण कर। उन्होंने जो कृत्य किये हैं, वही कृत्य कर। तद्रूप हो, तन्मय हो, तल्लीन होजा। जैसे स्वप्न-दशा में दृष्ट वस्तु के ध्यान में लीन होकर उसी रूप आप बन जाता है और अपनी मूल स्थिति भूल जाता है। मगर वह तो मोहदशा है। निर्मोह अवस्था में-ज्ञानदशा में लव-लीन होकर अर्हन्त भगवन्त के गुणों में तन्मय बन। इस तन्मयता के प्रभाव से तेरी अनन्त आत्मशक्ति प्रकट होगी और तू स्वय ही अर्हन्त बन जायगा।

चतुर्थ पत्र-रूपातीतध्यान

रूप से अतीत (रहित) अर्थात् अरूपी सिद्ध परमात्मा का ध्यान-चिन्तन करना रूपातीतध्यान है। कहा है:—

जारिस सिद्धसहावो तारिससहावो हि सव्वजीवाणं।
तम्हा सिद्धंतरुई, कायव्वा भव्वजीवेहिं॥ —सिद्धपाहुड़

अर्थात्—जैसा सिद्ध भगवान् की आत्मा का स्वरूप है, वैसा ही सब जीवों की आत्मा का स्वरूप है। अतएव भव्य जीवों को सिद्ध स्वरूप में रुचि करना चाहिए अर्थात् सिद्ध स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरिमसमयम्मि।
आसीय पएसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स॥
दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणं, सिद्धाणोगाहणा भणिया॥ —उववाईसूत्र

अर्थात्—मनुष्य जन्म के चरम (अन्तिम) समय में जिस आकार में यहाँ शरीर रहता है, आयु पूर्ण होने पर जीव के आत्म प्रदेश उसी आकार में वहाँ (मोक्ष में) रहते हैं। हाँ, अन्तिम शरीर की अवगाहना से तृतीयांश हीन (तीसरा भाग कम) अवगाहना में लोक के अग्रभाग-सिद्ध क्षेत्र में-वह प्रदेश विराजमान हो जाते हैं। वही सिद्ध भगवान् की अवगाहना कहलाती है। +

+ नासिका आदि स्थानों में जो छिद्र हैं, वे भर जाते हैं और घनाकार (निविड़) प्रदेश हो जाते हैं। इसी कारण तृतीयांश अवगाहना कम हो जाती है। सिद्धों की अवगाहना जघन्य एक हाथ चार अंगुल, मध्यम चार हाथ सोलह अंगुल और उत्कृष्ट ३३३ धनुष ३२ अंगुल होती है।

प्रश्न—अरूपी की अवगाहना कैसे ?

उत्तर—(१) अरूपी के लिए अरूपी दृष्टान्त ही लीजिए। जैसे आकाश अरूपी है, फिर भी उसे लोक और अलोक रूप कहते हैं। अपेक्षा से सादि और सान्त भी कहते हैं और घटाकाश तथा पटाकाश भी कहते हैं। मतलब यह है कि अरूपी में भी रूपी पदार्थों के संसर्ग से रूपी जैसा व्यवहार किया जाता है। अन्यथा आकाश को घटाकाश, पटाकाश कैसे कहते ? यही बात सिद्धों की अवगाहना के सम्बन्ध में समझना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि आकाश अरूपी है अचेतन है और सिद्ध अरूपी चेतन है।

(२) किसी विद्वान् से कहा जाय कि आप जितनी विद्या पढ़े हैं, वह सब हमें हस्तामलकवत् (हथेली पर रक्खे आँवले की तरह) बतलाइए। तो वह अपनी विद्या को बतला नहीं सकता। उसी प्रकार सिद्ध भगवान् को भी 'ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्त' अर्थात् परमात्मा को सन्त पुरुष ज्ञानमय और निर्मल बतलाते हैं।

जीव कैसा है, यह श्री आचारांग सूत्र के अनुसार कहते हैं —

मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पतिट्ठाणस्स खेयन्ने।

सिद्ध भगवन्त के रूप का या गुण का वर्णन करने में 'सव्वे सरा नियट्ट ति, अर्थात् सभी स्वर-शब्द हार जाते हैं, वह अवक्तव्य है। किसी भी शब्द में उनके स्वरूप का वर्णन करने की शक्ति नहीं है। क्योंकि वहाँ तक मति, कल्पना या विचारणा दौड़ ही नहीं सकती है। बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ताओं 'सुरगुरु-बृहस्पति और सर्व शास्त्रों के पारगामियों की बुद्धि अभी तक वहाँ न पहुचो तो अब कैसे पहुँचेगी? बहुत अधिक दौड़ लगाई तो इतना ही कह सके कि वहाँ अकेला जीव कर्म-कलक से और सर्व सग से रहित, सच्चिदानन्दमय, अपने ही प्रदेशों से युक्त विराजमान है। वह सम्पूर्ण ज्ञानमय ही है।

सिद्ध स्वरूप के सबध में और भी कहा है —

'न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले; न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हलिद्दे, न सुक्किल्ले; न सुरहिगंधे, न दुराहिगंधे; न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए; न सीए, न उण्हे, न णिद्धे, न लुक्खे; न काऊ, न रुहे; न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा,

परिण्णे, सण्णे; उवमा न विज्जति; अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि।

—श्रीमदाचारांग सूत्र

अर्थात्—सिद्ध अवस्था को प्राप्त आत्मा न लम्बा है, न छोटा है, न लड्डू जैसा गोल है, न त्रिकोना है, न चौकोर है, न चूड़ी जैसा मडलाकार है। न काला है, न हरा है, न लाल है, न पीला है, न श्वेत है, न सुगंधमय है, न दुर्गन्धमय है, न मिर्च जैसा तीखा है, न कटुक है, न कसैला है, न खट्टा है, न मीठा है, न कठिन है, न कोमल है, न भारी है, न हल्का है, न ठडा है, न उष्ण है, न चिकना है, न रूखा है, इत्यादि किसी भी प्रकार का नहीं है। न उसे जन्म लेना पड़ता है, न मरना पड़ता है, किसी भी परपदार्थ का संग भी नहीं है। न वह स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है।

---

(३) रूपी पदार्थ का दृष्टान्त दिया जाय तो जैसे मिट्टी की मूस में मैण का पट लगा—पीतल आदि धातु का रस डाल कर आभूषण आदि बनाते हैं। वह आभूषण उसमें से निकाल लेने पर मूस में मौम का आभास मात्र आकार रहता है। उसी प्रकार सिद्ध भगवान् की अरूपी आकार की अवगाहना है।

(४) काच में दीखता हुआ प्रतिबिम्ब केवल प्रतिभास मात्र है, उसी प्रकार सिद्धों की अवगाहना समझना चाहिए।

(५) सिद्ध भगवान् ज्योति स्वरूप कहे जाते हैं। इसका आशय यह है कि जैसे कमरे में एक दीपक जलाया तो उसका प्रकाश कमरे में समा जाता है और बहुत दीपक जलाये तो उनका भी प्रकाश उसी कमरे में समा जाता है। फिर भी प्रकाश क्षेत्र को रोकता नहीं है (जमीन जाड़ी नहीं होती है)। ऐसे ही अनन्त सिद्ध मोक्ष में हैं। जहाँ एक हैं वहाँ अनन्त हैं, फिर भी जगह रुकती नहीं है। एक दीपक का प्रकाश जितनी जगह में फैलता है, वही उसकी अवगाहना है, इसी प्रकार सिद्धों की अवगाहना समझनी चाहिए।

(६) सिद्ध भगवान् छद्मस्थ की अपेक्षा अरूपी हैं—दीखते नहीं हैं, फिर भी केवलज्ञानी उन्हें देखते हैं। वही जीव द्रव्य के प्रदेश हैं और उन्हीं की अवगाहना समझनी चाहिए। इन दृष्टान्तों से सिद्धों की अवगाहना समझनी चाहिए।

तो वह कैसा है ? समस्त पदार्थों का परिज्ञाता है-पूर्ण रूप से जानने वाला सदा स्थिरभूत विराजमान है। जगत् में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिससे उसकी उपमा दी जाय, वह अरूपी सत्ता है। जो पदार्थ देखे हों, उन्हीं से उपमा दी जा सकती है और वही वचन से कहे जा सकते हैं। वे सब रूपी ही हो सकते हैं। अरूपी को रूपी की उपमा छाजती नहीं है और सिद्ध भगवान् की अवस्था किसी भी प्रकार के विशेषण से व्यक्त करने योग्य नहीं है। इसीलिए कहा जाता है कि सिद्ध भगवान् को जानने के लिए बुद्धि और कहने को शब्द शक्तिमान् नहीं हैं। केवल स्थूल और अपूर्व स्वरूप को व्यक्त करने के लिए, आभास मात्र देने के लिए शब्दोच्चारण किया जाता है। शास्त्र में कहा है —

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोई।
तण्हा-छुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥
इय सव्वकालतित्ता, अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहय, चिट्ठइ सुही सुहं पत्ता ॥ १९ ॥

—उववाईसूत्र

कोई पुण्यवन्त श्रीमन्त पुरुष सब प्रकार की सुख-सामग्री से युक्त है, तथा मनोज्ञ राग-रागिणी आदि श्रवण करके, नाटक आदि देख करके, पुष्प इत्र आदि सूंघ कर, इच्छित षट्रसमय भोजन करके और इच्छानुसार समस्त सुखों का भोगोपभोग करके तृप्त हो जाता है और निश्चिन्त होकर सुख-शय्या पर आनन्द से बैठता है, वह कामनाओं से रहित एव सन्तुष्ट हुआ है. उसे अब भोग भोगने को कुछ भी इच्छा नहीं रह गई है, इसी प्रकार सिद्ध भगवान् सिद्धिस्थान में सब प्रकार से तृप्त हैं, निरीह (निष्काम) हैं, अतुल, अनुपम, अमिश्र, शाश्वत, अव्याबाध, निरामय, अपार सुख से तृप्त हुए की भांति सदा विराजमान हैं। उनको कदापि, किसी भी काल में, किसी भी प्रकार की, किंचित् मात्र भी इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। ऐसे परमानन्द परम सुख में सदा काल सुस्थित रहते हैं।

ऐसे-ऐसे सिद्ध परमात्मा के अनेक गुणों का रटन करके, मनन करके, निदिध्यासन करके, एकाग्र चित्त से तल्लीन होकर ध्यान करना चाहिए। ध्यान करते समय अन्य कल्पना को किंचित् मात्र भी हृदय में प्रवेश नहीं करने देना चाहिए। ऐसा तन्मय हो जाय कि जिधर दृष्टि करे उधर वही-वही दृष्टिगोचर हो। इस प्रकार तन्मय बना हुआ साधक दृढाभ्यास से, उसी स्वरूप को ज्ञानदृष्टि से देखने लगेगा। तत्पश्चात् सिद्ध स्वरूप की और स्व-स्वरूप की तुलना करे कि सिद्ध में और मुझ में क्या अन्तर है ? कुछ भी तो नहीं। जो यह स्वरूप है, वही वह रूप है। मेरा निज रूप ही परमात्मा के सदृश है। मैं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् हूँ, निष्कलंक, निराबाध, चैतन्यमय सिद्ध बुद्ध परमात्मा मैं ही हूँ। इस प्रकार भेदरहित बुद्धि की निश्चलता-स्थिरता होने लगेगी। ऐसी स्थिरता प्राप्त करके अपने आपको शरीररहित, कर्म-कलंक रहित शुद्ध चिदानन्दमय जानने लगे। पूर्ण एकत्व को प्राप्त करे, द्वितीयपन किंचित् भी न रहे। इस स्थिति में ध्याता, ध्येय और ध्यान का पार्थक्य मिटकर एक ही रूप रह जाता है। यही निर्विकल्प दशा है, यही अभेदसमाधि है और यही अखण्ड चिन्मात्र की अनुभूति है।

जिनके सर्वविकल्प दूर हो गए हैं, रागादि दोषों का क्षय हो गया है, जो जानने योग्य सर्व पदार्थों को यथातथ्य जानने लगे हैं, जो समस्त प्रपंचों से विमुक्त हो गए हैं, मोक्षस्वरूप बन गए हैं और जिनकी आत्मा में सम्पूर्ण ज्योति का प्रकाश प्रकट हो गया है, ऐसे परम पुरुष ही रूपातीत ध्यान के ध्याता कहलाते हैं।

इस ध्यान के प्रभाव से, अनादि कालीन सुदृढ कर्मों का वन्धन क्षण मात्र में छिन्न भिन्न हो जाता है तथा तत्क्षण केवलज्ञान और केवलदर्शन का आविर्भाव होता है। (यह ध्यान आगे कहे जाने वाले शुक्ल ध्यान के पेटे में है।)

ऐसे शुद्ध ध्यान के प्रभाव से ध्याता पुरुष की आत्मा निर्मल हो जाती है और आठ ऋद्धियाँ एव आठ प्रकार की आत्मशक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। वे इस प्रकार हैं —

(१) ज्ञानऋद्धि-यह अठारह प्रकार की है-(१) केवलज्ञान (२) मन पर्यवज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) चतुर्दश पूर्वज्ञान (५) दशपूर्वज्ञान (६) अष्टाग निमित्तज्ञान* (७) बीजबुद्धि-जैसे शुद्ध क्षेत्र में योग्य वर्षा से धान्य को वृद्धि होती है, उसी प्रकार सहजानन्दी आत्मा में ज्ञान की विपुल वृद्धि होतीहै-अल्प ज्ञान का प्रचुर परिमाण में परिणत होना। (८) कोष्ठ बुद्धि-जैसे कोठो में रक्खा धान्य कम नहीं होता, उसी प्रकार प्राप्त हुआ ज्ञान कम न हो, उतना का उतना ही बना रहे। (९) पदानुसारिणी-एक पद का अनुसरण करके अनेक पदों को-सम्पूर्ण ग्रंथ-को समझ जाने की शक्ति। (१०) सभिन्न श्रोता —सूक्ष्म शब्द भी सुन ले तथा एक समय में अनेक शब्द सुनने की शक्ति। (११) दूरास्वाद- भिन्न-भिन्न स्वादों को एक ही समय में जान लेना तथा दूरगत रस का स्वाद जानने को शक्ति होना। (१२-१६) श्रोत्र‡ चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन-इन पाँचों इन्द्रियों को तीव्र शक्ति होना (१७) प्रत्येक बुद्धता-बिना ही उपदेश सुने अन्य सयोग से वैराग्य आना (१८) वादशक्ति—वादविवाद में इन्द्र आदि देवों को भी पराजित कर देने की शक्ति होना।

(२) क्रिया ऋद्धि-इसके नौ भेद हैं-(१) जलचर-पानी में चले पर डूबे नहीं (२) अग्निचारण-आग पर चले परन्तु जले नहीं। (३-६) पुष्पचरण, पत्रचरण बीजचरण अर्थात फूल पर, पत्ते पर और बीज पर चलना, तथा ततुचरण-मकड़ी के जाले के ततु के सहारे भी चल सकना (७) श्रेणीचरण-पक्षी की तरह उड़े (८) जघाचरण तथा (९) विद्याचरण-अर्थात् जघा को हाथ लगाकर तथा विद्या के प्रभाव से क्षण मात्र में अनेक योजन तक चला जाना।

(३) वैक्रिय ऋद्धि-के ग्यारह भेद हैं-(१) अणिमा-छोटा सा शरीर बनाना (२) महिमा-बड़ा भारी शरीर बनाना (३) लघिमा-हवा जैसा हल्का शरीर बनाना (४) गरिमा-वज्र जैसा भारी शरीर बना लेना (५) प्राप्ति-पृथ्वी पर रह कर मेरु की चोटी का स्पर्श कर ले (६) प्राकाम्य-पानी पर स्थल की तरह चले और पानी की तरह पृथ्वी में डूब जाय (७) ईशत्व-तीर्थङ्कर भगवान् के समवसरण आदि की जैसी ऋद्धि बना लेना (८) वशित्व-सब को प्यारा लगे (९) अप्रतिघात पर्वत को भी भेदकर उसके अन्दर निकल जाय (१०) अन्तर्धान-अदृश्य हो जाना और (११) काम रूप-इच्छानुसार रूप बना लेना।

---

* निमित्त के आठ अग—(१) अन्तरिक्ष आकाश में ग्रह नक्षत्र चन्द्र सूर्य मेघ आदि को देखकर (२) भौम-पृथिवी के कांपने से पृथ्वी के भीतर का निधान। (खजाना) जान ले (३) अग-मनुष्य के अग फड़कने का फल जानना (४) स्वर-पक्षियों के बोलने से (५) लक्षण-मनुष्य-पशु आदि के लक्षण (शारीरिक चिह्न देख कर (६) व्यजन-तिल मसा आदि का फल जानना (७) उत्पात-रक्तवर्ण दिशा आदि का फल जानना (८) स्वप्न-स्वप्न का फल जानना। इन आठ निमित्तों से शुभाशुभ फल को जानना।

‡बारह योजन तक की दूरी से शब्द को सुनले तथा पचेन्द्रियों के विषय को नौ योजन की दूरी से ही पहचान ले।

(४) तप ऋद्धि के सात भेद है (१) उग्रतप-एक उपवास का पारणा करके दो उपवास करें दो के पारणे तीन उपवास, इस तरह जीवन पर्यन्त बढाता जाय सो उग्रतप, जीवन की कामना त्याग करके तप करता उग्रोग्रतप एकान्तर उपवास करें और उसमें अन्तराय आ जाय तो बेले बेले पारणा करें, इस प्रकार चढ़ाता जाय सो अवस्थितोग्रतप। (२) दीप्त तप-तपस्या करने से शरीर तो दुर्बल हो जाय, परन्तु शरीर से सुगंध आवे कान्ति बढे (३) तप्ततप-जैसे तपे लोहे पर पड़ा हुआ पानी सूख जाता है, उसी प्रकार तीव्र क्षुधा लगते से थोड़ा आहार करे जिससे कि लघुनीत बड़ी नीत की बाधा न हो, शरीर में देवता से भी ज्यादा बल आ जाय और अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो (४) महातप ऋद्धि-मासक्षमण यावत छहमासी तप करे, क्षण भर भी प्रमाद न करके श्रुतज्ञान में लीन रहे, जिससे परमश्रुत, अवधिज्ञान एव मन. पर्ययज्ञान की प्राप्ति हो। (५) घोरतप-महावेदना उत्पन्न होने पर भी किंचित् प्रमाद न करना, औषध न लेना, ग्रहण किया तप न छोड़ना, उग्र (विकट) अभिग्रह धारण करना, शरीर की सार-सभाल न करना, ममत्वहीन होकर विचरना। (६) घोर पराक्रम-तप और सयम के अतिशय से जगत्त्रय को भयभ्रान्त कर सकना, समुद्र को भी सोख जाने की शक्ति हो जाना और पृथ्वी को भी उलटी कर देने की शक्ति आ जाना, ऐसी-ऐसी अन्य महाशक्तियाँ भी उत्पन्न हो जाना (७) घोरगुण ब्रह्मचारी-नौ वाडों से विशुद्ध और नौकोटि से युक्त शुद्ध शीलव्रत आदि के प्रभाव से तीन जगत के भयानक रोग को उपशान्त करके शान्ति का प्रसार कर सके, सब भयों को दूर कर सके, व्यन्तरभय न हो, जंगमविष, स्थावरविष आदि का किंचित् भी असर न हो, जहाँ रहे वहाँ महामारी दुर्भिक्ष आदि उपद्रव न हो, इत्यादि महाप्रभाववान हो।

(५) बलऋद्धि-के तीन भेद हैं—(१) मनोबली-राग, द्वेष, सकल्पविकल्प परिणाम से रहित मन रहना (२) वचनबली-अन्तमुहूर्त्त में द्वादशांगी का अभ्यास करे, बहुत समय तक पढ़ने पर भी थकावट न हो (३) कायबली-मास वर्ष पर्यन्त कायोत्सर्ग करने पर भी थकावट न होने की महाशक्ति होना।

(६) औषधऋद्धि—के आठ भेद हैं—(१) आमर्शौषध-चरण की धूल के स्पर्श से रोगी का रोग दूर हो जाना (२) खेलौषध—श्लेष्म (कफ) के स्पर्श से (३) जल्लौषध-पसीने के स्पर्श से (४) कान, आँख, नाक आदि शरीर के मैल के स्पर्श से (५) विप्रुडौषध—मल-मूत्र के स्पर्श से (६) सर्वौषध-पूर्वोक्त सभी वस्तुओं के स्पर्श से रोगी का रोग नष्ट हो जाना (७) आशीविषौषध -विष भी अमृत के रूप में परिणत हो जाय तथा वचन के श्रवण मात्र से सब विष दूर हो जाय (८) दृष्टिविषौषध--कृपा दृष्टि मात्र से विष अमृत बन जाय और कोप करके देखे तो अमृत भी विष हो जाय, महाविकारी भी निर्विकारी बन जाय, ऐसा महाशक्तिमान् होना।

(७) रसऋद्धि-इसके छह भेद हैं-(१) आशीविष-कोपयुक्त वचन मात्र से और (२) दृष्टिविष दृष्टिमात्र से दूसरे के प्राणों का नाश कर सके (३) क्षीरास्रवी-नीरस आहार हाथ के स्पर्श मात्र से क्षीर जैसा हो जाय तथा वचन मात्र से निर्बल पुष्ट--सबल- हो जाय (४) मधुआस्रवी--कटुक आहार स्पर्श मात्र से मधुर हो जाय तथा वचन मधु (शहद) जैसे परिणत हों (५) सर्पिरास्रवी--रूखा आहार स्पर्श मात्र से घृत- सस्कृत के समान हो जाय तथा वचन से रोग का नाश कर सके (६) अमृतास्रवी--स्पर्श से विष भी अमृत हो जाय तथा वचन से जहर उतर जाय।

(८) क्षेत्रऋद्धि-के दो भेद हैं-(१) अक्षीणमहानस-थोड़ा सा आहार भी स्पर्श मात्र से अक्षय हो जाय, चक्रवर्ती की सेना के भोजन करने पर भी समाप्त न हो (२) अक्षीणमहालय-स्पर्श मात्र से भोजन, वस्त्र, पात्र आदि सब अक्षय हो जाय।

यह सब १८+६+११+७+३+८+६+२=६४ भेद लब्धियों अर्थात् ऋद्धियों के हैं।

महान् तप और शुक्लध्यान के प्रभाव से ऐसी-ऐसी लब्धियाँ, आत्मशक्तियाँ मुनिराज को प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु वे कदापि उनके फल की इच्छा नहीं करते हैं, उन लब्धियों का प्रयोग करना तो दूर ही रहा।

अहो ! अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः ।
त्रैलोक्यं चालयत्येव, ध्यानशक्तिप्रभावतः ॥

अर्थ—अहा ! यह आत्मा सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाली है। इसकी शक्ति का कौन वर्णन कर सकता है ? यह अनन्त- अपार शक्ति से सम्पन्न है। आत्मा ध्यान के प्रभाव से, कदाचित् अपने पराक्रम को आजमावे तो, क्षण मात्र में तीनों लोकों को हिला सकती है !

ध्यान का यह द्रव्य-प्रभाव है। भाव-प्रभाव से तो शुद्ध ध्यान अनन्त अक्षय मोक्ष-सुख की प्राप्ति कराने वाला है।



चतुर्थ शाखा-शुक्लध्यान

'सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते। तं जहाः-'

अर्थात्-शुक्लध्यान के चार पाये, चार लक्षण, चार आलंबन और चार अनुप्रेक्षाएँ, यह सोलह भेद भगवान् ने फरमाये हैं। वे जैसे हैं वैसे यहाँ बतलाये जाते हैं।—

धर्मध्यान की योग्यता प्राप्त करके, शुद्ध ध्यान ध्याते हुए मुनि अधिक गुणों को प्राप्त करते हैं। तब वह धीर वीर मुनीश्वर शुक्लध्यान के ध्यानी बनते हैं।

शुक्लध्यानी के गुण

शुक्लध्यान की योग्यता जिनको प्राप्त होती है, उनकी आत्मा में स्वभावतः सद्गुणों का उद्भव होता है। वह गुण 'सागार धर्मामृत' ग्रंथ की टीका में इस प्रकार बतलाये हैं।

यस्येन्द्रियाणि विषयेषु निवर्तितानि,
सङ्कल्पमप्यविकल्पविकारदोषैः।
योगैः सदा त्रिभिरहर्निशितान्तरात्मा,
ध्यानं तु शुक्लमिति तत्प्रवदन्ति सन्तः॥

अर्थात्—(१) जिसकी इन्द्रियाँ विषयातीत हो गई हों, पाँच इन्द्रियों के २३ विषय ※ और २४० विकारों से निवृत्त होकर, शान्त बनकर कुमार्ग में प्रवेश करने से अटक गया हो, (२) इच्छातीत—मन सब प्रकार की इच्छा से निवृत्त होगया हो, जिससे चित्त में किसी भी प्रकार का संकल्प विकल्प 'चंचलपन' भी न रहे। एकान्त न्यायमार्ग की ओर लग गया हो। सुरांगनाएँ (अप्सराएँ) और सुरेन्द्र की ऋद्धि भी चित्त में क्षोभ न उपजा सकती हो, ध्यान से विचलित न कर सकती हो। इस लोक में पूजा-प्रतिष्ठा एवं

※ पाँच इन्द्रियों के २३ विषय और २४० विकार इस प्रकार हैं —

(१) श्रोत्रेन्द्रिय के जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द, यह तीन विषय शुभ-अशुभ के भेद से ६ प्रकार के हैं। इन पर राग और द्वेष धारण करना १२ विकार हैं।

(२) चक्षुरिन्द्रिय के काला, हरा, लाल, पीला और श्वेत, यह पाँच विषय सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से १५ प्रकार के हैं। शुभ-अशुभ के भेद से इनके ३० भेद होते हैं। इन ३० पर राग द्वेष करना ६० विकार हैं।

(३) घ्राणेन्द्रिय के दो विषय हैं-सुगंध और दुर्गन्ध। सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से छह भेद हैं। इन पर राग-द्वेष करना १२ विकार हैं।

(४) रसेन्द्रिय के खट्टा, मीठा, तीखा, कटुक और कसैला, यह पाँच विषय सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से १५ और शुभ-अशुभ के भेद से ३० हैं। इन पर राग-द्वेष धारण करना ६० विकार हैं।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय के हल्का, भारी, शीत, उष्ण, रुक्ष, चिकना, नरम और कठिन, यह आठ विषय सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से २४ और शुभ-अशुभ के भेद से ४८ भेद होते हैं। इन पर राग-द्वेष करना ९६ विकार हैं। यों कुल २३ विषय और २४० विकार हैं।

श्लाघा की तथा परलोक में देवऋद्धि आदि की वाञ्छा न रहे। मेरु के समान परिणामों की धारा स्थिर हो गई हो। (३) योगातीत-अर्थात मन वचन काय के योगों का निरोध कर दिया हो। मन को आत्मज्ञान में रमा दिया हो, बिना प्रयोजन वचनों का उच्चारण न करे और काया का व्यापार भी बिना प्रयोजन न करे। एक स्थान पर स्थिर हो। (४) कषायातीत-क्रोध आदि कषायों की आग को बुझा कर शीतल बन गया हो। अपमान या दूसरे मारणान्तिक कष्ट-घोर उपसर्ग आने पर भी कम्पित होना तो दूर रहा, परन्तु मन में दुर्भाव भी न लाना। (५) क्रियातीत- + अर्थात् कायिकी आदि २५ क्रियाओं से निवृत्त हो गया हो। मन आदि के व्यापार से सर्वथा निवृत्त बनने पर बाह्याभ्यन्तर क्रिया का आना बंद हो जाने से निष्क्रिय बना हो। (६) दृढ संहनन (७) शुद्धचारित्र-जिनोक्त क्रिया करने वाले, विशुद्ध अध्यवसाय वाले (८) शोक और विकलता आदि से रहित तथा (९) निष्कंप अर्थात अडोलवृत्ति वाले।

इन सब गुणों से युक्त महापुरुष ही शुक्लध्यान कर सकते हैं। शुक्लध्यान के भेदों का वर्णन आगे किया जाता है।

प्रथम प्रतिशाखा-शुक्लध्यान के पाये

सूत्र—पुहुत्तवियक्के सवियारी, एगत्तवियक्के अवियारे, सुहुमकिरिय अप्पडिवाई, समुच्छिन्नकिरिए अणियट्टी।

अर्थ—(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार (२) एकत्ववितर्क अविचार (३) सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाती और (४) व्युच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति, शुक्लध्यान के यह चार पाये हैं। यह चारों पाये उत्तरोत्तर प्रगाढ़ हैं और पूर्ण स्थिरता की ओर बढ़ते जाते हैं।

प्रथम पत्र-पृथक्त्ववितर्क

जीव और अजीव की पर्याय का पृथक्-पृथक् (अलग-अलग) विचार करे, अर्थात् श्रुतज्ञान (शास्त्रोक्त रीति) से पहले जीव की पर्याय का विचार करते करते अजीव की पर्याय में प्रवेश करे और फिर अजीव की पर्याय का विचार करते-करते जीव की पर्याय में प्रवेश करे। नय निक्षेप, प्रमाण, स्वभाव, विभाव आदि रीति से भिन्न भिन्न चिन्तन करे, आत्मद्रव्य से धर्मास्तिकाय की पृथक्ता करे, द्रव्य गुण पर्याय का भी पृथक्त्व करे, आत्मा के सामान्य-विशेष गुण का भी पृथक्त्व करे, एक पर्याय के भी द्रव्य गुण पर्याय के भेद का चिन्तन करे और आत्मा के असख्यात प्रदेशों में से एक प्रदेश को भी व्यंजन अर्थ और योग से चिन्तन करे, उसके द्रव्य, गुण और पर्याय का विचार करे। इस प्रकार विविध रूप से एक-एक वस्तु का विचार करते हुए अनेक प्रकार के तर्क--वितर्क उपजावे और अपने ही मन से उनका समाधान करता जाय। इस प्रकार उसमें तल्लीन बन कर अपनी आत्मा की ओर लक्ष्य पहुँचावे कि यह इन्द्रिय गोचर होने वाला

+ (१) प्रयोजन होने पर कर्म करना अर्थदण्ड क्रिया (२) निष्प्रयोजन क्रिया करना अनर्थदण्ड क्रिया (३) जीवघात करना हिंसादण्ड (४) अचिंतित कर्म हो जाना अकस्मात् दण्ड (५) भ्रम से घात करना दिट्ठिविपरियासिया क्रिया (६) झूठ बोलना मृषाप्रत्यय क्रिया (७) चोरी करना अदत्तादान दण्ड (८) अशुभ ध्यान करना आध्यात्मिक क्रिया (९) अभिमान करना मानप्रत्यया (१०) मित्र पर द्वेष करना मित्रद्वेष प्रत्यया क्रिया (११) कपट करना माया-प्रत्यया (१२) लालच करना लोभ प्रत्यया (१३) सूक्ष्म-गमनागमन आदि से होने वाली क्रिया। यह क्रिया केवलज्ञानी को लगती है। [illegible] हि।

पुद्गलपिण्ड और इसके भीतर रहने वाली चैतन्यमय आत्मा--दोनों अलग दीखते हैं। यह भेद प्रत्यक्ष से प्रतिभासित हो रहा है। किन्तु अनादिकालीन एकत्रता के कारण, बहिर्दृष्टि में एक रूप दिखलाई देते हैं, किन्तु वस्तु स्वरूप से निज-निज गुणों से अलग-अलग हैं। जैसे क्षीर और नीर (दूध और पानी) मिल कर एक रूप प्रतीत होते हैं, फिर भी दूध अपने स्वभाव में है और पानी अपने स्वभाव में हैं, अगर दोनों वास्तव में एकरूप हो गये होते तो हंस की चोंच के पुद्गलों के प्रभाव से अलग-अलग कैसे हो जाते? इसी प्रकार देह और जीव तथा कर्म और जीव एक रूप दिखाई देते हैं फिर भी आत्मा का चैतन्य गुण और जड़ का जड़ता गुण निज-निज सत्ता में अलग अलग है। अब मुझे दोनों की पृथक्ता का भास हुआ है। अब अनादि एकत्ववृत्ति का त्याग कर निज चैतन्य स्वभाव में स्थिरता प्राप्त करना योग्य है। द्वादशांग वाणी के पानी रूप समुद्र में गोता लगाना चाहिए।

यह ध्यान चौदह पूर्व के पाठी को ही होता है। इस ध्यान में मन वचन काय के योगों की दृढ़ता अपेक्षित है। फिर भी इस ध्यान के समय योगों का परिवर्त्तन होता रहता है। ध्याता एक योग से दूसरे योग का और दूसरे योग से तीसरे योग का अवलम्बन लेता है। विचार पलटने के कारण ही इस ध्यान का नाम पृथक्त्व वितर्क है। + यह आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुण-स्थानों में वर्त्तमान मुनि को होता है। इस ध्यान से चित्त शान्त हो जाता है। आत्मा की अन्तर्दृष्टि जागृत हो जाती है। इन्द्रियाँ निर्विकार होती हैं और मोह का क्षय तथा उपशम होता है।

द्वितीयपत्र-एकत्ववितर्क

एकत्ववितर्क का विचार पहले पाये से उलटा है। अर्थात् पहले पाये में पृथक् पृथक् तर्क-वितर्कों का प्रतिपादन किया गया था, किन्तु इसमें एकता रूप तर्क वितर्क है। एकत्ववितर्क ध्यान में विचार पलटता नहीं है। एकत्ववितर्क ध्यानी एक द्रव्य का, एक पर्याय का या एक अणु का चिन्तन करते हैं। उसी में एकाग्रता लगाते हैं और सुमेरु की तरह स्थिर हो जाते हैं।

यह ध्यान सिर्फ बारहवें गुणस्थान में होता है। इस ध्यान में सलीन होने के पश्चात् क्षण मात्र में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का नाश हो जाता है और तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म क्षय हो जाते हैं। इस प्रकार चारों घनघातिया कर्मों का क्षय हो जाता है। (यहाँ तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त हो जाता है और दूसरे पाये से आगे बढ़ते हैं।) तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करते ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होती है।

केवलज्ञान अपूर्व ज्योति है। वह पहले कभी नहीं प्राप्त हुआ, प्रथम बार ही प्राप्त होता है। केवलज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। सर्व लोक और अलोक बाह्य और आभ्यन्तर तथा सूक्ष्म और बादर, समस्त पदार्थों को केवली भगवान् हस्तामलकवत् जानते और देखते हैं। त्रिकाल के भवितव्य को एक ही समय मात्र में देख लेते हैं। अनन्त दानलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, लाभलब्धि और बल-वीर्यलब्धि की प्राप्ति होती है। उसी समय देवेन्द्र, मुनीन्द्र (आचार्य) उन्हें नमस्कार करते हैं।

कदाचित् ऐसे महात्मा ने तीसरे पहले के भव में तीर्थङ्कर गोत्र की उपार्जना की हो तो उसी समय समवसरण की रचना होती है। केवली भगवान् समवसरण के मध्य में ३४ अतिशयों से युक्त होकर विराजमान होते हैं और ३५ गुणों से युक्त वाणी का प्रकाश करते हैं। उस वाणी रूप सूर्य का उदय होने से

+ पृथक् विविध प्रकार, वितर्क श्रुतज्ञान और विचार अर्थात् व्यञ्जन योग तथा अर्थ का संक्रमण।

मिथ्यात्वतिमिर का तत्क्षण नाश हो जाता है और भव्यजन रूपी कमलों का वन प्रफुल्लित होता है। उनके सद्बोध के श्रवण से, लघुकर्मी जीव सतपथ पर आरूढ़ होकर भवभ्रमण रूप या संचित पाप रूप कचरे को जलाकर भस्म करते हैं और मोक्ष के सन्मुख होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। केवलज्ञान ऐसा परमोपकार करने वाला है। केवली भगवान् ही तीसरे पाये को प्राप्त करते हैं।

तृतीयपत्र-सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति

सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान का तीसरा पाया तेरहवें गुणस्थान में वर्त्तमान केवलज्ञानियों को होता है। इस ध्यान में सूक्ष्म अर्थात् थोड़ी क्रिया-कर्म- की रज रह जाती है। जैसे भुना हुआ अनाज खाने से पेट तो भरता है, परन्तु बोने से उग नहीं सकता है। इसी प्रकार अघातिया कर्मों की सत्ता से चलन आदि क्रिया कर सकते हैं, परन्तु वे कर्म भवांकुर उत्पन्न नहीं कर सकते। जब तक आयुकर्म है, तब तक वे कर्म रहते हैं और उनके योग से सूक्ष्म ईर्यापथिका क्रिया लगती है। अर्थात् मन, वचन, काय के शुभ योग की प्रवृत्ति होने से, आहार विहार निहार आदि करने से सूक्ष्म जीवों की विराधना होने के कारण क्रिया लगती है। वह क्रियाकर्म पहले समय में बँधता है, दूसरे समय में वेदन किया जाता है और तीसरे समय निर्जीर्ण कर दिया जाता है, अर्थात् दूर हो जाता है। जैसे कांच पर लगी रज हवा से दूर हो जाती है, उसी प्रकार वह कर्म भी दूर हो जाते हैं। मोहनीय कर्म का अभाव हो जाने से उसमें स्थिति नहीं पड़ती, वह ठहर नहीं सकता।

अप्रतिपाति का अर्थ है-एकबार प्रकट होकर फिर नष्ट न होने वाला। जैसे मति आदि चार ज्ञान परिणामों की वृद्धि से बढ़ते हैं और हीनता से हीन हो जाते हैं या चले जाते हैं, किन्तु केवलज्ञान एक बार आकर फिर नहीं लौटता है। उसमें सम्पूर्णता है, अतएव हानि-वृद्धि भी नहीं होती है।

चतुर्थपत्र-समुच्छिन्नक्रिय

शुक्लध्यान के चौथे पाये का नाम समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति है। वह ध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है। चौदहवें गुणस्थान का नाम अयोगी-केवली गुणस्थान है। अर्थात् इस गुणस्थानवर्ती भगवान् मन वचन और काय के योगों से रहित हो जाते हैं, जिससे समस्त क्रियाओं का उच्छेद (नाश) हो जाता है। जहाँ योग और लेश्या नहीं, वहाँ क्रिया का कोई कारण ही नहीं रहा। अतएव वे अक्रिय हो जाते हैं। अनिवृत्ति का तात्पर्य है शैलेशी (सुमेरु पर्वत के समान स्थिर) अवस्था को प्राप्त होना। इस अनुपम स्थिर अवस्था को प्राप्त कर लेने के कारण वे शुद्ध चितस्वरूप, परमानन्दमय और परम विशुद्धता निर्मलता से महित हो जाते हैं। अघातिक कर्मों का भी क्षय हो जाने से शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। फिर वे उस स्वभाव से कदापि निवृत्त नहीं होते। जिस स्थिति में मोक्ष पधारते हैं उसी स्थिति में अनन्त-अनन्त काल तक विद्यमान रहते हैं। यह शुक्लध्यान का चौथा पाया है।

द्वितीय प्रतिशाखा-शुक्लध्यान के लक्षण

सूत्र—'सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता। तंजहाः—विवेगे, विउस्सग्गे, अवट्ठिए, असंमोहे।'

अर्थात्—शुक्लध्यान के ध्याता के चार लक्षण (पहचान-चिह्न) भगवान् ने फर्माये हैं वे इस प्रकार हैं:-(१) विवेक अर्थात निवृत्ति भाव (२) व्युत्सर्ग-सर्वसंग-परित्याग (३) अवस्थित-स्थिरीभूत (४) असंमोह अर्थात् मोहहीनता।

प्रथम पत्र-विवेक

विविक्त शुक्लध्यानी का सदा यही विचार रहता है कि—

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥

अर्थात—मैं एक हूँ। मेरा दूसरा कोई नहीं है। मैं दूसरे किसी का नहीं हूँ। अर्थात मुझे किसी भी द्रव्य ने उत्पन्न नहीं किया। जीवद्रव्य अनादि अनन्त है। इसको उत्पन्न करने की या नष्ट करने की शक्ति किसी भी अन्य द्रव्य में नहीं है। यह कभी उत्पन्न भी नहीं हुआ, क्योंकि इसकी सत्ता अनादि है, और कभी इसका नाश भी नहीं होने का, क्योंकि यह अविनाशी और अनन्त है। इसी लिए कहा है—' मे सासओ अप्पा ' अर्थात् मेरी आत्मा शाश्वत है।

आत्मा असग है, अभग है, अरग है, सदा अपने चैतन्य गुण में रमण करने वाला है। पर-सग की इसे कुछ आवश्यकता नहीं है। आत्मा का निजगुण ज्ञान और दर्शन है। वह अनादि अनन्त है। ज्ञान और दर्शन कहने को तो दो हैं, परन्तु सगत्व की अपेक्षा एक ही हैं, क्योंकि अकेला ज्ञान किसी भी स्थान और किसी भी काल में ठहर नहीं सकता। ज्ञान क साथ ही दर्शन रहता है। ज्ञान का अर्थ जानना और दर्शन का अर्थ श्रद्धान करना अथवा देखना है। यही जीव के लक्षण हैं। इनके सिवाय और जो कुछ है, वह सूक्ष्म (अदृश्य) हो या बादर (दृश्य) पदार्थ हो, * सब चैतन्य द्रव्य से स्वभाव में और गुण में अलग हैं, क्योंकि वह सब अचेतन हैं, और सयोग-वियोग उनका सहज स्वभाव है। कभी इधर-उधर से आकर मिल भी जाते हैं और बिछुड़ भी जाते हैं। इनका कुछ भरोसा नहीं है—आत्मा के साथ इनका कोई एकत्व नहीं है। आत्मा तो विशुद्ध चिदानन्दस्वरूप है।

ऐसा जान कर शुक्लध्यानी स्वभाव से ही निवृत्तिभाव को प्राप्त होते हैं। अन्य प्रवृत्ति को आत्म-स्वभाव में प्रवेश करने का अवकाश ही नहीं मिलता है।

द्वितीय पत्र-व्युत्सर्ग

शुक्लध्यानी स्वभाव से ही सदा सर्व सग के त्यागी होते हैं कपिल केवलीजी ने फर्माया है.—

विजहित्तु पुव्वसंजोगं, न सिणेहं कहिं वि कुव्वेजा।
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू॥
सव्वं गथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई॥

* पुद्गल छह प्रकार के होते हैं—(१) बादर बादर जो टुकड़े होने पर आपस में मिलें नहीं, जैसे पाषाण, काष्ठ आदि। (२) बादर जो टुकड़े होने पर भी फिर मिल जाएँ, जैसे घृत, तेल, दूध आदि। (३) बादर सूक्ष्म-जो दिखाई दें परन्तु ग्रहण न किये जा सकें, धूप, छाया, चांदनी आदि। (४) सूक्ष्म बादर-शरीर से स्पृष्ट हों परन्तु दिखाई न दें, जैसे हवा, सुगध आदि। (५) सूक्ष्म-परमाणु, जिसके दो भाग नहीं हो सकते हों। (६) सूक्ष्मसूक्ष्म-कर्म वर्गणा के पुद्गल।
—गोम्मटसार

सब प्रकार के संयोगों का-माता पिता आदि के पूर्व संयोग का, श्वसुरपक्ष के पश्चात्-संयोग का और आभ्यन्तर संयोग राग द्वेष तथा कषाय रूप परिणति का फल महाक्लेश रूप प्रतीत हुआ, अतएव सब प्रकार के संयोगों से ममत्व दूर हो गया, संबंध टूट गया। शब्द आदि काम तथा गंध आदि भोग पाश (बन्धन) के समान मालूम हुए, अत उनसे स्वभावत विरक्त हो गए-राग-द्वेष से रहित हो गए। यह संयोग संसार परिभ्रमण कराने वाला है, अत मुमुक्षु पुरुष किसी भी पदार्थ पर राग न करे। जो अपने प्रति अनुराग रखते हैं, उनके प्रति भी स्नेह धारण न करे सर्वत्र राग-द्वेष विहीन वृत्ति धारण करे। सब प्रकार के संयोग का तथा कलह का त्याग करे। संसार के जितने भी काम-भोग हैं, उनके असली रूप को -दु खप्रद परिणाम को समझ कर षट्काय का और अपनी आत्मा का रक्षक मुनि कहीं भी लिप्त न हो। इस प्रकार की वृत्ति बन जाने से ज्ञानादि रत्नत्रय की स्वाभाविक ज्योति प्रदीप्त हो जाती है। आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, चारित्र और अनन्त शक्ति रूप चतुष्टय का भोक्ता बन जाता है।

तृतीय पत्र-अवस्थित

अवस्थित अर्थात स्थिरीभूत हुए। अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी निर्मोही बने। समस्त इच्छाओं से विनिमुक्त हुए। 'मेरुरिव धीरा' अर्थात् जैसे प्रचंड से प्रचंड वायु चलने पर भी सुमेरु पर्वत चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार महान् प्राणान्तिक कष्ट प्राप्त होने पर भी परिणामों की धारा कदापि चल-विचल नहीं होती। सदैव अविचल रहते हैं।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के द्वितीय अध्ययन में कहा है —

समणं संजयं दंतं, हणिज्ज कोई कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति, एवं पेहेज्ज संजए॥

अर्थात्—कषायों के नष्ट होने से श्रमण पद को प्राप्त, अपनी आत्मा को साधने के कारण संयत और रागादिक रिपुओं का नाश होने से दान्त बने हुए ऋषिराज महाराजाधिराज को किसी भी कर्मोदय से, कोई किसी भी प्रकार का कष्ट दे, प्राणों का घात करने वाला उपसर्ग करे, फिर भी वह तो यही सोचते हैं कि मेरी आत्मा अविनाशी है, अनुपसर्ग है, उसका कदापि विनाश नहीं हो सकता। शरीर का अन्त आ सकता है, किन्तु यह मेरा नहीं है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

—भगवद्गीता,

यह आत्मा शस्त्र से छेदी-भेदी नहीं जा सकती, आग इसे जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और हवा सुखा नहीं सकती। अतएव मुझे कोई किसी भी प्रकार का उपसर्ग उपजाने में समर्थ नहीं है। 'नत्थि जीवस्स नासो त्ति' जीव का नाश कदापि नहीं हो सकता अतएव मैं अमर हूँ। यह मनुष्य पशु या देव जिसका नाश करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, वह तो नाशवान् है। आज, कल या कभी आगामी काल में इसका नाश अवश्य ही होगा। करोड़ों यत्न करने पर भी यह रह नहीं सकता।

जिनके अन्त करण में इस प्रकार का निश्चय हो जाता है, उन्हें किसी भी प्रकार की बाधा, पीड़ा दुःख रूप मालूम नहीं पड़ती। गजसुकुमार मुनिराज के सिर पर आग के अंगारे रख दिये। तड़-तड़ करके

खोपड़ी जलने लगी और आखिर भस्मीभूत हो गई। परन्तु उनकी नाक पर या ललाट पर सलवट भी नहीं पड़ा!

जैसे मरे हुए पशु के शरीर की चमड़ी उधेड़ ली जाती है, उसी प्रकार खधक ऋषिराज के जीवित शरीर की चमड़ी उधेड़ी गई। रक्त की नालियाँ बह गई। परन्तु ऋषिराज ने तनिक-सा हाय भी नहीं किया।

स्कन्धक मुनि के पाँच सौ शिष्य कोल्हू में तिलों की तरह पील दिये गये, परन्तु वे नेत्रों में जरा भी लाली न लाये।

मेतार्य मुनिवर के मस्तक के चारों ओर गीली चमड़ी का पट्टा कस कर लपेट दिया गया और उन्हें धूप में खड़ा कर दिया गया धूप से सूखकर चमड़ी सिकुड़ी तो आँखें बाहर निकल कर छिटक पड़ीं। किन्तु उनके मन में तनिक भी दुर्भाव नहीं आया।

ऐसे-ऐसे अनेक उदाहरण शास्त्रों में विद्यमान हैं। ऐसे महान् उपसर्ग के समय परिणामों की धारा एक-सी बनाए रखना सहज नहीं है, किन्तु मोक्ष प्राप्त करना भी तो आसान नहीं है। उन महात्माओं को यही निश्चय हो गया था कि 'नत्थि जीवस्स नासो त्ति' अर्थात् आत्मा अजर अमर है,जीव का कदापि विनाश नहीं हो सकता। जलने वाला, गलने वाला, पड़ने वाला, सड़ने वाला तो आत्मा से अलग ही है, मैं आत्मा अलग हूँ। मैं केवल दृष्टा हूँ। इस प्रकार की परिणामधारा स्थिरीभूत हो जाने से उन महात्माओं ने स्वल्प काल में ही अनन्त कर्म वर्गणाओं का क्षय किया और अनन्त, अक्षय, अव्याबाध मोक्ष-सुख प्राप्त किया।

चतुर्थपत्र-अमोह

शुक्लध्यान का चौथा लक्षण अमोह है। शुक्लध्यानी स्वभाव से ही मोहरहित होते हैं।

मोही बध्नाति कर्माणि, निर्मोही विमुच्यते।

अर्थात्—मोह से कर्म का बंध होता है और निर्मोहदशा कर्म-बन्धन से छुड़ाती है।

इस प्रकार का निश्चय होने से शुक्लध्यानी को स्वभाव से ही निर्मोह अवस्था प्राप्त हो जाती है संसार में कोई भी पदार्थ उन्हें मोह को उत्पन्न करने वाला नहीं जान पड़ता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में चित्त मुनीश्वर के कथन का उल्लेख है कि—

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

अर्थात्—सभी गीत-गान विलाप के समान हैं, क्योंकि दोनों के-गीत के शब्दों और विलाप के शब्दों के उत्पन्न होने का स्थान और समावेश होने का स्थान एक ही है। मुख से दोनों उत्पन्न होते हैं और कानों में दोनों का समावेश होता है। दोनों राग-द्वेष की परिणति से परिपूर्ण हैं। गायन प्रेम का दर्शक और उदासी का दर्शक-दोनों प्रकार का होता है, इसी प्रकार रुदन भी प्रेमदर्शक और उदासीदर्शक दोनों तरह का होता है। प्रेम या उदासीनता का भाव जीव की मोह, गृद्धि आदि रूप भावना पर निर्भर है। गीत मोह-मद से भरे हुए होते हैं, कर्म विकार से उनका उद्भव होता है और चित्त में विचित्रता उपजाने वाले होते हैं। इस प्रकार वे अनेक असद्भावों के कारण हैं। ऐसा जान कर और केवलज्ञान से प्रत्यक्ष देख कर देवों,

किन्नरों, या मनुष्य आदि के गीतों को श्रवण करते हुए भी किंचित् मात्र भी राग-द्वेष रूप परिणति उत्पन्न नहीं होने देवे।

इसी प्रकार ससार के समस्त नृत्य नाटक विडम्बना रूप हैं। नृत्य और नाटक देख-देख कर हर्ष और उल्लास एव अनुराग तथा आसक्ति का अनुभव करने वाले लोग ऐसे कर्मों का बन्ध करते हैं जिससे चतुर्गति रूप ससार में परिभ्रमण करना पड़ता है और नाना प्रकार की विडम्बनाएँ भोगनी पड़ती हैं। अतएव विडम्बनाओं के कारण होने से नृत्य-नाटक आदि विडम्बना रूप ही हैं। रागी जीव नाना तरह की विडम्बनाएँ भोगते हैं। कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी ऊँच और कभी नीच, इस प्रकार अनेक और विचित्र रूप धारण करके अनेक जनों के समूह या देवगणों के बीच में हास्य, रुदन और नृत्य आदि करके बतलाना पड़ता है। फल की विचित्रता को भूलकर दोनों (नर्तक और प्रेक्षक) हर्षानन्द में मग्न हो जाते हैं, मानों भवभ्रमण की विडम्बना से अभी तक तृप्त नहीं हुए हैं। सो अब स्वत नाच कर या नाच देख कर तृप्तिलाभ कर रहे हैं।

शुक्लध्यानी जगत् की यह विडम्बना देखकर, अपने ज्ञान से समस्त ससार के नाटक देखते हुए भी राग-द्वेष के वशीभूत नहीं होते हैं-पूर्ण रूप से अलिप्त रहते हैं।

इसी प्रकार समस्त आभरण (गहने) भार रूप हैं। पृथ्वी से ही कङ्कर पत्थर, लोहा आदि सामान्य धातु उत्पन्न होते हैं और पृथ्वी से ही चाँदी सोना आदि धातुएँ तथा हीरा पन्ना आदि रत्न उत्पन्न होते हैं। दोनों एक सरीखे जड़ रूप हैं, भारभूत हैं। फिर भी सरागी पुरुष ककरों और पत्थरों का वजन लादने में दु ख मानते हैं, किन्तु रत्न के आभूषणों से लदे फिरते हैं, और उसमें हर्ष का अनुभव करते हैं। वीतराग पुरुष यथार्थ दृष्टि से देखते हुए आभूषण-विभूषित पर और नग्न पर मध्यस्थ भाव धारण करते हैं। न किसी पर राग और न किसी पर द्वेष करते हैं।

इस जगत् में जितने भी दुःख हैं, वे सब कामभोगों से ही उत्पन्न होते हैं। जो कामभोगों का अर्थी है, वही अनन्त दुःखमय ससार भार को वहन करता है। कामभोगों की अभिलाषा ही समस्त दुःखों और विपत्तियों का मूल कारण है।

जगत् में प्रत्यक्ष ही यह सब तमाशा दीख रहा है। ऐसा जान कर ज्ञानी महात्मा स्वभाव से ही समस्त अभिलाषाओं से मुक्त हो कर शान्त बन जाते हैं और मोह का सर्वथा नाश करके वीतराग बनते हैं।

तृतीय प्रतिशाखा-शुक्लध्यान के आलम्बन

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा-खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे।
अर्थात् शुक्लध्यान के चार आधार हैं-(१) क्षमा (२) निर्लोभता (३) सरलता और (४) नम्रता।

प्रथम पत्र-क्षमा

क्षमाश्रमण क्षमास्वभाव में रमण करते हुए अन्य की ओर से, परपुद्गलों से या स्वपरिणति की विपरीतता से, अगर चित्त में क्षोभ उपजाने वाले पुद्गलों का सयोग मिल जाय तो अपनी आत्मा के अथवा पर की आत्मा के ज्ञान दर्शन चारित्र रूप पर्याय की सकल्प-विकल्प द्वारा घात करे नहीं, करावे नहीं और करने को अच्छा जाने नहीं। अपने क्षमा रूप अमूल्य गुण का कदापि घात न होने दे। शुभ-अशुभ सयोगों

में चित्तवृत्ति को स्थिर रक्खे और पुद्गलों के स्वभाव की तरफ दृष्टि रख कर विचार करे कि—जिन-जिन पुद्गलों का, जिस-जिस समय, जिस-जिस प्रकार से परिणत होने का द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप संयोग मिलता है, उस समय वे उस रूप में परिणत हुए बिना नहीं रहते। यह जगत् का अनादि का स्वभाव है।

शुक्लध्यानी की परिणति स्वभावतः इस पुद्गलपरिणमन की ओर से विरक्त रहती है, अतएव उसका उनकी आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। पुद्गलों की कोई भी परिणति जगत में विद्यमान रहते हुए भी वीतराग की आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकती, उनकी आत्मा में किंचित् भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती।

जगत् की कार्य-परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है और अनंत काल तक चलती रहेगी। मन वचन काय के शुभाशुभ व्यापारों का चक्र अप्रतिहत गति से चल रहा है। मिथ्यात्व के भ्रम से भ्रान्त जीव दुर्विचार, दुरुचार और दुराचार करके, दूसरों से करा कर और करने वालों का अनुमोदन करके कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है। जैसे चिकना घड़ा उड़ती हुई रज को आकर्षित करता है और मलिन बन जाता है, उसी प्रकार जीव उस कर्म-रज से मलीन हो जाता है। इस प्रकार निज स्वभाव का आच्छादन हो जाता है और परभाव में रमण करके विभाव को प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष काच के घड़े की तरह निर्लेप होते हैं। उनकी आत्मा में मोह का चिकनापन नहीं होता। अतएव कार्मण वर्गणा के पुद्गल उनकी आत्मा के साथ चिपक नहीं सकते, ठहर नहीं सकते। वे मनोयोग आदि तीनों योगों की प्रवृत्ति से स्वभावतः ही अलग रहते हैं। निज आत्मा के गुणों में रमण करते हैं।

इस जगत् में अनेक जीव बोलते हैं और अनेक जीव सुनते हैं। उस सब पर हम ध्यान नहीं देते हैं तो वे पुद्गल अपनी आत्मा में राग-द्वेष को उत्पन्न नहीं करते हैं। उन्हीं शब्दों को आप अपनी ओर खींचें और यह मान लें कि यह गाली मुझे ही दी है तो, वे पुद्गल आपकी आत्मा में परिणत होकर आपको द्वेषपूर्ण बना देंगे।

आप जरा दीर्घ दृष्टि से विचार कीजिए। वास्तव में कोई आपकी निन्दा करता ही नहीं है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही ऐसा नहीं है कि उसकी निन्दा की जा सके। आत्मा तो ज्ञानादि अनन्त गुणों का सागर है और ज्ञानादि गुणों की निन्दा कोई करता ही नहीं है। निन्दा तो विषय कषाय आदि की का जाती है और वह परिणति कर्म जनित है। कर्म पुद्गलरूप हैं, उनका स्वभाव आत्मा से सर्वथा विपरीत है। इसी कारण वे निन्दा के पात्र हैं। उनकी निन्दा तो होगी ही। चेतन! तू चैतन्य स्वभाव वाला है। कर्मों से अलग है। फिर कर्मों के अधीन होकर तथा जड़-चेतन को एक मान कर क्यों मलिन बनता है? पुद्गलों की निन्दा सुनकर क्यों बुरा मानता है? जिन्हें जगत् बुरा कहता है, उन्हीं को वे वचन लगें और उन्हीं दुर्गुणों का नाश हो कि जिससे मेरा हित हो सके।

शुक्लध्यानी की आत्मा में ऐसे और इससे भी अत्युत्तम विचार ठँसे रहते हैं। वे स्पष्ट रूप से देखते हैं कि क्रोध विश्वानल होकर जीवों की स्वाभाविक परिणति की शान्ति को और सद्गुणों को भस्म कर रहा है। वे चाहते हैं कि मेरी आत्मा इस भीषण आग से अलग ही रहे। शुक्लध्यानी की आत्मा ज्ञानादि गुणों के महासमुद्र में अवगाहन कर रही है, उसे क्रोध की ज्वालाएँ स्पर्श नहीं कर सकतीं। उन्हें वह आँच छू नहीं सकती। वे सदा सवृत्त, निवृत्त, शान्त, शीतलीभूत अखण्डानन्द में रमण करते हैं।

द्वितीय पत्र-निर्लोभता

अखिल जगत लोभ और तृष्णा के पाश में फँस रहा है। शुक्लध्यानी महात्मा जड़ मूल से उस पाश को छिन्न भिन्न करके सन्तोष में स्थित हुए हैं। ज्ञानी जन भलीभाँति जानते हैं कि इस जगत् में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका स्वामी यह जीव कई बार न बन चुका हो या भोगोपभोग न कर चुका हो। अनन्त-अनन्त बार यह जीव समस्त पुद्गलों का स्वामी बना है और अनन्त अनन्त बार सब का भोग भी कर चुका है। एक बार आहार करके निहार की हुई वस्तु को देखते ही घृणा और जुगुप्सा उत्पन्न होती है, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन वस्तुओं का अनन्त बार आहार करके निहार कर आया है, उन्हीं का भोगोपभोग करने के लिए बहुत से जीव तरस रहे हैं, तड़फ रहे हैं, उनकी तृष्णा में व्याकुल हो रहे हैं। जिन वस्तुओं को अनन्त बार भोग लेने पर भी तृप्ति नहीं आई, उन्हें एक बार और भोग लेने से क्या तृप्ति आ जाएगी? नहीं, सन्तोष धारण किये बिना कदापि तृप्ति नहीं आ सकती। मगर मोह की लीला अपरम्पार है! जगत् के जीव विचारहीन बन रहे हैं। वर्तमान काल के शरीर के पुद्गल तथा पहले धारण किये हुए शरीरों के पुद्गल, जगत् के सब जीवों के भक्ष्य बन चुके हैं। सब ने उन सब पुद्गलों का आहार करके निहार कर दिया है। उसी प्रकार अन्य सब प्राणियों के धारण किये शरीरों के पुद्गलों का अपन भी अनन्त बार भक्षण कर चुके हैं।

यह जीव जगत की समस्त ऋद्धि का स्वामी बन चुका है और जगत के समस्त जीवों का दास भी बन चुका है। यह जीव अनन्त पर्याय रूप संसार में भ्रमण कर आया है, सब खाद्यों को खा चुका है, सर्व पेयों को पी चुका है, किन्तु प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं हुआ, आखिर रहा वैसा का वैसा ही।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो न मैं किसी का हुआ, न कोई मेरा हुआ। न मुझे किसी ने खाया और न मैं ने किसी को खाया। पुद्गल ही पुद्गल का भक्षण करता है और छोड़ता है। ये भाव पुद्गलों में ही होते रहते हैं। मुझे उससे प्रयोजन ही क्या है? मैं चेतन और यह पुद्गल! जैसे नाटककार नाना प्रकार के रूप धारण करके प्रेक्षकों को प्रसन्न करने के लिए अनेक अभिनय करता है, कभी रोता है, कभी हँसता है, आदि-आदि। परन्तु प्रेक्षक को उसका चरित्र देखकर सुख-दुःख का अनुभव करने की क्या आवश्यकता है?

इसी प्रकार इस जगत के नाटक का मैं प्रेक्षक हूँ। इसकी विचित्रता देखकर, इसके विचार में लीन होकर मुझे दुखी होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार की भावनाएँ और इनसे भी अत्युत्कृष्ट भावनाएँ शुक्लध्यानी के हृदय में स्वभाव से ही प्रवृत्त होती रहती हैं। इस कारण सहज ही सर्वसंग के परित्यागी होकर, सिद्धात्मा की भाँति सदा निरीह भाव में, तृप्ति पूर्वक रमण करते रहते हैं।

तृतीय पत्र-आर्जव

आर्जव का अर्थ है—ऋजुता या सरलता। शुक्लध्यानी स्वभाव से ही सरलता के साथ प्रवृत्ति करते हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में बतलाया गया है कि आर्य और सरल आत्मा ही धर्ममार्ग में गति-प्रवृत्ति कर सकता है। ज्ञानी समझते हैं कि वक्र आत्मा का धनी अन्य को ठगने जाता है तो आप ही ठगा जाता है और एक बार ठगाया हुआ प्राणी कर्मानुयोग से भवान्तरों की श्रेणियों में अनन्त बार ठगा जाता है। सर्व पुद्गल-

परिणति में परिणत पदार्थ कुटिलता से भरे हुए हैं। सकर्मा जीव उनमें परिणामों की प्रवृत्ति करता हुआ, पुद्गलों का आकर्षण करके तद्रूप बनता है। उसे मायाशल्य कहते हैं। मायाशल्य मिथ्यादर्शन का मूल है इस शल्य से आत्मा के ज्ञानादि गुणों का आच्छादन होता है।

शल्य काँटे को कहते हैं। जैसे शरीर के भीतर रहा हुआ काँटा तन्दुरुस्ती में बाधा पहुँचाता है उसी प्रकार माया रूप शल्य जिनके हृदय में प्रविष्ट है, उनका ध्यान समीचीन नहीं हो पाता। जैसे सीधे म्यान में बाँकी तलवार प्रवेश नहीं करती है, उसी प्रकार वक्र प्रकृति के धनी के हृदय में शुभ ध्यान प्रवेश नहीं करता है। ऐसा निश्चय होने से शुक्लध्यानी के हृदय से माया स्वभाव से ही नष्ट हो जाती है।

शुक्लध्यानी विचारते हैं कि कपट किसके साथ किया जाय? चैतन्य के निज गुण तो कपट से छले नहीं जा सकते। आत्मा का निज स्वभाव सरल शुद्ध और पवित्र है। उसे छोड़कर मलिनता में पड़ना ही अज्ञान दशा है।

ऐसा जान कर शुक्लध्यानी महात्मा स्वभाव से ही परम ज्ञानी परमध्यानी, निष्कपट, निर्विकार सदा आत्मगुणों में निमग्न, बाह्य और अन्तरग में शुद्ध सरल प्रवृत्ति करने वाले ही होते हैं।

चतुर्थ पत्र-मार्दव

मान का मर्दन करना मार्दव कहलाता है। शुक्लध्यानी महापुरुष स्वभाव से ही अभिमान हीन होते हैं, क्योंकि वे जानतेहैं कि इस जगत् में बड़ा मीठा और बड़ा जबर्दस्त शत्रु अभिमान है। यह मनुष्य को ऊँचा चढ़ाकर नीचे गिरा देता है। जो देवलोक के सुखों में मग्न हो रहे हैं, उन्हें तिर्यञ्च गति में डालता है। अभिमान से ऐसी अनेक विडंबनाएँ होती हैं।

शुक्लध्यानी जानते हैं कि अभिमानी किस बात का किया जाय? देखिए, अभी किसी निरक्षर मूर्ख मनुष्य को कोई पण्डित कहे तो वह चिढ़ता है। निर्धन को श्रीमंत कह दिया जाय तो वह बुरा मानता है कहता है-हमारी हँसी करते हो? इसी प्रकार ज्ञानी के कोई गुणग्राम करे तो वह यही सोचते हैं कि यह सम्पूर्ण गुण तो मेरी आत्मा में हैं ही नहीं। फिर इन प्रशंसा-वचनों को सुन कर मुझे अभिमान करने की क्या आवश्यकता है? यह मेरी प्रशंसा नहीं करता है, किन्तु मुझे उपदेश करता है कि सत्य, शील, दया, क्षमा आदि गुणों को स्वीकार करो।

शुक्लध्यानी सर्वोत्तम गुणों से सम्पन्न होकर भी अपने गुणों का किंचित् मात्र भी अभिमान नहीं करते। वे सदैव निरभिमान रहते हैं। मनुष्य को विचार करना चाहिए कि जो प्रशंसा या स्तुति की जाती है, वह तो गुणों की की जाती है, उसका अभिमान गुणों को तो होता नहीं है फिर बीच में मुझे अभिमान करने की क्या आवश्यकता है? संसार में सुनते हैं कि अमुक अच्छी वस्तु की सराहना की, जिससे वह बिगड़ गई, उसे नजर लग गई। बस, इसी प्रकार गुणानुवाद करने से तू अभिमान करेगा तो तेरे ही गुणों की खराबी होगी। ऐसा जान कर क्यों अभिमान करना और क्यों गुणों को खराब करना?

सद्गुणों की जो प्राप्ति हुई है, वह आत्मा का सुधार करने से हुई है। अब उसी से बिगाड़ करना कितनी भयंकर भूल है।

शुक्लध्यानी पुरुषों को स्वभावतः इस प्रकार का निश्चय होने से उनकी आत्मा सदैव निरभिमान-नम्रीभूत रहती है।

शुक्लध्यान के ध्याता मुनिवरों को इन चार सद्गुणों का स्वभाविक आलम्बन रहता है, अतएव वे अखण्ड अप्रतिपाती ध्यान में लीन रहते हैं।

चतुर्थ शाखा-शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएँ

सुक्कस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—अवायाणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अणंतवित्तीयाणुप्पेहा, विप्परिणामाणुप्पेहा।

अर्थात्—शुक्लध्यान ध्याता की चार अनुप्रेक्षाएँ—विचारणाएँ कही गई हैं। वह इस प्रकार हैं—(१) अपायानुप्रेक्षा—दु ख से निवृत होने का विचार (२) अशुभानुप्रेक्षा—अशुभ प्रवृत्ति आदि से निवृत्त होने की भावना (३) अनन्त वृत्ततानुप्रेक्षा—अनन्त भव परम्परा की विचारणा (४) विपरिणामानुप्रेक्षा—विपरीत परिणामों से निवृत्त होने का विचार। शुक्लध्यानी को यह चार प्रकार का विचार स्वाभाविक होता है।

प्रथम पत्र-अपायानुपेक्षा

भवभ्रमण करने वाले जीव को (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग अनन्त विडम्बना देने वाले हैं।

(१) मिथ्यात्व—निजात्मा की वीतरागदशा के अनुभव में जो विपरीत रुचि होती है, उसमें अभिनिवेश (आग्रह) उत्पन्न करने वाला तथा पर-पदार्थों को आत्मतत्त्व से सम्बन्धित करके सम्पूर्ण द्रव्यों में विपरीत आग्रह उत्पन्न करने वाला विकार मिथ्यात्व है।

(२) अविरति-अन्तरग में, 'आत्मा ही परमात्मा है' इस प्रकार की भावना से उत्पन्न हुए परम-सुख रूप अमृत के समान भोजन करने की रुचि को जो पलट दे वह, तथा वहिरग में जो व्रत आदि न धारण करने दे, उसे अविरति कहते है।

(३) प्रमाद—अन्तरंग में प्रमाद रहित शुद्धात्मा की अनुभूति से विचलित करने वाली परिणति तथा वहिरग में मूल गुणों और उत्तर गुणों में अतिचार उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति प्रमाद है।

(४) कषाय-अन्तरग में, परम उपशममूर्ति, स्वभाव से ही केवलज्ञानादि अनन्त गुणों को धारण करने वाले शुद्ध आत्मस्वरूप में जो क्षोभ उत्पन्न कर दे तथा वहिरग में विषयों के संबंध से क्रूरता आदि आवेश रूप जो क्रोध आदि हैं, वह कषाय है।

(५) योग-निश्चय से आत्मा क्रियारहित है। किन्तु व्यवहार से, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न, मन वचन और काय की पुद्गलवर्गणाओं का अवलम्बन करने वाला और कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत आत्मा के प्रदेशों का सचलन योग कहलाता है।

यह पाँच आस्रव ससारी जीवों में अनादिकाल से हैं। इनसे अनत ससार रूप परिणति हो रही है। अर्थात् यह पाँच आस्रव अनादि काल से आत्मा में विद्यमान हैं और आत्मा को अनन्त ससार में परिभ्रमण करा रहे हैं। शुक्लध्यानी मुनि ने पाँचों आस्रवों का नाश कर दिया है अतएव वे (१) क्षायिक सम्यक्त्व (२) यथाख्यात चारित्र (३) अप्रमत्तदशा (४) वीतरागता और (५) स्थिरस्वभावता को प्राप्त करते हैं।

द्वितीय पत्र-अशुभानुप्रेक्षा

जीवों के शुभाशुभ होने के दो मार्ग हैं—(१) निश्चय और (२) व्यवहार। निज गुणों में प्रवृत्ति करना निश्चय है और वाह्य प्रवृत्ति को व्यवहार कहते है। छद्मस्थों के लिए व्यवहार पहला है अर्थात् वे व्यवहार शुद्ध कार्य करते हुए निश्चय की ओर दृष्टि रखते हैं और सर्वज्ञ निश्चय की प्रवृत्ति करते हुए व्यवहार को नहीं बिगाड़ते हैं।

कर्म संबध के विषय में भी दोनों दृष्टियों से अर्थात् निश्चय नय और व्यवहारनय से विचार किया जाता है। व्यवहार में कर्म के कर्त्ता पुद्गल हैं। त्रियोगरहित शुद्ध आत्मा की जो भावना है, उससे विमुख होकर, उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ज्ञानावरणीय आदि द्रव्य कर्मों का तथा औदारिक वैक्रिय आहारक-इन तीन कर्मों का एव शरीरपर्याप्ति, आहारपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, मनःपर्याप्ति और भाषा पर्याप्ति रूप नोकर्म का तथा उपचरित असद्भूत नय से वाह्य विषय-घट पट आदि का भी यही कर्त्ता है। यह व्यवहारनय की व्याख्या कही गई।

निश्चयनय की अपेक्षा से चेतन कर्म का कर्त्ता है। वह इस प्रकार स्वभाव से रागादि विकल्पों रहित और क्रिया से रहित जीव ने रागादि उत्पन्न करने वाले कर्मों का उपार्जन किया। उन कर्मों का उ होने पर आत्मा अपने स्वभाव से च्युत होकर भाव कर्मों का अर्थात् राग द्वेष आदि का कर्त्ता होता है और जब यह जीव तीनों योगों के व्यवहार से रहित, शुद्ध तत्त्वज्ञ एक स्वभाव में परिणत होता है, अनन्तज्ञान और अनन्त सुख आदि का तथा शुद्ध भावों का एकदेश शुद्धनिश्चय से कर्त्ता होता है। मु जीव निश्चय से अनन्त ज्ञान आदि शुद्ध भावों का ही कर्त्ता हैं।

इस प्रकार शुद्धाशुद्ध भावों की जो परिणति है, उसका कर्त्ता जीव को ही समझना चाहिए। क्यों नित्य, निराकार, निष्क्रिय ऐसे आत्मस्वरूप की भावना से रहित जीव ही कर्म का कर्त्ता कहा गया है। प परिणति ही शुभाशुभ वन्ध का मुख्य कारण है। अत उससे निवृत्त होकर अपनी आत्मा में ही भाव करनी चाहिए।

जीव व्यवहारनय से कर्मों के फल सुख-दु ख रूप फल का भोक्ता है। निश्चयनय से चैतन्य भ का ही भोक्ता है। वह चैतन्य भाव किसका है ? इस पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह आत्म का ही है।

शुद्ध निज आत्मा के ज्ञान से उत्पन्न हुए पारमार्थिक सुख रूपी अमृतरस का पान न करता हु आत्मा उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट तथा अनिष्ट पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुए सु तथा दुःख को भोगता है। इसी प्रकार अनुपचरित असद्भूत व्यवहार की दृष्टि से अन्तरंग में सुख तथ दु.ख को उत्पन्न करने वाले, द्रव्य कर्म साता-असाता रूप उदय को भोगता है और वही आत्मा हर्ष तथ शोक को प्राप्त होता है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा परमात्मस्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र उत्पन्न अविनाशी आनन्द रूप एक लक्षण का धारक है। और उसी आनन्दामृत का भोक्ता है।

साराश यह है कि स्वभाव से उत्पन्न हुए सुखामृत के भोजन की प्राप्ति न होने से आत्मा इन्द्रिय-जनित सुख को भोगता हुआ ससार में परिभ्रमण करता है, और स्व-स्वभाव से उत्पन्न होने वाला इन्द्रिय का अगोचर जो सुख है,वही वास्तव में ग्रहण करने योग्य है। शुक्लध्यान के ध्याता उसी सुख को ग्रहण करते हैं, जिससे संसार रूप वृक्ष के शुभ-अशुभ, मधुर-कटुक, उच्चता-नीचता आदि फलों का दाता एव पुद्गल-मय परिणति में परिणत विभाव का सहज ही त्याग हो जाता है। अतएव वे शुद्ध आत्मानन्द चैतन्यमय स्वभाव में सदा रमण करते हैं।

तृतीय पत्र-अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा

अनन्त ससार में परिभ्रमण करने की जो प्रवृत्ति है, उससे निवृत्त होने का स्वाभाविक ही विचार होना अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा है। यथा इस आत्मा ने ससार में अनन्त पुद्गलपरावर्त्तन किये हैं। वे पुद्गल-परावर्त्तन आठ प्रकार के हैं:—

(१) द्रव्य से वादर पुद्गलपरावर्त्तन—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर तथा मन, वचन और श्वासोच्छ्वास के भेद से सात प्रकार का है। अर्थात् औदारिक आदि उक्त सातों के जितने पुद्गल जगत् में हैं, उन सब का स्पर्श करना।

(२) द्रव्य से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त्तन-पूर्वोक्त सातों प्रकार के पुद्गलों में से पहले सम्पूर्ण लोक के सब औदारिक पुद्गलों का अनुक्रम से स्पर्श करे, किंचित् मा छोडे नहीं तत्पश्चात् इसी प्रकार वैक्रियपुद्गलो का, फिर तैजसपुद्गलों का और इसी क्रम से सातों का स्पर्श करे।

(३) क्षेत्र से बादरपुद्गलपरावर्त्तन-सुमेरु पर्वत से दशों दिशाओं में आकाश की असख्यात श्रेणियाँ मकड़ी के जाले की तरह फैली हैं। उन सब को जन्म-मरण करके स्पर्श करे।

(४) क्षेत्र से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त्तन—पूर्वोक्त आकाश श्रेणियों में से पहले एक श्रेणी ग्रहण करके उसमें जन्म मरण करे और अनुक्रम से, मेरु से लगाकर लोकपर्यंत जन्म मरण करता जाय-जरा भी छोड़े नहीं। फिर दूसरी श्रेणी में, फिर तीसरी श्रेणी में, इस प्रकार समस्त असख्यात श्रेणियों में जन्म-मरण करके उनका स्पर्श करे।

(५) काल से बादरपुद्गलपरावर्त्तन—समय, आवलिका, स्तोक, लव, मुहूर्त्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्व, पल्य, सागर, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी और कालचक्र, इन सब कालों में जन्म मरण करके इन्हें स्पर्श करे।

(६) काल से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त्तन—अवसर्पिणी काल के प्रथम समय में जन्म लेकर मरे, फिर दूसरी वार अवसर्पिणी काल लगे तो उसके दूसरे समय में जन्म लेकर मरे, इस प्रकार आवलिका का समय पूर्ण होने तक जन्म मरण करे। फिर जब अवसर्पिणी काल लगे तो उसकी पहली आवलिका में जन्म लेकर मरे, दूसरी वार की अवसर्पिणी की दूसरी आवलिका में जन्म मरण करे। इस प्रकार स्तोक का काल पूरा करे। इसी प्रकार अनुक्रम से पूर्वोक्त सभी कालों को जन्म मरण करके स्पर्श करे।

(७) भाव से बादर पुद्गलपरावर्त्तन—पाँच वर्ण, दो गध, पाँच रस और आठ स्पर्श के पुद्गलों का स्पर्श करना।

(८) भाव से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त्तन-पहले एक गुण काले वर्ण के जगत् में जितने पुद्गल हैं, उन सब का स्पर्श करे फिर दो गुण काले वर्ण वाले पुद्गलों का स्पर्श करे, इसी प्रकार तीन गुण काले यावत् असख्यात गुण काले वर्ण के पुद्गलों का स्पर्श करे। इस तरह काले वर्ण के समस्त पुद्गलों का स्पर्श करने के पश्चात् हरे वर्ण के पुद्गलों को काले पुद्गलों की तरह अनुक्रम से स्पर्श करे। यही क्रम बीसों तरह के पुद्गलों का स्पर्श करने में समझना चाहिए। सब पुद्गलों का स्पर्श करने पर परावर्त्तन पूरा होता है।

इस प्रकार आठ पुद्गलपरावर्त्तन करने पर एक पुद्गलपरावर्त्तन कहलाता है। प्रत्येक जीव ने ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्त्तन पूर्ण किये हैं। अपना जीव भी इन्हें कर चुका है।

इस भवपरम्परा में भ्रमण करते-करते अनन्तानन्त पुण्योदय होने पर मनुष्य जन्म की प्राप्ति हुई। तब शुक्लध्यान पर आरूढ होने योग्य अत्युत्तम सामग्री की प्राप्ति हुई है। यह सामग्री उन पुद्गलपरावर्तनों से मुक्त करके अखण्डित, अचल, निरामय मोक्ष का सुख देने वाली है। ऐसा निश्चय शुक्लध्यानियों को स्वभाव से ही होता है। तथा अनन्त जीव अनन्त पुद्गलों का परावर्तन करते हुए विभाव रूप विचित्रता को प्राप्त होते हैं, उनकी प्रतिच्छाया उनको शुद्ध आत्मा में पडती है। अतएव वे अप्रतिपाती शुक्लध्यान में सदा मग्न रहते हैं।

चतुर्थ पत्र-विपरिणामानुप्रेक्षा

३४३ रज्जूपरिमित यह सम्पूर्ण लोक सचेतन-अचेतन पदार्थों से परिपूर्ण है। लोक के समस्त पुद्गल क्षण-क्षण में विपर्यास पा रहे हैं। मिट्टी के पिण्ड में से कुम्भार अच्छे-बुरे और छोटे बड़े अनेक प्रकार के भाजन बनाता है। मनुष्याकार, पशु के आकार के तथा नाना आकारों के चित्र-खिलौना—बनाता है। उन्हें देखकर बहुत से लोग किसी को अच्छा और किसी को बुरा कहते हैं। यद्यपि वह सब भाजन और खिलौने एक ही मिट्टी से बने हैं उनके उपादान में कोई अन्तर नहीं है, सिर्फ दृष्टि का फेर है। इसी प्रकार सम्पूर्ण लोक जीवों और पुद्गलों से भरा है। अनन्त परमाणुओं के समूह से और पच कारणसमवाय की प्रेरणा से पूरण गलन (मिलन-विछुड़न) होने पर अनेक आकारों का निर्माण होता है। इस प्रकार अनादि काल से पुद्गलों का परिणमन हो रहा है और अनन्त काल तक होता रहेगा। एक रूप मिटता है और दूसरा रूप उत्पन्न होता है। यह क्रम कभी बन्द होने वाला नहीं है।

इसी लोक में राग-द्वेष के पुद्गल भी सर्वत्र भरे हुए हैं। जैसे लोहा चुम्बक को अपनी ओर खींचता है, उसी तरह जीव उन पुद्गलों को ग्रहण करता है और मिथ्यात्व एव मोह की शक्ति से वे आत्मा के साथ एकमेक होकर चिपट जाते हैं। इन पुद्गलों के निमित्त से जीव के परिणामों में सकल्प-विकल्प होता है और वह विभिन्न वस्तुओं पर राग-द्वेष धारण करता है। जिन पर राग उत्पन्न होता है वे और जिन पर द्वेष उत्पन्न होता है वे वस्तुएँ उन्हीं पुद्गलों के परमाणुओं से बनी हैं। घर, धन स्त्री, स्वजन, वस्त्र, भूषण, मिष्टान्न, विष आदि-आदि सब वस्तुएँ इन्हीं पुद्गलों से बनी हैं। क्षण-क्षण में इनका रूपान्तर हुआ ही करता है और उसी के अनुसार जीवों की परिणति में फेर होता है। जीवों की परिणति में राग द्वेष के भाव उत्पन्न होने से वे उन पुद्गलों का आकर्षण करके गुरु (भारी) बनते हैं और गुरुता के कारण ऊर्ध्वगति अर्थात् मोक्षगति प्राप्त नहीं होती है। भवभ्रमण का यह मुख्य कारण अनादि अनन्त है।

पुद्गलों की यह परिणति उनका स्वाभाविक गुण है। चेतन उसमें लीनता (लुब्धता) धारण करके दुखी हुआ, विपर्यास को प्राप्त हुआ। शुक्लध्यानी को ऐसा निश्चय-ज्ञान होता है। अतएव वे सब पुद्गलों से राग-द्वेष की वृत्ति को हटा देते हैं और उनके ज्ञानादि गुण प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानादि गुण प्रकट होने से उन्हें स्व-पर विवेक हो जाता है। वे समझ जाते हैं कि मेरे आत्मगुण अखण्ड हैं, अविनाशी हैं, सदा एक ही रूप में रहने वाले हैं, अगुरुलघु हैं। न तो कभी उनका सयोग हुआ है, न कभी उनका वियोग होता है। अनादि काल से वे निज में ही हैं। परन्तु परगुणों से ढँके हुए थे, जिससे इतने दिनों तक पहचान में नहीं आए। अब उन पुद्गलों से विपरीत शक्ति धारण करने वाले गुणों का सयोग होने से निज गुण प्रकट हुए हैं। जैसे वायु के योग से बादल बिखर जाते हैं और सूर्य अपने स्वाभाविक रूप में चमकने लगता है, उसी प्रकार पुद्गलपर्याय रूप बादल वैराग्य की वायु से दूर हो गए हैं और अनन्त ज्ञानज्योति का अरुणोदय हुआ है, जिससे पूर्ण प्रकाश हो गया है। अब मैं कालान्तर में समस्त पुद्गलों के सयोग से तथा पुद्-

गलजनित वैभाविक परिणति से पृथक् होऊँगा। मेरा सत्-चित्-आनन्द रूप प्रकट होगा। मैं निरामय, नित्य, अटल सुख का भोक्ता बनूँगा।

शुक्लध्यान का फल

यह चार प्रकार का विचार शुक्लध्यानी महामुनि के निर्मल अन्तःकरण में स्वभाव से ही परिणत होता रहता है। इस विचार के प्रबल प्रभाव से उनकी आत्मा समस्त विभावों से और पुद्गलजनित परिणति से निवृत्त और सब कर्मों से विमुक्त हो जाती है। वे पूर्ण विशुद्ध और परमपवित्र स्थिति को प्राप्त होते हैं तथा अनन्त, अक्षय अव्याबाध मोक्ष के सुख में तल्लीन रहते हैं।

यह शुक्लध्यान के ४ पायों, ४ लक्षणों, ४ आलम्बनों और ४ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

ग्रन्थकार का अन्तिम निवेदन

मैं एक अल्पज्ञ, विषय-कषाय का सदन और अनेक दुर्गुणों से परिपूर्ण हूँ। ध्यान जैसे गहन विषय का यथार्थ वर्णन करने में असमर्थ हूँ। शुक्लध्यान मेरे अनुभव से बाहर है। मैं ने जो कुछ लिखा है, जिनोक्त सूत्रों और कतिपय ग्रन्थों के अनुसार लिखा है। कितनेक स्थलों पर सहज बोध के आधार पर भी लिखा गया है। अत पाठकगण से मैं नम्रतापूर्वक क्षमायाचना करता हूँ। इस ग्रंथ में जो भी अशुद्धियाँ रह गई हों, उनके लिए भी मैं क्षमा चाहता हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



परिशिष्ट

श्रद्धालु पाठको !

इस ग्रन्थ के तीसरे संस्करण की प्रेस कॉपी अनेक व्यक्तियों द्वारा कराई गई थी। हमें अत्यन्त खेद है कि उनकी लापर्वाही के कारण इसमें मूल ग्रन्थ की अनेक टिप्पणियाँ और कहीं कहीं तो पन्ने के पन्ने छूट गये हैं। किन्तु यह सब ग्रंथ छप चुकने के बाद हमें मालूम हुआ, इसलिए परिशिष्ट रूप में उन छूटे हुए अंशों को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं कि जिससे ग्रंथ का आशय ठीक तरह से समझ में आ जाय। हम विश्वास दिलाते हैं कि इसके चौथे संस्करण में ऐसी कोई गड़बड़ नहीं रह पायगी। और प० मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महाराज के निरीक्षण में किसी एक ही विद्वान् के द्वारा इसके अगले संस्करण की प्रेस कॉपी तैयार कराई जायगी। इस बार प्रेस कॉपी करने वालों की लापर्वाही को हम अपने प्रमाद के कारण या उन पर पूर्ण विश्वास होने के कारण पहचान नहीं पाये। इसके लिए प० मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म० सा० से तथा पाठकों से क्षमा की आशा करते हैं।

—प्रकाशक

टिप्पणियाँ:—

१—पृष्ठ १२ पर बारहवीं पंक्ति के लिए पृष्ठ के नीचे –"प्लेग रोग के फैलते ही चूहे स्वयं मर कर मानो घर के मालिक को सावधान करते हैं। उनके इस उपकार को न समझ कर अज्ञानी उन्हें मारने लग जाते हैं।"

२—पृष्ठ १६ की चौदहवीं पंक्ति में 'शतरंज' शब्द के लिए पृष्ठ के नीचे –" शत + रंज अर्थात् जिससे सौ प्रकार के रंज (दुःख) पैदा हों।"

३—पृष्ठ १६ की सत्रहवीं पंक्ति में 'स्वार्थ' शब्द के पहले -"अपने मर्म की बात-जिससे पोल खुलती हो—छिपाना।"

४—पृष्ठ २६ की चौदहवीं पंक्ति के 'प्रयोगलब्धि' शब्द के लिए पृष्ठ के नीचे —"यह लब्धि भव्य और अभव्य को सामान्यरूप से होती है।"

५—पृष्ठ २७ की इक्कीसवीं पंक्ति के लिए पृष्ठ के नीचे —"उत्तराध्ययन सूत्र अट्ठारहवें अध्ययन में वर्णन आता है कि गर्दभालि मुनि नागरवेल लता से आच्छादित मण्डप में ध्यान कर रहे थे–"अप्फोव-मण्डवम्मि झायति खवियामवे॥"

६—पृष्ठ ६६ की चौवीसवीं पंक्ति के लिए पृष्ठ के नीचे —"उववाई सूत्र के अनुसार मालूम होता है कि माँ-बाप की भक्ति करने से ६४ हजार वर्ष की आयुष्य वाले देवत्व की प्राप्ति होती है।"

७—पृष्ठ ७३ पर एक प्रश्न और उत्तर —"(५४) प्रश्न—भाइयों में किन कारणों से लड़ाई होती है? उत्तर-हाथी मुर्गे, घोड़े,भैंसे, मेंढे, कुत्ते आदि जानवरों का आपस में लड़ाने से तथा इनकी लड़ाई देख कर प्रसन्न होने से।"

८—पृष्ठ ८४ पर पच्चीसवीं पंक्ति के लिए पृष्ठ के नीचे—"६७ नम्बर से ऊपर के प्रश्नोत्तर गौतमपृच्छा और धर्मज्ञान प्रकाश के अनुसार तथा कुछ बढा कर लिखे गये हैं।'

मूलग्रन्थ के बड़े-बड़े अंश:—

१—पृष्ठ १०२ पर 'अतएव पर्यायें अनित्य हैं।' इस वाक्य के आगे—"इन छहों द्रव्यों में गुण-पर्याय का साधर्म्य बताते है। अगुरु लघु पर्याय छहों द्रव्यों में एक-सा है। पुद्गल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँचों द्रव्यों में अरूपी गुण भी एक-सा है। अचैतन्य गुण जीव-द्रव्य में नहीं है, शेष पाँचों में हैं। सक्रिय गुण निश्चय से तो पुद्गल में है, किन्तु व्यवहार से जीव मे भी गिना जाता है, शेष चार अक्रिय हैं।

यदि भिन्नता बताने वाले गुणों का कथन किया जाय, तो कहना होगा कि चलन गुण धर्मास्तिकाय में है, शेष पाँच में नहीं। स्थिति गुण अधर्मास्तिकाय में है, शेष पाँच में नहीं। अवकाश गुण आकाशास्तिकाय में है, शेष पाँच में नहीं। वर्त्तमान गुण काल में है, शेष पाँच में नहीं। चैतन्य गुण जीव में है, शेष पाँच में नहीं। मिलन-विछुड़न गुण पुद्गल में है, बाकी के पाँच द्रव्यों में नहीं। इस प्रकार छह द्रव्यों के जो मूलगुण हैं, वे अपने-अपने स्वामी में ही रहते हैं, अन्य में नहीं। धर्म, अधर्म आकाश इन तीन द्रव्यों में तीन गुण और चार चार पर्याय एक-से हैं। तीन गुणों से काल द्रव्य का भी साधर्म्य है। धर्म और अधर्म असंख्यात प्रदेशी और लोकव्यापी हैं। आकाश अनन्तप्रदेशी लोकालोक व्यापी है। काल द्रव्य उपचार से अढाई द्वीप तक व्यापक माना जाता है, क्यों कि बाह्य काल का आधार चन्द्र-सूर्य की गति पर ही रहा है। जीव द्रव्य अनन्त है। एक-एक जीव के प्रदेश असंख्यात- असंख्यात हैं। एक जीव शरीर भर में व्याप्त है और सब जीव लोक-भर में। पुद्गल द्रव्य के परमाणु अनन्त हैं। प्रत्येक परमाणु वर्ण-गन्ध रस और स्पर्श से युक्त है।

निश्चय नय से छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूप में परिणत होते रहते हैं। हर एक द्रव्य का परिणमन गुण अलग-अलग है, इसीलिए वे अलग-अलग हैं।

व्यवहार से जीव और पुद्गल दोनों परिणामी हैं। राग-द्वेष युक्त जो जीव है, उसका पुद्गल के साथ परिणमन करने का स्वभाव है, सो अशुद्ध परिणमन से उत्पन्न होता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चारों का परिणमन निज गुण में होने से शुद्ध-परिणमन कहलता है, किन्तु जीव का परिणमन पुद्गल के संयोग से होता है, इस लिए अशुद्ध-परिणमन कहलाता है। अशुद्ध-परिणति के फल-स्वरूप अनादिकाल से संसारी जीव समय समय पर सात या आठ कर्मों की वर्गणाएँ ग्रहण करके अशुद्ध बनते रहते हैं। पुद्गल द्रव्य के दो परमाणु एकत्रित होने पर द्व्यणुक बनता है, तीन परमाणु एकत्रित होने पर त्र्यणुक। इसी प्रकार संख्यात परमाणुओं के मिलने पर संख्याणुक और असंख्य परमाणुओं के मिलने पर असंख्याणुक बनता है। यदि अनन्त परमाणु एकत्रित हो जायँ तो अनन्ताणुक कहलाता है।

इतने परमाणुओं के स्कन्ध को भी जीव ग्रहण नहीं कर सकता। जब अभव्य जीवों से अनन्त गुणे अधिक परमाणु इकट्ठे होते हैं, तब औदारिक शरीर के ग्रहण करने लायक स्कन्ध होता है। इससे अनन्त गुणा अधिक पुद्गलों का स्कन्ध बने तब वैक्रेय शरीर को ग्रहण करने योग्य होता है। इससे अनन्तगुणा अधिक होने पर आहारक शरीर के ग्रहण करने योग्य होता है। इससे तैजस के, तैजस से भाषावर्गणा के, भाषावर्गणा से श्वासोच्छ्वास के, श्वासोच्छ्वास से मनोवर्गणा के और मनोवर्गणा से कर्मवर्गणा के पुद्गल अनन्त गुणे अधिक होते हैं।

उपर्युक्त आठ वर्गणाओं में से औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस—इन चारों को बादर वर्गणा कहते हैं। इनमें ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श—ये २० बोल पाये जाते हैं भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कर्म ये चार वर्गणाएँ सूक्ष्म कहलाती हैं । इनमें ५ वर्ण, २ गन्ध ५ रस और ४ स्पर्श—ये १६ बोल पाये जाते हैं। एक परमाणु में १ वर्ण १ गन्ध, १ रस और दो स्पर्श-ये पाँच बोल पाये जाते हैं।

इस प्रकार आठ वर्गणाओं के दलिक आकाश में ✽ मेहताव (रंगदार दीये) के प्रकाश के समान आत्मा के असंख्यात प्रदेशों के साथ मिल कर रहते हैं।"



२—पृष्ठ २६ पर "प्रथम उपशम सम्यक्त्व भी नहीं होता है" इस वाक्य के आगे —"साथ ही विशुद्ध क्षपक श्रेणी में संभावित जघन्य स्थितिबन्ध और जघन्य स्थिति के अनुभाग प्रदेश का सत्त्व होते हुए भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। प्रथम उपशम सम्यक्त्व के सन्मुख होकर मिथ्यादृष्टि विशुद्धता की वृद्धि करता हुआ प्रयोग लब्धि के प्रथम समय से लगा कर पूर्वस्थिति के संख्यातवें भाग मात्र एक अन्त कोडाकोडी सागर परिमाण आयुष्य बिना सात कर्मों का स्थिति बन्ध करता है। उस अन्त कोडाकोडी सागर स्थितिबन्ध में से पल्य के संख्यातवें भाग के कम होने पर सामान्यत अन्तमुहूर्त पर्यन्त स्थितिबन्ध करता है। इस क्रम से संख्यात स्थितिबन्ध श्रेणी कर पृथक् (७०० तथा ८००) सागर कम होने पर दूसरा प्रकृतिबन्ध श्रेणी स्थान होता है। आगे इसी प्रकार इतने-इतने स्थितिबन्ध के कम होने पर एक-एक स्थान होता है। यों बन्ध के कुल ३४ *श्रेणी स्थान होते हैं। इससे लगाकर प्रथम उपशम सम्यक्त्व तक बन्ध नहीं होता। यह चौथी लब्धि का वर्णन हुआ।

पाँचवीं है, करणलब्धि। यह भव्य जीवों को ही होती है। इसके तीन भेद हैं—अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण†। इन में से अनिवृत्तिकरण का काल अन्तमुहूर्त है। इससे संख्यात गुणा काल अपूर्वकरण का है। इससे संख्यात गुणा काल अध करण का है किन्तु यह भी अन्तमुहूर्त परिमाण ही है×, और भी कहा है कि अतीतादि त्रिकालवर्ती अनेक जीवों से सम्बन्धित इस अध प्रवृत्ति करण की विशुद्धता रूप परिणाम असंख्यात लोक परिमाण है। वह परिमाण अध प्रवृत्ति करण के जितने समय हैं, उतने में सामान्य रूप से समय-समय पर बढ़ते रहते हैं-इससे इस करण के नीचे के समय के परिणाम की संख्या और विशुद्धता ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम से मिलती है, इसी से इसका नाम अधःप्रवृत्तिक है। इस अध प्रवृत्तिकरण के चार आवश्यक हैं —

(१)—प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धता की वृद्धि।

(२)—स्थितिबन्ध श्रेणी अर्थात् पहले जितने परिणामों से कर्म का स्थितिबन्ध होता था, उन्हें घटा घटा कर स्थितिबन्ध करे।

✽लाल रंग के मेहताब नामक बारूद के रूमाल (?) का अग्नि के संयोग से होने वाला प्रकाश अरूपी आकाश को लाल रंग का बना देता है, उसी प्रकार पुद्गल का सम्बन्ध अरूपी आत्मा के साथ होने से वह तद्रूपमय होता है।

*इसका अधिक खुलासा लब्धिसार ग्रन्थ में है।

†करण शब्द का यहाँ आशय है-कषाय की मन्दता।

×अन्तर्मुहूर्त के भेद असंख्य हैं।

(३)—सातावेदनीय आदि की प्रशस्त कर्म-प्रकृति समय-समय पर अनन्त गुणी बढती हुई गुड़, शक्कर, मिश्री और अमृत के समान अधिक से अधिक सुखद होती जाती है-यह अनुभाग बन्ध।

(४)—असातावेतनीय आदि की अप्रशस्त कर्म प्रकृति नीम, काँजी आदि के समान समय-समय पर अनन्त गुणी कम होती है-यह अनुभाग बन्ध है किन्तु हलाहल जैसा नहीं है।

२—अधः प्रवत्ति करण का काल अन्तमुहूर्त्त बीत जाने पर दूसरा अपूर्वकरण होता है इसके परिणाम प्रथमसे असख्यात लोक गुने हैं। यह बात बहुत जीवों की अपेक्षा से कहीं जा रही है,अन्यथा एक जीव की अपेक्षासे तो एक समय मे एक ही परिणाम होता है। साथ ही एक जीव की अपेक्षासे जितने अन्तमुहूर्त्त के समय हैं, उतने ही होते हैं। ऐसे ही अध करण का भी एक समय में एक परिणाम होता है। बहुत जीवों की अपेक्षा से असख्य परिणाम होते हैं। अपूर्वकरण के भी परिणाम सदेश-रूप से समय-समय पर बढ़ते रहते हैं। इस अपूर्वकरण के परिणाम में ऊपर के समय के परिणाम वैसे नहीं है, जैसे नीचे के। प्रथम समय की उत्कृष्ट शुद्धता से द्वितीय समय की जघन्य शुद्धता अनन्त गुणी है। इस प्रकार परिणामों में अपूर्वता होने के कारण ही इसका नाम अपूर्वकरण है।

अपूर्वकरण के पहले समय से लगाकर अतिम समय तक अपने जघन्य से अपना उत्कृष्ट और पूर्व समय के उत्कृष्ट से उत्तर समय का जघन्य-यों कर्म के परिणाम साँप की चाल के समान क्रमशः अनन्त गुने विशुद्ध होते हैं। अपूर्व करण के पहले समय से लगाकर यावत् सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय के का पूर्ण काल, जो जिस काल में गुण-सक्रमण करके मिथ्यात्व को सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय के रूप में परिणत करे, उस काल के अन्तिम समय तक —१ गुण श्रेणी, २ गुण सक्रमण, ३ स्थितिखण्ड और ४ अनुभाग खण्ड—ये चार आवश्यक होते हैं। और भी कहते हैं कि अध करण के प्रथम समय से लगा कर गुणसंक्रमण पूर्ण होने के काल तक स्थितिबन्ध श्रेणी होती है।

यद्यपि प्रयोगलब्धिसे ही स्थितिबघश्रेणी होती है,फिर भी प्रयोगलब्धिसे सम्यक्त्व होने का अनवस्थितपन है-ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए यहाँ ग्रहण नहीं किया। स्थितिबन्ध श्रेणी का काल और स्थितिकांड काडोत्करण का काल-ये दोनों समान रूप से अन्तमुहूर्त्त मात्र हैं। वहाँ पहले बँधा था-ऐसा कर्मपरमाणु रूप द्रव्य उसकी सत्ता में से निकाले जो द्रव्य गुण श्रेणी में दिये, उस गुण श्रेणी के काल में अनुक्रम से प्रति समय असख्यात गुणी जो पक्तिबद्ध निर्जरा होती है, उसे गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं। गुणाकार के अनुक्रम से प्रति समय व्यवस्थित प्रकृति के परमाणु पलट कर अन्य प्रकृति रूप में परिणत होते हैं, सो गुणसक्रमण कहलाता है। पहले बँधी थी, उस सत्ता में रही कर्म-प्रकृति की स्थिति का घटना, सो स्थिति-खण्ड है। पहले बँधी थी-ऐसी सत्ता में रही हुई अशुभ प्रकृति के अनुभाग का घटना, सो अनुभागखन्ड। ये चारों कार्य अपूर्वकरण में अवश्य होते हैं।

अपूर्व करण में प्रथम समय सम्बन्धी प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृति का जो अनुभाग सत्व है, उससे उसके अतिम समय में प्रशस्त प्रकृति का अनन्त गुना बढ़ता हुआ तथा अप्रशस्त प्रकृति का अनन्त गुना घटता हुआ जो अनुभाग सत्व होता है, सो उसमें प्रतिसमय अनन्त गुणी विशुद्धता होने से, प्रशस्त प्रकृति के अनन्तगुणे अनुभाग काड का माहात्म्य करके अप्रशस्त प्रकृति के अनन्तवें भाग के बराबर अन्त समय में संभवता है।*

*इन स्थितिखण्डादि का विशेष अधिकार भी है, किन्तु ग्रन्थगौरव के भय से यहाँ नहीं लिखा जा रहा है।

इस प्रकार अपूर्वकरण के सम्बन्ध में कहे हुए स्थितिकाण्डादि कार्यों की विशेषता तीसरे अनिवृत्ति-करण से समझना। विशेष यही है कि यहाँ समान समयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम सरीखे हैं, इसलिए अनिवृत्ति करण के अन्तमुहूर्त्त के जितने समय हैं, उतने ही अनिवृत्ति करण के परिणाम हैं, इससे सिद्ध होता है कि प्रति समय एक-एक ही परिणाम होता है। यहाँ जो स्थितिखंड, अनुभाग खण्डादिक का प्रारम्भ और ही परिमाण लिया होता है, सो अपूर्वकरण सम्बन्धी स्थितिखंडादिकों की अन्तिम समय में ही समाप्ति हुई।

यहाँ यह प्रयोजन है कि अनिवृत्ति करण के अन्त समय में दर्शन मोहनीय की और अनन्तानुबन्धी चतुष्क की प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग की समस्तरूप से उदय होने की अयोग्यता-रूप उपशम होने से तत्त्वार्थ की श्रद्धा रूप जो सम्यक्त्व होता है वह उपशमिक सम्यक्त्व है।

"सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीण मोहजिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥" —तत्वार्थ सूत्र अ० ६

अर्थात् १—प्रथम उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में रहने वाला जो विशुद्ध सातिशय मिथ्या-दृष्टि है, उसके आयुष्य कर्म को छोड़ शेष सात कर्मों की निर्जरा का जो गुण श्रेणी निर्जरा द्रव्य है, सो असख्यातगुणा है।

२—उससे असयति सम्यग्दृष्टि गुण-स्थान को प्राप्त होते ही अन्तमुहूर्त्त पर्यन्त प्रतिसमय असख्यात गुणा है।

३—उससे देशविरति गुणस्थानी के अन्तमुहूर्त्त पर्यन्त निर्जरा होने योग्य कर्म पुद्गल रूप गुण श्रेणी द्रव्य असख्यात गुणा है।

४—उससे सकल सयम (सर्वविरति) ग्रहण करने के आदि का अन्तमुहूर्त्त पर्यन्त प्रति समय असख्यात गुणाकार रूप कर्म की निर्जरा होने योग्य द्रव्य असख्यात गुणा है †।

५—उससे ✽ अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषाय और नौ नोकषाय का परिणमन कराता है। तीन करण के प्रभाव से उन्हीं का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असख्यात गुणा है।

६—उससे × दर्शन मोहनीय को क्षय करने वाले का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यात गुणा है।

७—उससे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानी कषाय के उपशम करने वाले को गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असख्यात गुणा है।

८—उससे उपशान्त-कषाय-गुणस्थानी का, जिसने सकल मोहनीय को उपशान्त किया है, गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असख्यात गुणा है।

---

† यह सातवें अप्रमत्तसयत गुणस्थानी को होता है, क्योंकि छट्ठा प्रमत्तसयत गुणस्थानी तो सातवें में से गिरने पर होता है।

✽ अनन्तानुबन्धी की विसयोजना, अविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयत-अप्रमत्तसयत—इन चार गुणस्थानों में होती है जिस गुणस्थान में विसयोजना होती है, वहीं अन्तमुहूर्त्त प्रति समय असख्यातगुणी निर्जरा होती है।

× दर्शनमोहनीय का क्षय, करणत्रय से समर्थ श्रुतकेवली मनुष्य को अविरतादि आदि-चार गुणस्थान में होता है।

९—उससे क्षपक श्रेणी वाले—अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थान वाले का गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यात गुणा है।

१०—उससे केवली जिनेश्वर को गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असंख्यात गुणा है।

जो उपर्युक्त दस स्थानों को प्राप्त होते हैं, उनके आदि के अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त परिणाम की विशुद्धता की अधिकता के कारण प्रति समय आयु को छोड शेष सात कर्मों के परमाणुओं की निर्जरा होती है। यहाँ निर्जरा तो स्थान-स्थान पर असंख्यात गुणी बढ़ती जाती है, किन्तु निर्जरा का काल असंख्यातवाँ भाग घटता जाता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों कषाय की मन्दतारूप परिणामों की विशुद्धि में जीव आगे बढते जाते हैं, त्यों-त्यों ज्ञानादिक आत्मगुणों का प्रकाश भी क्रमशः बढता जाता है। साथ ही आत्मा अधिक से अधिक ध्यान की योग्यता पाती जाती है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में ध्याता के लक्षण बताते हुए कहा है:-

> मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः, शान्तचित्तो वशी स्थिरः।
> जिताक्षः संवृतो धीरो, ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥

अर्थात् ध्याता के शास्त्र में आठ लक्षण बताये हैं। जिसमें निम्न-लिखित आठ लक्षण हों, उसी ध्याता की प्रशंसा की गई है —

१-मुमुक्षुः—जिसे मुक्ति पाने की इच्छा हो, वही ध्यान के कष्ट सहने को तैयार होगा। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा होनी चाहिये।

२-जन्मनिर्विण्ण —जो पौद्गलिक क्षणिक सुखों से विरक्त हो, जन्म से (संसार में बार-बार-जन्म लेने की परम्परा से) उदासीन हो, उसी के परिणाम ध्यान में स्थिर रह सकते हैं। इसलिए ध्याता को विरक्त होना जरूरी है।

३-शान्तचित्त —मन का शान्त रहना भी जरूरी है। जो परीषहों और उपसर्गों में शान्त नहीं रह सकता, वह ध्यान नहीं कर सकता!

४-वशीः—इन्द्रियों पर काबू होना भी ध्याता के लिए जरूरी है। जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में न हों, वह ध्यान नहीं कर सकता।

५-स्थिरः—आसन पर बैठने के बाद ध्याता को स्थिर रहना चाहिए।

६-जिताक्षः—जिसे सांसारिक विषय सुख की अभिलाषा न हो, वही ध्यान ठीक रूपसे कर सकता है।

७-संवृत —जिसने अपनी आत्मा को हिंसा आदि पाँच आश्रवों से दूर करके अहिंसादि पाँच महाव्रतों के पालन में लगा दी है तथा मनोवृत्तियों को विकार- मार्ग से हटाकर आत्म-ज्ञान की खोज में लगा दी है एव जिसने लोलुपता* का परित्याग कर दिया है, वही ध्यान करने योग्य बन सकता है।

---

* लोलुपता एकदम घटाना काफी कठिन है, इसलिए धीरे-धीरे इसका अभ्यास करना चाहिए। सोचना चाहिए कि अमुक वस्तु नहीं खाई तो क्या? अमुक वस्त्र नहीं पहना तो क्या? प्रारम्भ में यह भी मुश्किल मालूम होगा, किन्तु धीरे-धीरे अभ्यास से सरल सहज होने लगेगा। इसी रीति से प्रयत्न करते-रहने पर किसी वक्त निर्ममत्व भी प्राप्त किया जा सकेगा।

८-धीर —ध्यानस्थ होने पर उतना धैर्य होना जरूरी है कि कितने भी कठिन परीषह या उपसर्गों में भी मानसिक परिणामों में चचलता न आने पाये। ध्यानमें प्रवेश करते समय कहा जाता है—"अप्पाणं-वोसिरामि" अर्थात् मैं इस शरीर का ममत्व छोड़ता हू। यह शरीर मेरा नहीं है और न मैं इस शरीर का हूँ। इस प्रकार जब मान लिया कि शरीर अपना नहीं है, तब भले ही कोई शरीर को खा जाय, जला डाले, काटे या कुछ भी करे हमें चिन्ता क्यों होनी चाहिये ? ऐसा मन में निश्चय हो तभी ध्यान में सफलता प्राप्त हो सकती है। ध्यान इसी लिए किया जाता है कि कर्मों का क्षय हो और कर्मों का क्षय बिना उपसर्ग सहे, नहीं होता। जो परीषह उपसर्ग आदि के दु ख आते हैं, वे कर्मों के क्षय के लिए ही आते हैं। इस प्रकार दु'ख-सहन-रूप कर्जा चुकाने के समय पीछे नहीं हटना चाहिए। ऐसा दृढ निश्चय- पूर्वक धैर्य धारण करने से ही ध्यान सिद्ध होता है। इन आठ गुणों को धारण करने वालों को ही "ध्यानसिद्धि" प्राप्त होती है।

ऐसा जानकर शुभ ध्यान करने वाले मुमुक्षु जनों को पहले आठ गुण क्रमश अभ्यास द्वारा प्राप्त करने चाहिये।



३—पृष्ठ ६५ पर "ये मेरे बड़े प्रबल शत्रु हैं, इन्होंने अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा है" इस वाक्य के आगे —

मोह का परिचय

हे भव्य जीवो ! ध्यान पूर्वक देखो कि—इस विश्व में अविद्या नामक एक नगरी है, इसके अज्ञान रूप तीन कोट याने किले हैं, गढ़ हैं। जिसमें चारों गति रूप चार दरवाजे हैं। इस नगरी के मध्य में "अ-सयम" रूप एक महल है, जिसमें "अधर्म" नामक एक सभागृह है। इस सभा -गृह में "भ्रष्ट मति" रूप सिंहासन जमाया हुआ है। इसी सिंहासनपर अति प्रचड शरीर वाला और मद-अहकार रूप मदिरा में मस्त "मोह" नामक एक राजा बैठा हुआ है। इसके सिर पर 'अनाज्ञा' नामक एक छत्र लगा हुआ है। रति और अरति नामक दासियाँ "हर्ष, शोक" रूप चवर ढोल रही है। इस राजा ने चमकते हुए पाप रूप वस्त्रों को धारण कर रक्खा है। अव्रत रूप मुकुट आदि आभूषण पहने हुए हैं। आरभ सबधी क्रिया रूप तलवार मन रूप रेशमी म्यान में रखी हुई है। जड़ता रूप ढाल पाछे शोभायमान है। इस राजा की 'माया' नामक एक पटरानी है। जो कि "चार सज्ञा" नामक चार दासियों से शोभायमान है। इसके "कामदेव" नामक एक पुत्र है। इस प्रकार की समृद्धि के अतिरिक्त इस राजा की सेवा में "ज्ञानावरणीय" आदि सात मांड-लिक राजा हैं। मिथ्यात्व नामक प्रधान है। प्रमाद नाम वाला पुरुष पुरोहित हैं। राग द्वेष सेनापति है। क्रूर भाव कोटवाल है। व्याक्षेप (पागलपन) ही नगरसेठ है। कुव्यसन भंडारी है। कुसगति ही नाकेदार है। निंदक नामक पटेल है, कुकवि ही भाट है। प्रणाम (दूर से नमस्कार) ही दूत है। दंभ दुर्दान्त याने सुभट है। पाखड ही द्वारपाल है। इत्यादि व्यक्तियों द्वारा यह सभा महा भयकर रूप धारण किये हुए है।

इस नगर में चौरासी लाख रूप जीव-योनियाँ ही चौरासी लाख चौहट्टे हैं। प्राणियों के शरीर ही मकानात है, जिनमें विविध प्रकृतियों वाली प्रजाका निवास है। इन प्रजाजनों का स्वभाव भी बड़ा ही विचित्र है। सामान्य सत्कार मात्र से ही फूल जाते हैं और जरा से अपमान मात्र से ही रुष्ट हो जाते हैं। साधारण लाभ में प्रसन्न हो जाया करते हैं और अल्प हानि होते ही शोक ग्रसित हो जाया करते हैं। इस प्रकार विविध विचित्रताशील प्राणी यहाँ के निवासी है। इस राजा की चतुरगिनी सेना की स्थिति ऐसी है कि—मान गजाधीश है, क्रोध अश्वाधीश है, कपट रथाधीश है, और लोभ पैदल सेना का सेनापति है। इस प्रकार विकट और दुर्जेय सेना का स्वामी यह राजा है।

दुर्भाग्य से एक "चैतन्य" नाम वाला यात्री घूमते-घूमते इस अधम नगर में आ पहुँचा। यहाँ की ऐसी भयकर स्थिति देखकर यह यात्री अत्यन्त भयभीत हो उठा और अपने अन्त करण में सोचते लगा कि "हाय ! हाय !! 'यह तो प्रबलतम शत्रु सामने उपस्थित हो गया, अब मैं इससे किस प्रकार मुक्त होऊँ ! मैं अकेला इस पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकूंगा ? और अपनी मुक्ति रूप इष्ट सुख को कैसे प्राप्त कर सकूंगा ? यहाँ पर मेरा तो कोई भी सहायक नहीं दिखाई दे रहा है। हे भगवन् अब क्या करूँ ?

आतम-परिचय

पुण्योदय से उसी समय चिन्ता ग्रस्त यात्री चैतन्य को विवेक नामक एक सज्जन और सत्पुरुष दिखलाई पडा। उसने प्रेमपूर्वक चैतन्य को देखते ही निवेदन किया कि "अहो महानुभाव ! आप कोई सत्पुरुष विदित होते हैं, एव मुझे यह भी अनुभव हो रहा है कि आप किसी न किसी महती चिन्ता से ग्रस्त हैं। यदि आप को किसी महान् शत्रु की ओर से भय दिखलाई पड़ रहा हो, तो भी भयभीत नहीं होना चाहिये। ऐसी स्थिति में कायरता का परित्याग करके प्रबलतम शूरवीर बनना ही एक मात्र कर्त्तव्य होता है।"

विवेक पुरुष के ऐसे शान्त और सहायक वचनों को सुनकर चैतन्य को साहस हुआ और उस आगन्तुक पुरुष को अपना हितैषी जानकर उत्तर दिया कि—"हे भाई ! शक्ति के अभाव में शूर-वीरता का क्या अर्थ हो सकता है ?"

इस पर विवेक पुरुष ने उत्तर दिया कि "अहो महानुभाव ! यह आप क्या फरमा रहे हैं ? आपकी विभूतिमय ऋद्धि इस "मोह" राजा की ऋद्धिसे कई गुनी अधिक प्रबल और शक्ति-शालिनी है। आपकी शक्ति, आपका परिवार, और आपकी सेना प्रबल और अजेय है। हमतो आप जैसे व्यक्तियों का ही सरक्षण करते हैं। किन्तु आपने तो हमारी ओर कभी दृष्टिपात ही नहीं किया, और प्रतिपक्षी शत्रु को ही प्रबलतम समझ कर उसकी गुलामी में फसे रहे। यही कारण है कि हम आप जैसे स्वामी के आदर बिना कि कर्त्तव्य विमूढ होकर चुपचाप बैठे रहे। आज आपने सौभाग्य से इधर पदार्पण किया तो इस सेवक से शुभ समागम हो गया। अब निवेदन करता हूँ कि अपनी शक्ति, परिवार और सेना की स्थिति का अवलोकन कीजियेगा, और तत्पश्चात् आज्ञा दीजियेगा कि 'मोह जैसे शत्रु को हम जड़-मूल से नष्ट करदें और इष्ट फल की प्राप्ति करके महान् सुख का अनुभव करें।"

इतना सुनते ही चैतन्य को धैर्य बधा और कहने लगा कि "हे प्रिय मित्रवर ! मुझे मेरे परिवार का ज्ञान कराओ।"

विवेक बोला-"ध्यानपूर्वक स्मृति में लाइयेगा कि आपकी राजधानी रूप नगरी का नाम "श्रद्धा" है, जिसके चारों ओर एक के बाद एक ऐसे तीन गढ याने किले हैं, जिनके शुभनाम "तीन-गुप्ति" है। इस भव्य नगरी के दान, शील, तप और भावना रूप चार महान् द्वार है। इस नगरी के बीचों बीच में सयम नामक राज-प्रासाद हैं। जिसमें "समिति" नामक मनोहर सिंहासन है। इस सिंहासन के शोभावर्धक "जिनाज्ञा" रूप छत्र और 'शम सवेग" नामक रमणीय चंवर हैं।

इसमें नैतिकता प्रधान व्यौपार वाले "शुभ-भाव" नामक सेठ बसते हैं। जिनकी "पुण्य" नामक दुकानों पर 'शुभकर्म" नामक ऋद्धि सिद्धि सुशोभित है। "सात्विक क्रियाओं" का ही यहा पर क्रय विक्रय होता है इस प्रकार विविध रूप से आपका रम्य परिवार आपकी महती आकाक्षा के साथ उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा कर रहा है।

अतएव सावधानी के साथ आप अपनी स्वामित्वमय नगरी मे सादर प्रवेश करियेगा, किन्तु "सावधानी के साथ" कहने का तात्पर्य यह है कि मोह नृप ने प्रत्येक प्रवेश द्वार पर मजबूत रक्षा-चौकियाँ स्थापित कर रक्खी हैं। उनसे भयभीत मत होना। लीजिये, यह "ज्ञान" नामक तलवार ग्रहण कीजियेगा, इसके बल पर आप अवश्य विजयी हो जाँयगे। इतना सुनते ही "चैतन्य" यात्री को अपनी स्थिति का सम्यक् प्रकार से स्मरण हो आया, और दृढ आत्म बल के साथ नगरी मे प्रवेश करने के लिये तत्पर हो गया ।

प्राथमिक–युद्ध

ज्यो ही नगरी के प्रवेश द्वार की रक्षक-चौकी पर चैतन्य ने अपना प्रथम कदम रक्खा कि इतने मे ही मिथ्यात्व के मिथ्यामोह, मिश्रमोह, सम्यक्त्वमोह तथा अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, और लोभ नामक सात दुर्जेय योद्धा सामने आकर खड़े हो गये और ललकार के साथ बोले—"कौन है? आगे बढने से रुक जाओ! आगे बढ़ने का 'मोह' नामक बादशाह का हुक्म नही है।"

चैतन्य ने उनके इन शब्दो की बिना पर्वाह किये ही आगे बढना चालू रक्खा। परिणाम यह होता है कि "चैतन्य और उन सातों योद्धाओं" का परस्पर गंभीर सघर्षमय युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। किंचित समय में ही चैतन्य की महान् पराक्रमशील ज्ञान तलवार के द्वारा वे सातों युद्धवीर घायल होकर भाग गये। चैतन्य प्रसन्नता पूर्वक नगरी में प्रवेश करते हैं। नगरी का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाते हैं। इतने में दूसरी रक्षा चौकी सामने दिखलाई पड़ती है। जहाँ पर कि विविध शस्त्रों से सन्नद्ध "अव्रत" नामक बारह प्रबल योद्धा समुपस्थित थे। योद्धाओं की ज्योंही दृष्टि चैतन्य पर पड़ी कि गर्व पूर्ण भाषा में बोल उठे 'अहो! यात्री! अहो चैतन्य!! इस सयम नामक मनोरम राज प्रासाद में प्रवेश करने के लिये किससे आज्ञा प्राप्त की है? लौट जाओ यहाँ प्रवेश मत करो।"

इतना सुनते ही गभीरता के साथ चैतन्य ने अपने शस्त्रागार में से 'प्रत्याख्यान' नामक अचूक भाला निकाला। भाले के प्रथम प्रहार से ही वे नामधारी वीर धराशायी हो गये। फिर क्या था? चैतन्य महाराज ने निश्चिततापूर्वक 'सयम' नामक लावण्यता–मय राजप्रासाद में प्रवेश किया। सामने ही समुपस्थित 'सुमति' सिंहासन पर जाकर अपना अविचल आसन स्थापित कर दिया। 'जिनाज्ञा' नामक छत्र धारण कर लिया। छत्र के धारण करते ही 'धीरता और लज्जा नामक दासियाँ ने आकर 'शम और सवेग' चँवर हाथ में लेकर उन्हें "चैतन्य नामक महान और अद्वितीय सम्राट के ऊपर ढोरने लगी।

सम्राट् के आगमन की वार्ता सुनकर सारा ही परिवार सहर्ष और विनय के साथ सेवा में समुपस्थित हो गया। चैतन्य ने सभी का यथा योग्य सत्कार किया। 'तत्त्व रुचि और सुबुद्धि' नामक अपनी पटरानियाँ को इतने दिन तक के विरह दु:ख म दग्ध उनके चित्त को शान्त करन के लिय अपनी दाहिनी और बायीं भुजाओ की ओर समीप में आसन दिया।

'पच महाव्रत' नामक पाँचों सामन्त सरदारो को माडलिक राजा का पद प्रदान किया। तत्पश्चात् चैतन्य देव महाराजा ने अपना शासन व्यवस्था इस प्रकार निर्माण की —

"सम्यक्त्व" को प्रधान मत्री, "उद्यम" को पुरोहित, "उपशम" वीर को प्रधान सेनापति, "शात-भाव' को कोटपाल, "शुभ-भाव" को नगर-सेठ, परम आगम रूप द्रव्य से परिपूर्ण भडार के रक्षणार्थ विज्ञान को भडारी 'सन्मति' को नाकेदार, 'व्यवहार' को पटेल 'गुणीजन' को भाट, 'सत्य' को दूत 'न्याय'

को द्वारपाल 'मनो-निग्रह' को अश्वाधीश, 'मार्दव-विनय' को गजाधीश 'आर्जव' को रथाधीश, 'संतोष' को पदाति सेनाधीश इत्यादि रूप से राज्य पदों पर योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को नियुक्त किये। इस तरह से राज्य संचालन की व्यवस्था करके श्री चैतन्य देव राजाधिराज आनन्द पूर्वक श्रद्धा नगरी का राज्य करने लगे। परन्तु फिर भी अपने प्रबलतम शत्रु मोह राजा का भय हृदय में छिपा हुआ ही था।

महायुद्ध की तैयारी

एक दिन की बात है कि जब राज्य दरबार लगा हुआ था, सामन्तवर्ग और उच्चाधिकारी एवं भृत्य समुदाय अपने अपने आसन पर सुशोभित हो रहे थे। सभा की शोभा अद्वितीय प्रतीत हो रही थी, कि ऐसे ही मनोहर और महत्त्वपूर्ण प्रसंग पर चैतन्य महाराज बोले कि–'आदरणीय उपस्थित सज्जनो! मैं आपके संयोग और सहवास से अत्यन्त प्रसन्न हूँ, राज्य की आत्मोन्नति रूप व्यवस्था आदर्श ढंग से प्रगति कर रही है, परन्तु जब तक अपना प्रबल प्रतिपक्षी मोह नामक राजा पूरी तरह से पराजित नहीं हो जाय, तब तक अखंड और अचल सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसलिये 'मोह' राजा 'आत्यंतिक' रूप से नष्ट हो जाय, जड़ मूल से खत्म हो जाय, और सर्वांश रूप से निःशेष हो जाय, ऐसा ही ठोस प्रयत्न करने की हम सभी की कर्त्तव्य पूर्ण निष्ठा और योजना बद्ध प्रयत्न होना चाहिये।" इतना सुनतेही विवेक मित्र और सामन्त आदि वर्ग की ओर से नम्रतापूर्वक बोला—"हे नाथ हे स्वामिन्! युद्ध के लिये तैयार होने की आज्ञा सभी को दीजियेगा, और सात्विकता पूर्ण शस्त्रों से सन्नद्ध होकर इसी समय उस शत्रु पर धावा बोल दीजियेगा। हम सभी घनघोर आध्यात्मिक युद्ध से संलग्न होकर मोह-सेना को तितर बितर कर देंगे चकनाचूर कर देंगे। आप की महती आकांक्षा के अनुरूप ही मोह राजा को सर्वथा प्रकार से पराजित करके एवं उसे नाम शेष करके आपके साध्यरूप लक्ष्य को श्रीमान् के कर कमलों में समर्पित कर देंगे। और इस प्रकार से आप के इष्ट अर्थ की साधना पूर्ण रीति से सम्पन्न कर देंगे। एवं ऐसी स्थिति में ही सभी स्थायी सुख का रसास्वादन कर सकेंगे।"

उपरोक्त महा सभा में उल्लिखित प्रस्ताव को सर्वानुमति से अनुमोदना देकर सभी वीर और महा वीर तथा योद्धा और सुभट मोह को पराजित करने के लिये, युद्ध करने की तैयारी करने लगे। सैन्य सामग्री सजाने लगे।

मोह राजा को भी अपने गुप्तचर 'परिणाम उर्फ विचार' नामक व्यक्ति द्वारा यह समाचार प्राप्त हुए कि चैतन्य महाराजा ने श्रद्धा नगरी में प्रवेश कर 'संयम' नामक राज प्रासाद पर अधिकार कर लिया है और अपनी राज्य व्यवस्था को सुस्थापित करके हमारे ऊपर आक्रमण करने की निश्चित योजना तैयार कर ली है। इतना ज्ञात होते ही मोह राजा ने अपने वर्ग के व्यक्तियों को एकत्र किया, और क्रोध पूर्वक उन्हें संबोधित करते हुए कहा —

'आदरणीय मित्रगण और सामन्त वर्ग! चैतन्य देव को मैं अनन्त बार समझा चुका हूँ कि तुम मेरे विपरीत कोई कार्य मत किया करो, उसके प्रयत्न को हम कई बार निष्फल कर चुके हैं–अनेक बार हमने उसकी बेइज्जती की है, किन्तु फिर भी बार बार धक्के खाने पर भी उसे लज्जा नहीं आती है, मैंने सुना है कि अबकी बार उसने हमें पराजित करने के लिये प्रबलतम व्यवस्था की है। अतः आप सभी से निवेदन है कि हमें भी उससे लड़ने के लिये तैयार हो जाना चाहिये। अबकी बार हमारा ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि हम उसे पराजित करके कैद करलें और सदैव के लिये उसे अपने अधिकार में करलें यानी उसको पूरा पूरा गुलाम बनालें।'

मोह राजा का ऐसा प्रभावशाली व्याख्यान सुनते ही पाखंड नामक सेवक ने सभी को स्थिति ज्ञान कराने की दृष्टि से 'कुबोध' नामक भेरी बजाई और सूचना दी कि 'अहो ! मोह राजा के सामन्तवर्ग और योद्धागण ! चैतन्य देव की सेना के साथ युद्ध करने के लिये तैयार हो जाओ।'

सूचना सुनने मात्र की ही देरी थी कि सभी सेवक सावधान हो गये। सभी सेनापति अपनी अपनी सेना को तैयार करने में संलग्न हो गये।

मद रूप मदिरा से मदोन्मत्त अभिमान रूप हाथी सेना, चंचल और चपल मनरूप अश्व सेना विविध जालपाश रूप रंगों से शोभायमान एवं झन झन शब्द करती हुई कपट रूप रथ सेना, और अति बलिष्ठ लोभ रूप पैदल सेना, तत्क्षण युद्ध के लिये तैयार हो गई। मोह राजा भी तामस रूप कवच धारण करके कुक्रिया रूप शस्त्रों से सुशोभित होते हुए तीन कुलेश्या रूप काली, नीली, और हरि पताकाएँ फरकाते हुए, कुआलाप प्रलाप रूप वाद्य-यन्त्रों की झनकार से गगन मंडल को गर्जित करते हुए, 'कर्मोदय' नामक मुहूर्त में प्रस्थान करते हुए, 'कर्मारोहण' नामक युद्ध क्षेत्र में उपरोक्त चतुरंगिनी सेना के साथ चैतन्य देव के प्रति युद्ध करने के लिये (आकर) उपस्थित हुए।

संधिदूत

दोनों पक्षों की रण-सज्जा एवं युद्ध तत्परता देख करके 'अध्यवसाय' नामक संधिपाल चैतन्य देव के पास आकर नम्रतापूर्वक निवेदन करने लगा कि 'हे चैतन्य देव महाराज ! मैं दोनों पक्षों का हितैषी हूँ, अतएव हित भावना के साथ प्रार्थना है कि—मोह राजा बहुत प्राचीन कालीन सम्राट् है, आप जैसे तरुण नृपति के लिये उनका अपमान करना योग्य नहीं है। आप जानते ही हैं कि उनका सेना-बल प्रबल है, वे महान् प्रतापशाली हैं। उन्होंने तीनों लोक पर अपना अधिकार स्थापित कर रक्खा है। उन्हें पराजित करके आप विजयी होवें, यह अति कठिन वस्तु है। कहीं ऐसा प्रसंग उपस्थित नहीं हो जाय कि आपकी सेना भयभीत होकर मोह राजा से जा मिले और आपको अपमानित होना पड़े। राज्य भी हाथ से निकल जाय और दुःखों का समूह ही केवल शेष रह जाय। अतएव मेरी तो बोध पूर्ण सम्मति यही है कि आप मोह के सम्मुख जाकर संधि करलें।

नीति का वाक्य है कि-"वृद्धों की सेवा में जाने से अपमान नहीं हुआ करता है।"

यह सुनकर चैतन्यदेव हँसते हुए बोले कि "मैं सब समझता हूँ" जहाँ तक सिंह गुफा में निद्रा लेते हुए सोता रहता है, उतने समय तक ही वनचरों को उन्माद करने का अवकाश मिला करता है। चिरकाल से आकाश में हवा के बल पर उड़ती हुई और घूमती हुई धूल-राशिको रजकणों के समूह को मेघ क्षणभर में ही दबा देता है। मोह की आंतरिक जैसी स्थिति को मैं पहिचानता हूँ, वैसी पहिचानने वाला इस त्रिखंड में दूसरा और कोई नहीं है। इतने समय तक मैं अबोधसा रहा, यही मेरी भयंकर भूल थी, अन्यायी को दंड देना और उसका नाम शेष कर देना ही हमारा प्रधान और परम कर्त्तव्य है। क्या तुम्हें ज्ञान नहीं है कि मोह के अधिकार में रहने से ही मेरी आज दिन तक इतनी बेइज्जती हुई है। प्रत्येक क्षण उसकी स्मृति मात्र से ही मुझे दुःख उत्पन्न हुआ करता है। अब मुझे मूर्ख मत समझो, मूर्खता करके पुनः उसके अधिकार में जाना और अपना अनादर कराना मैं नहीं चाहता। आज दिन तक मुझे अपने परिवार का ज्ञान नहीं था, परन्तु विवेक मंत्रीश्वर का भला हो कि उन्होंने मुझे इस दुःख पूर्ण गुलामी से मुक्त होने का मार्ग बतलाया और तदनुकूल सामग्री बतलाई। मैं तो स्वयं ही मोह राजा के सम्मुख होकर उसको नष्ट करने के

लिये कटि बद्ध था कि-वह सामने ही आगया, यह अच्छा हो हुआ। तुम जरा थोड़ी देर तक खड़े रहो और मेरी सेना का प्रबल पराक्रम देखो, "त्रिलोक पूज्य के रूप में कहे जाने वाले मोह महाराजा की कैसी दुर्दशा होती है ?"

युद्ध का प्रारभ

इतना कहने के बाद चैतन्य देव ने अपने 'सद्गुरु' रूप अद्वितीय योद्धा द्वारा 'सद्बोध' नाम भेरी बजवाकर संपूर्ण सेना को तत्काल सुसज्जित होने की आज्ञा प्रदान की।

उसी समय शातरस से परिपूर्ण मनो निग्रह रूप अश्व सेना वैराग्यमद से मस्त मार्दव-नम्रता रूप गज-सेना, सरलता से सुशोभित आर्जव ऋजुता रूप रथ सेना और सदा तृप्ति शील सतोष रूप पैदल सेना यों चतुरंगिनी सेना क्षमा रूप बख्तर धारण करके, विविध तप रूप अनेक शस्त्रों से सुसज्जित होकर, स्वाध्याय रूप नगाड़े याने ढोल बजवाते हुए, भजन रूप शहनाइया की गर्जना कराते हुए, तीन शुभ लेश्या रूप, लाल, पीली और सफेद पताकाएँ फरकाते हुए और वैराग्य पथ मे वीरता पूर्वक आगे बढते हुए, गुण-स्थान-आरोहण रूप रणागण में युद्ध करने के लिये आ खडे हुए। इस प्रकार दोनो ओर से युद्ध सेनाओं के रणक्षेत्र में व्यवस्थित रूप से उपस्थित होते ही दोनों स्वामियों ने अपनी अपनी सेना को युद्ध करने की आज्ञा प्रदान करदी। सर्व प्रथम मोह नृपति की ओर से "मिथ्यात्व मत्रीश्वर" अपने अनन्तानुबधी आदि सोलह कषाय और नौ नो कषाय रूप पच्चीस सामन्तों और अनेक युद्ध वीरों के साथ चैतन्य देवकी सेना का सामना करते हुए चैतन्य देव को अभिमान पूर्वक कहने लगा कि 'हे चैतन्य ! मालूम होता है कि तुम मेरे त्रिलोक व्यापी पराक्रम को भूल गये हो। तुमको अनन्त बार विविध रीति से हानि पहुँचाते हुए बुरी तरह से पराजित किया है, फिर भी तुम्हें लज्जा का अनुभव नहीं होता और लड़ने के तैयार हुए हो। सावधान हो जाओ ! मैं अभी एक क्षण में ही तुम्हें एक तीक्ष्ण और अचूक बाण द्वारा पतित करके पाताल लोक में अधोगति में-पहुँचाता हू। अपने स्वामी भक्त सेवक कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और कुशास्त्र रूप नौकरों द्वारा तुम्हारी मान-हानि करवाता हूँ।' इस प्रकार बकवाद करता हुआ, अपलाप करता हुआ, 'कुश्रद्धा' रूप बाण खींच करके खड़ा हो गया।

उसी समय समीप में उपस्थित "विवेक" नामक प्रधान मित्र चैतन्य महाराज से बोला 'हे स्वामिन ! यह पाखण्डी और अभिमानी 'मिथ्यात्व' नामक प्रधान मत्री अपने 'सम्यक्त्व' नामक मत्री के दृष्टि क्षेप मात्र से ही देखने मात्र से ही पराजित होकर काल-धर्म को प्राप्त हो जायगा। इसके मरते ही मोह की सम्पूर्ण सेना शिथिल हो जायगी और इस प्रकार अपनी 'श्रद्धा" नगरी सभी प्रकार से निश्शंक और निर्विघ्न हो जायगी।' इतना सुनते ही चैतन्य देव ने अपने प्रधान मत्री 'सम्यक्त्व' को प्रति युद्ध करने के लिये आज्ञा प्रदान की। आज्ञा पाते ही 'सम्यक्त्व' मत्रीश्वर को 'पाँचों सम्यक्त्व' रूप सहायक प्रधान युद्ध वीरों के साथ और अन्य योद्धाओं के साथ 'मिथ्यात्व' के सम्मुख जा खडा हुआ।

'मिथ्यात्व' की सेना को ललकारते हुए 'तत्वातत्व विचार' रूप बाण को 'ध्यान' रूप धनुष पर चढ़ाकर और लक्ष्य निर्धारित करते हुए ऐसा खींचकर मारा कि एक ही प्रहार से 'मिथ्यात्व' नामक युद्धवीर अपने सहायक वीरों के साथ रणक्षेत्र में ही काम आगया, याने मृत्यु को प्राप्त हो गया।

सर्व प्रथम ही प्रभावशाली विजय के प्राप्त होते ही चैतन्य देव की सेना में जय-विजय के नगारे बजने लगे। मिथ्यात्व प्रधान मत्री के रण क्षेत्र में इस प्रकार काम आने के समाचार सुनते ही मोह राजा तो हतप्रतिभा हो गये और बलवान् मन्त्री के वियोग से अत्यन्त दुःखी हुए। तब 'अव्रतराय' नामक प्रधान

उप सेनापति नम्रतापूर्वक अपने स्वामी मोह देव से बोला कि 'हे नाथ ! चिन्ता न कीजियेगा, अभी मैं अपने प्रधानजी की मृत्यु का बदला ले लेता हू। अनादि काल से धक्के खाने वाला चैतन्य मेरे सामने क्या वस्तु है ? इतना कहकर और मोह देव को आश्वासन देकर, वहाँ से अपने बारह 'अव्रत' नामक सामन्त वीरों को साथ में लेकर युद्ध स्थलो में आ उपस्थित हुआ। चैतन्य देव को सामने देखते ही बोल उठा-अरे ! चैतन्य ! तेरे ऐसे ढोंगों को और दंभ-पाखण्डो को मैंने अनेक बार नेस्त नाबूद किये हैं, फिर भी तू सामना करते हुए शर्मिंदा नहीं होता है। क्या तुझे ऐसा कार्य करते हुए लज्जा का अनुभव नही होता है ? तो फिर आ जा, अपनी करतूतों के फल चखले।'

उसी समय सुहृद् 'विवेक चन्द्र' बोल उठे कि " अहो ! महाराज चैतन्य देव ! इस अव्रतराय को सदल बल जीतने के लिये अपने रण कुशल और उद्भट योद्धा 'श्री सर्वव्रतराय' सर्वथा समर्थ हैं। वे अपने आज्ञानुवर्ती अनुचरों के साथ इस व्यर्थाभिमानी अव्रतराय को क्षणभर में ही धराशायी कर देंगे। और संयम महल को सदैव के लिये निर्विघ्न एवं निरापद बना देंगे। "फिर क्या था ? आज्ञा प्राप्त करते ही श्री सर्वव्रतराय ने वैराग्य रूप बाणों की अविरल वृष्टि प्रतिपक्षी शत्रुओं पर करते हुए अन्तर्मुहूर्त में ही उन्हे काल धर्म प्राप्त करा दिया। चैतन्य देव के सैन्य शिविर में जय विजय की तुरहियाँ बजने लगी, और मोह राजा की सेना में घोर निराशा की निशि परिव्याप्त हो गई। शत्रुओं का हृदय रह रह कर कल्पना करने लगा कि अब विजय प्राप्त होना अत्यंत कठिन है। इसी समय सामन्त श्रेष्ठ श्री प्रमादसिंहजी ने वीरता पूर्वक हँसते हुए कहा कि "ऐसे आडम्बर तो चैतन्य ने अनेक बार किये हैं, मैं इतना शक्तिशाली हू कि पूर्वधारी मुनियों तक को मैंने नरकगामी बना दिये हैं, तो फिर इस दीन हीन चैतन्य की तो बात ही क्या है ? जैसे हवा के झौंके से बादल तितर बितर हो जाया करते हैं, वैसे ही अभी मैं चैतन्य की सेना को भी अस्त-व्यस्त कर देता हूँ।'

इतना निवेदन करके और मोह राजा का आशीर्वाद प्राप्त कर के सामन्त श्रेष्ठ श्री प्रमादसिंहजी भी अपने सहचर और विश्वस्त पाँचों साथियों को एवं अनुचर सुभटों को साथ में लेकर चैतन्य की वीर-वाहिनी के सम्मुख उपस्थित होकर गर्जना करने लगे कि—"आओ ! मेरे साथ युद्ध करो, अब मेरे सामने से भाग कर कहाँ जाओगे ? मैं तुम सभी का घमंड अभी चूर चूर किये देता हूँ।"

इतना सुनते ही चैतन्य देव की ओर से रणविद्याविशारद श्री उपशमराव तुरन्त ही अपने पाँचों अप्रमाद नामक साथियों और वीर-सेवकों को साथ में लेकर शत्रुओं से भिड़ पड़े। 'भाव-मन' रूपी तोप के द्वारा 'परिणाम रूप' और 'शुभ विचार रूप' गोलियों की घनघोर वर्षा करते हुए अल्प काल में ही श्री उपशमराव ने प्रमादराय को उसके सहचारियों के साथ वहा पर वीर-गति प्राप्त करादी। चैतन्य देव हर्षित होकर 'ध्यान' रूप आनन्द में मग्न हो गये।

कामदेव की रण कुशलता

मोह राजा तो प्रमादराय की मृत्यु के दुःखद समाचार सुनते ही बेहोश हो गया। कुछ समय के अनन्तर पुनः होश आने पर मोह राजा का पुत्र 'कामदेव' सेवा में उपस्थित होकर विनय पूर्वक बोला कि-"अहो ! पूज्य पिताश्री जी ! आपके मेरे जैसे पराक्रमशाली पुत्र के होते हुए आपश्री इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ? अभी क्षणभर में ही-बात की बातमें ही मैं चैतन्य देवको अधिकार में किये देता हूँ।" राजकुमार की बात सुनते ही तीनों "वेद" रूप महाशक्तिशाली पुरुष खड़े होकर कहने लगे कि हे महाराज ! हम राजकुमार की सहायता के लिये जाने को तैयार हैं, हम चैतन्य देव के गर्व को क्षण भर में खर्व कर देंगे।"

तब अश्व-सेना के सेनापति श्री क्रोधरायजी खडे होकर तमतमाते हुए बोले कि—'अपनी माता का दूध पचाने वाला ऐसा कौन है ? जो कि मेरे सामने खड़ा रह सके। राग, द्वेष, कलह, विवाद, बकवाद, कुत्सित वाद, आदि मेरे साथी वीर एक से एक बढकर हैं। ऐसे वीर सिंहों के सामने कौन टिक सकता है !" इसके बाद गज-सेना के अध्यक्ष श्री अभिमानसिंह बोले कि-'मैंने चैतन्य देव को अनेक बार दीन हीन बनाया है, मेरी वीर श्रेणी में अविनय, मान, मद, दर्प, गर्व, आदि उत्कट वीर पुरुष विद्यमान हैं, और इनके पराक्रम के आगे हमारा शत्रु हतवीर्य हो जायगा। इतना सुनते ही रथ-सेना के स्वामी श्री कपट प्रसादजी भी कहने लगेकि—मैंने चैतन्य देव को अनेक बार कायर बना करके स्त्री-वेश धारण कराया है। लहगे, साड़ी और चूड़ियाँ आदि पहिना कर उसे निर्वीय किया है तो क्या मैं उसे इस समय यों ही छोड़ दूंगा ? कदापि नहीं। मेरी वीरता-प्रवर्तिनी सेना में माया, उपाधि, कूट, वचना, छल प्रपंच व्यंग, धोखा आदि एक से एक बढकर रणकुशल शूरवीर मौजूद हैं, मेरे इन बहादुरों की करामात विश्व विख्यात है।'

इस प्रकार युद्ध-मन्त्रणा होने के पश्चात्'कामदेव' उपरोक्त तीनों कुशल वीरों-और अन्य सहायक सैनिकों के साथ सुशोभित होता हुआ एवं 'अनुराग, रति आसक्ति, आदि अपने युद्ध बाजों को बजाते हुए रण-क्षेत्र में आ उपस्थित हुए। तत्काल ही चैतन्य देव को सामने देखते ही उनपर 'विषय-राग' रूप तीक्ष्ण, विषमिश्रित कटाक्षमय बाणों की घनघोर एवं अविरल वर्षा करना प्रारंभ कर दी। क्रोध-सेनापति जाज्वल्यमान अग्निबाण छोड़ने लगे। अभिमान-सेनापति ने स्तमन विद्या का प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया। माया-सेना पति ने गुप्त और परोक्षरीति से क्षति पहुँचाने की प्रवृत्ति चालू कर दी। इस प्रकार प्रलयंकारी विनाश की स्थिति उत्पन्न कर दी। जीत का पलड़ा पराजय के रूप में परिवर्तित होते देख कर महामति विवेक महानु-भाव महामहिम श्री चैतन्य देव से धीरता, वीरता और शान्ति के साथ बोले कि ' आप घबराइयेगा नहीं, शान्ति की ढाल को सामने कर दीजियेगा, और अपनी व्यूह रचना इस प्रकार कीजियेगा कि-कामदेव के सामने निर्वेदराय को, क्रोध के सामने क्षमाचन्द्रजी को, मानदेव के सामने मार्दवसिंहजी को, और कपट राज के सामने आर्जव प्रसादजी को खड़े कर दीजियेगा। ये सभी रण-विद्या विशारद हैं, अत हमारे इन दुर्दमनीय शत्रुओं का ये क्षण भर में ही नाश कर देंगे।" इस प्रकार की व्यूह रचना का सनिश्चय करके उक्त सेनापतियों को तदनुसार प्रवृत्ति करने का आदेश दिया। आदेश प्राप्त करते ही सभी सेनापति अपनी २ सेना के साथ 'अठारह हजार शीलांग' नामक अजेय रथ पर आरूढ होकर 'सात्विक विचार-धारा' रूप झनकारों की झनझनाहट करते हुए शत्रुओं के सम्मुख निडर होकर प्रफुल्ल मन के साथ आ उपस्थित हुए। 'नववाड़ रूपी अभेद्य संरक्षक व्यूह का निर्माण करते हुए वैराग्य बाणों की मेघधारा के समान लक्ष्य भेदी वृष्टि करने लगे। परिणाम यह हुआ कि काम देव तत्काल ही मृत्यु के शरणागत हो गये। इसी प्रकार क्षमा चन्द्र द्वारा क्रोधराज, मार्दवसिंह द्वारा मानदेव और आर्जव प्रसाद द्वारा कपट राज कालगति को प्राप्त हुए। कामदेव के मृत्यु प्राप्त करते ही "तीनों वेद- पुरुष, स्त्री-नपुंसक" नामक लड़ाकों का तो इस प्रकार अस्तित्व ही नष्ट हो गया जैसा कि गधों के सिर पर से सींगों का अस्तित्व ही नष्ट है। इस अभूत पूर्व विजय से चैतन्य देव की सेना में जय विजय के गगन भेदी नारे लगाये जाने लगे। चैतन्य महाराज अपनी असा-धारण महत्ता का परम आनन्द अनुभव करते हुए निर्विषयी शान्ति और सरलता की प्रतिमूर्ति से हो गये।

लोभराय रण क्षेत्र की ओर

जब युद्ध के समाचार मोह राजा को प्राप्त हुए और उसने जाना कि 'मेरा प्यारा पुत्र और तीनों दुर्जेय वलिष्ठ वीर-शिरोमणि भी युद्ध में ही काम आगये' तो वह अचानक ही मूर्च्छाग्रस्त होगया। होश आने पर हाय ! हाय !! और त्राहि त्राहि करने लगा। कुछ समय के बाद मोह राजा लाल लाल आँखें करके

क्रोध पूर्वक बोलने लगा कि-'अब मैं खुद ही रण मे जाकर और चैतन्य देव का सामना करके उसे मृत्यु का आलिंगन कराऊगा ।' उस समय समीप में बैठे हुए श्री लोभराय बोले कि 'आप जैसे महा प्रतापी और महा पराक्रमी महाराजा को चैतन्य जैसे साधारण बालक से युद्ध करने के लिये जाना उचित प्रतीत नहा होगा, अतएव मैंने एक योजना सोची है कि-चैतन्य को अपना 'उपशम मोह' नामक गढ देने का लोभ देकर उस उस में प्रविष्ट करा दगे। जब वह उसमें जम जायगा, तब अपने जो गुप्तचर सैनिक उस गढ म रह रहे हैं, वे शनै शनै सूक्ष्म युक्ति से चैतन्य की सेना का सवथा क्षय कर देंगे। ऐसी स्थिति को उप-स्थिति होते ही चैतन्य अपने आप ही अपने अधिकार में आ जायगा।' यह सम्मति मोह राजा को बहुत हो अनुकूल प्रतीत हुई। अत मे सोच विचार कर मोह राजा ने लोभ चन्द्र को वैसा ही करने की आज्ञा प्रदान का।

बड़ी २ आशाओं के साथ उत्साह पूर्वक लोभ चन्द्र ने भी 'हास्य,रति, अरति, भय,शोक, दुगुच्छा आदि सैनिकों के साथ सुसज्जित होकर युद्ध क्षेत्र की ओर प्रस्थान किया।

चैतन्य देव के शिविर की यह स्थिति है कि 'धर्म-स्थान' नामक परिषद्-गृह में अपने सभी मांडलिक राजाओं, सामन्तों और वीर सेनापतियों को एकत्र कर चैतन्य देव के सभापतित्व मे प्रधान नायक श्री विवेक चन्द्र सब को सबोधित करत हुए कहने लगे —'प्रिय सज्जनो ! अपना अधिकाश कार्य सानन्द विजय के साथ परिपूर्ण हो गया है और जो कुछ शेष रहा है, वह भी थोड़े ही समय में परिपूर्ण हो जायगा, ऐसा पूण विश्वास है। परन्तु गुप्तचरों द्वारा विदित हुआ है कि '"उपशम कषाय" नामक गढ़ में मोह राजा ने अनेक गुप्तचरों को नियुक्ति कर रखी है। अतएव सावधानी की आवश्यकता है कि कहीं लोभ वश हम पतित नहीं हो जाँय। उस गढ़ में हमें किसी भी दशा में प्रवेश नहीं करना चाहिये। मार्ग में आने वाले सभी प्रकार के उपसर्गों को और परीषहों को शान्ति पूर्वक सहन करते हुए केवल 'क्षीण कषाय" नामक गढ़ में ही हमें प्रवेश करना है। इस रीति से ही हम मोह राजा का समूल नाश याने आत्यतिक क्षय कर सकेंगे यही हमारा अ तिम लक्ष्य है। और इसी में हमारी परिपूर्ण एव निर्विघ्न विजय रही हुई है।

प्रधान नायक के इस सुमधुर और सुललित भाषण से सभी अत्यत प्रसन्न हुए और सर्वानुमति से इस एक ही लक्ष्य से सहमत होते हुए सभी धीर वीर रण-सज्जा से सन्नद्ध होकर "क्षीण मोह" नामक दुर्जेय गढ़ को जीतने के लिये उस ओर चल पड़े।

थोडी ही दूर गये होंगे कि मार्ग में लोभचन्द्र महोदय से समागम हो गया। चैतन्य देव की सेना को 'क्षीण-मोह' नामक गढ की ओर बढते हुए देखकर लोभचन्द्र बोल उठे—'हे भाइयो ! इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हो? हमारा राजा तो आप के आगे हार चुका है, अब तो हम भी आप के ही शरण में आ पड़े हैं, अतएव हमसे लड़ने की अथवा डरने की कोई बात नहीं है। लो देखो ! सामने ही हमारा सुविख्यात 'उपशम-कषाय' नामक गढ दिखाई दे रहा है, इसी पर अपना अधिकार करके इसमें आनन्द पूर्वक राज्य कीजियेगा। मोह राजा तो हताश होकर हतवीर्य हो जाने के कारण दीन हीन अवस्था में ही चुपचाप बैठ जाने वाले हैं। वे अब तुमसे किसी भी प्रकार का लडाई झगड़ा नहीं करेंगे।"

चैतन्य देव की सेना उपरोक्त, लोभचन्द्र के भाषण सबधी घटने वाली घटना से पूरी तरह से परिचित ही थी, अत लोभचन्द्र के 'विषकुम्भ पयोमुखम्' के समान मधुर, परन्तु परिणाम में घातक वचनों से कोई भी ललचाये नहा, और ध्येयकी ओर आगे ही बढ़ना चालू रक्खा। लोभचन्द्र अपनी बात की अवहेलना होते देखकर असहिष्णुता से उत्तेजित होकर कर्कश शब्दोंमें बोल उठा 'अरे दुष्टो ! मेरे बधु-बांधवों को मारकर कहाँ चले जा रहे हो। ठहरो !! अब मैं तुमको छोड़ने वाला नहीं हूँ। इतना कह कर चैतन्य की

सेना पर 'इच्छा, तृष्णा, मूर्च्छा, आकांक्षा, गृद्धता, आशा आदि नामक विविध बाणों की घनघोर और अन्धाधुन्ध वर्षा करने लगे। लोभचन्द्र के इस प्रकार के तीक्ष्ण प्रहारो को देखते ही तत्क्षण चैतन्य देव ने 'क्षायिक-पारिणामिक-धारा' रूप बाणों की प्रतिपक्षी पर अचूक दृष्टि के साथ मर्म भेदी वर्षा करनी प्रारम्भ की। फिर क्या देर थी ? थोड़ी ही देर में लोभचन्द्र भी अपने अनुयायी सैनिको के साथ ही नरकगति का पथिक बन गया। इस प्रकार मोह राजा की सभी प्रकार की फौज समाप्त हो गई। तत्तपश्चात् चैतन्य देव ने निश्चिन्त होकर एव निरापद होकर 'क्षीणकषाय' नामक गढ़ में अपने दल-बल सहित जयविजय के नारों के साथ प्रवेश किया।

मोह राजा का अंतिम युद्ध

जब यह समाचार मोह राजा को विदित हुआ कि-लोभचन्द्र तो सपरिवार रण-क्षेत्र में ही काम आगया है। और चैतन्य देव ने 'क्षीण-कषाय' नामक अजेय और अभेद्य गढपर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया है, तो उसके सारे अगोपाग सन्न हो गये, अब उसे जीतने की आशा तो दूर रही, परन्तु अपनी इज्जत और जान की रक्षा करना भी दूभर मालूम पड़ने लगी। फिर भी अपने स्वभाव अनुसार अहकार का प्रदर्शन करते हुए खुद ही चैतन्य देव का पराजित करने के लिये, और इनसे युद्ध करने के लिय कटिबद्ध हुआ। तब 'ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, और अन्तराय' नामक शेष बचे हुए साथियों को एव अन्य अवशिष्ट सेना एकत्र करके चैतन्यदेव से अंतिम युद्ध करने के लिये युद्ध-स्थल की ओर चल पडा।

जब चैतन्य देव को स्वय मोह राजा के युद्ध के लिये आगमन की बात मालूम पडी, तो उन्होंने 'क्षायिक सम्यक्त्व, एवं क्षायिक यथाख्यात चरित्र' नामक अजेय और महान् पराक्रम-शाली अद्वितीय रण योद्धाओं के साथ 'करणसत्य, भावसत्य, योगसत्य' नाम अभेद्य कवच धारण करके और वीतराग मय अकषाय शील' शस्त्र लेकर 'सपूर्ण संवुड़ता याने सवर' नामक व्यवस्था से निश्चित होकर, 'सपूर्ण भाव-शीलता' नामक मद से मस्त होकर, महाज्ञान नामक वाद्य-यत्रोंकी झनकार मे सेनाकी शोभा मे वृद्धि कराते हुए, महाध्यान नामक पताका फरकाते हुए, महा तप-तेज से प्रदीप्त होते हुए, 'अमोह और अविकार' का दृढता को धारण करते हुए, 'अप्रतिपाती-अवस्था' से सुशोभित होते हुए, क्षायिक श्रेणी' नामक युद्ध-क्षेत्रमें अपने विश्वस्त सहायकों और आज्ञानुवर्ती अनुचरों के साथ अंतिम युद्ध करने के लिये आ उपस्थित हुए।

चैतन्य देव को इस प्रकार सुसज्जित और युद्ध-सन्नद्ध सामने ही खडे देखकर मोह राजा अपने स्व-
भाव-अनुसार मद-अहकार से मस्त होता हुआ बोला कि 'रे चैतन्य ! मेरी परम कृपामे ही तू मेरे घरमें बड़ा
हुआ, अनत समय तक तूने मेरी सेवा की, अरे ! नमक-हराम ! अब मुझसे ही लड़ने के लिये तैयार हुआ,
तुझे जो यह ऋद्धि प्राप्त हुई है, वह सब मेरा ही पुण्य प्रताप है, ऐसी ऐसी ऋद्धि तुझे पहले भी अनेकबार
मिल चुकी है, तूने भूतकाल में अनेक बार सामना किया है, और प्रत्येक बार मैंने तुझे पराजित किया है,
इस प्रकार अनत-प्रसगों पर तू ने बुरी तरह से मुँह की खाई है। अनतबार विविध रीति से हानि उठाने पर
भी तुझे लज्जा का अनुभव नहीं होता ? भूतकाल के अनुभव को भूलकर बार बार मेरा सामना करता है।
कुछ लिहाज करते हुए, थोडी बहुत तो लज्जा रख।'

चैतन्य देव ने शाति-पूर्वक गंभीर वचनो के साथ उत्तर देना प्रारम्भ किया कि—'हे नाच प्रकृति
वाले मोह राजन् ! तुमने अनत बार मेरी मान-हानि की है, तुमने मुझे अनेक प्रसगो पर लज्जित किया है।
इस प्रकार मेरी दुर्दशा करने वाले तुमको मैंने भली भांति पहचान लिया है। इस कारण से तुम्हारी परि-
स्थिति का मुझे सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो गया है और यही कारण है कि जिससे मैंने तुम्हारे मरण

परिवार का नाश कर डाला है। अब मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ और यदि तुम भी मरण श्रेणी का आलिंगन करना चाहते हो, और अपने परिवार का सर्व भाँति से नाश देखकर तुम भी नाम शेष होना चाहते हो, तो आओ, परस्पर युद्ध करके इस समस्या को भी हल कर लें। इतना कहते ही चैतन्य देव ने मोह के मस्तक पर 'क्षायिक विचार धारा' नामक तीक्ष्ण तलवार का अचूक प्रहार किया। प्रहार की चोट ठीक लक्ष्यभेदी सिद्ध हुई और मोह राजा देखते ही देखते प्राणों से हाथ धो बैठे। उसी समय मोह राजा के प्राणान्त होते ही 'ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और 'अन्तराय' नामक मोह के सामन्त वीर भयभीत होकर तत्काल उसी स्थान पर ही काल-कवलित हो गये। शेष बचे हुए 'नाम कर्म, गोत्र कर्म, वेदनीय कर्म, और आयु कर्म' नामक सैनिक चैतन्य देव के शरणागत होकर एवं पैरों में पड़कर निवेदन करने लगे कि— हे महामहिम हे! जगत् वंद्य! हे अनन्त स्वरूप चैतन्य देव! आज से हम आपके शरण में आये हैं, और आपके ही आज्ञानुवर्ती होकर आपके चरण कमलों में रहना चाहते हैं, जिस क्षण आप जैसी आज्ञा प्रदान करेंगे।' उसी क्षण बिना ननुनच किये उसका अक्षरशः पालन करेंगे।' चैतन्य देव ने उन्हें निबल, अनाथ, अशरण और शक्ति हीन जानकर अपनी सेवा में भक्ति पूर्वक रहने की आज्ञा प्रदान कर दी।

चैतन्य देव की विजय

इस प्रकार चैतन्य देव की 'सर्व ऐश्वर्य सम्पन्नता' नामक अखंड और अचल विजय के प्राप्त होते ही अनेक देवी-देवता आकाश में उपस्थित होकर जय जय की दिव्य ध्वनि उच्चारण करने लगे। श्रेष्ठ द्रव्य की वृष्टि करने लगे, और देव दुन्दुभी बजाने लगे। चैतन्य देव को 'केवल ज्ञान और केवल दर्शन' नामक अक्षय महाऋद्धि की प्राप्ति हुई। तीनों लोक में चैतन्य देव की आज्ञा मानी जाने लगी, और ये 'त्रिलोक वंद्य' 'त्रिलोक-पूज्य' जैसी महत्ता को धारण करने वाले बने।

विवेक मंत्रीश्वर की सम्मति से चैतन्य महाराज का सभी प्रकार का कार्य निर्विघ्नता के साथ और पूर्ण यश के साथ सपन्न हुआ एवं परिपूर्ण हुआ। तत्पश्चात् युवक सम्राट महाराजाधिराज श्री चैतन्य देव आनंद पूर्वक अपने आध्यात्मिक-शक्तियाँ रूप परिवार के साथ संयमरूप महल में परमानंद का अनुभव करते हुए निवास करने लगे।

एक दिन विवेक मंत्रीश्वर अपने महाराजा की सभा में उपस्थित होकर निवेदन करने लगे कि "हे महाराज! आपके जय-विजय से और आपकी सिद्धि से मैं अत्यंत ही प्रसन्न हूं। आप अब सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये हैं, अतः मैं आपकी सेवा में अब किसी भी प्रकार की सम्मति प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। फिर भी एक अन्तर सम्मति है कि इस समय तक भी आपके चार शत्रु शेष रह गये हैं, अतः उनके लिये भी कुछ विचार करना अति आवश्यक है।"

महाराज ने उत्तर प्रदान किया कि 'इस संबंध में विशेष विचारणीय जैसा कुछ नहीं है, वे दीन, हीन और निर्बल हैं। वे मेरे आज्ञानुवर्ती हैं, वे ऐसा ही कार्य किया करते हैं जिनसे कि विश्व का हित-साधन हो। मुझे उनसे कोई हानि नहीं हो रही है। 'आयुष्य, नाम, गोत्र, और वेदनीय' ये चारों शरणागत विरोधी केवल 'आयुष्य' के बल पर टिके हुए हैं। बेचारे आयुष्य का ह्रास तो स्वभावतः प्रत्येक क्षण हो ही रहा है। इसके सर्वथा क्षीण होते ही शेष तीन भी स्वभावतः अपने आप ही नष्ट हो जायँगे। तत्पश्चात् मैं अनन्तानंतकाल के लिये अक्षय, अमर, शाश्वत, नित्य, निराबाध, स्थिति को प्राप्त होता हुआ निरंजन एवं निराकार अवस्था को धारण करता हुआ परमपद मोक्षरूप शिवपुर में अपने जन्म मरण रहित अनुपमेय आसन की स्थापना करके परम सुख का भोक्ता होता हुआ सभी प्रकार से कृतकृत्य हो जाऊँगा।'



—: शुद्धि-पत्र :—

ग्रन्थ का स्वाध्याय करने से पहले निम्न लिखित त्रुटियों को शुद्ध कर लें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	७	कलह० ।	कलहाचित्तभ्रमोद्-भ्रान्तयः ।
„	६	मूर्च्छादिभिः	मूर्च्छादीनि
१०	२०	अवन्था	अवस्था
१३	३	इन द्वारा	इनके द्वारा
१४	२७	हजारों	लगभग ७० हजार
„	„	। कच०	। ४ कचकड़े
„	३४	इस प्र०	ऐसी खबरें बहुधा अखबारों में प्रकाशित हुई हैं ।
१५	२६	बना कर	बताकर
२२	१३	कायों	कार्यों
„	२६	आग्ता	आस्था
२५	१४	अनुरुप	अनुरूप
२६	८	यद	यह
„	„	विविक्ता	विवक्ता
„	१४	विफलता	विकलता
३१	११	लीभ	लोभ
३२	२	प्रत्यहार	प्रत्याहार
„	१२	ही	हो
„	१७	अनमोज्ञ	अमनोज्ञ
३४	५	बाह्य	बाह्य
३६	५	निरावलम्बन	निरवलम्बन
„	८	बह्यि	बाह्य
„	१०	निरा०	निर०
३७	३	धर्म ध्यान	शुभ ध्यान
„	१३	चउप्पडायारे	चउप्पडोयारे
„	„	पएणाते	पएणत्ते
३८	२४	तज्ञाः ॥	तज्ज्ञाः ॥
„	२७	ओर	और
३९	१६	व्याख्या०	विवाह
४०	३	काए,	य काए,
„	१७	सूर्य चन्द्र	सूर्य, चन्द्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०	३१	अपक ाय	अप्काय
४२	१४	व्रत	व्रत
„	१६	„	„
४४	२७	संसार	संवर
४५	२४	कर्मक्षेत्रभूमि	कर्म भूमि
४६	१५	वद्यः	वधः
४६	१६	तूं	तुम
४७	१०	उपभुक्ते	उपभुक्त
„	„	विषयास्तु	विषया
„	१९	बीमारियों	बीमारियों
„	२५	०नेन इह,	०नेन,
„	२६	कर्त्तव्यो०	कर्त्तव्यः मुमुमुक्षुभिः ॥
५२	१७	दुष्सयोगों	दुःसंयोगों
„	„	सुसंगठित	सुगठित
„	१८	दुष्सगंठित	कुगठित
„	१९	द्वेप	द्वेष
५३	१२	०ह्रास०	ह्रास०
„	१३	०पममि०	०पमममि०
५५	६	हड्डी के	काष्ठ के
„	११	काष्ठ	बेंत के
५७	१७	कपाय	कषाय
७८	१७	(८८)	(८९)
८३	१०	युवास्था	युवावस्था
८४	२	मूढ़	छोड़ (मूढ़)
८६	२१	स्वाति	सादि
„	३२	„	„
८७	३८	अनुसार इ० इ०	
९१	८	(७)	(८)
„	९	(८)	(७)
„	१५	नाता	ज्ञाता
९४	१४	तथा तथ्य,	यथातथ्य
९८	३२	तिर्य०	देवों की ४ लाख तिर्य०

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०३	१६	रुप	रूप
११६	२३	आ सके	न आ सकें
११७	१७	सातों	आठों
"	"	आठ-आठ	सात-सात
"	३२	कप्प	खेल (कफ)
११६	४	सुपर्ण	सुवर्ण
१२७	३	निर्मुक्त	विमुक्त
१२८	२३	त्याने	त्यागने
१३०	६	पुण्यफल	पुष्प-फल
१४५	१८	चाणर	चरण
१४६	३४	द्वि।	द्वि० श्रुतस्कंध।
१५२	२३	केयली	केवली
१६२	१८	लोहा चुम्बक	चुम्बक लोहे




मुद्रक—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
चौमुखीपुल, रतलाम.

अमोल-प्रकाशन

—: तात्त्विक ग्रन्थ :—

१ जैनतत्त्वप्रकाश
२ परमात्ममार्गदर्शन
३ ध्यान कल्पतरु
४ धर्म तत्त्व संग्रह
५ सद्धर्म बोध
६ जैनतत्त्वज्ञानदिग्दर्शन
७ आत्मविजय
८ पच्चीसबोल का थोकड़ा
९ लघुदण्डक का थोकड़ा
१० श्री अमोलक जैन बोलमाला

—: सूत्र ग्रन्थ :—

११ सार्थ आवश्यक सूत्र
१२ अंतगड सूत्र (मूल)
१३ आगम सुधा
१४ शास्त्रस्वाध्याय

—: सूक्ति ग्रन्थ :—

१५ जैनागम सूक्ति सुधा
१६ अमोल सूक्ति रत्नाकर

—: कविता-ग्रन्थ :—

१७ अमूल्य प्रभात
१८ अमोल-कहानी
१९ बृहदालोयणा
२० सदास्मरण
२१ अमृत भजनमंजरी
२२ अमृत सुबोध शतक
२३ अमृत कविता कुंज
२४ जिन गुण-गीतिका

—: चरित्र ग्रन्थ :—

२५ अमृत चरित्रोद्यान
२६ मदन श्रेष्ठी चरित्र
२७ शान्तिनाथ चरित्र
२८ प्रद्युम्नकुमार चरित्र
२९ वीरसेन कुसुम श्री चरित्र
३० जिनदास सुगुणी चरित्र
३१ धन्ना शालिभद्र चरित्र
३२ भीमसेन हरिसेन चरित्र
३३ हरिवंश चरित्र
३४ वीरांगद सुमित्र चरित्र
३५ मृगांकलेखा चरित्र

कथा-साहित्य

१ ज्ञानाराधना
२ प्रद्युम्न कुमार
३ धर्मवीर जिनदास
४ अभय कुमार
५ मल्ली जिन
६ जिन सुन्दरी
७ महासती चेलना
८ धन्ना शालिभद्र
९ महिला जीवन मणिमाला (भाग १६)

उपर्युक्त पुस्तकें निम्नलिखित पते पर मिलेगी —

श्री अमोल जैन ज्ञानालय

गली नं० २, धूलिया (प. खा.)